ओ३म्

आर्य्यसिद्धान्त ॥

प्रथम भाग

आर्य्यसिद्धान्त नामक मासिकपत्र जो

पं० भीमसेन शर्म्मा द्वारा सम्पादित होता है प्रथमवार

का छपा चुक जाने से द्वितीयवार

सरस्वतीयन्त्रालय-इटावा में

तुलसीरामस्वामी के प्रबन्ध से छपा

६ । ५ । १८९६ ई०

द्वितीयवार ५००

मूल्य ॥।)

विषयसूची ॥

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥

भाग १ | आषाढ संवत् १९४४ | अङ्क १

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ॥

उस परब्रह्मपरमात्मा को शतशः धन्यवाद देना चाहिये कि जो सर्वान्तर्यामी हो कर चेतन मात्र को विविधप्रकार के कर्मों की प्रेरणा दे रहा है शुभाशुभकर्मों का परिणाम दर्शा रहा है अखण्डभूमण्डल में अनिमित्त प्रतीत होते हुए कर्मों को सनिमित्त प्रतीत करा रहा है अपनी परमकरुणा से मनुष्यमात्र को धर्म की चाहना दिला रहा है जिस धर्म की चाहना से इस भारतवर्ष के देश २ और ग्राम २ में अनेकानेक सभायें वा गोष्ठी हो रहीं हैं सर्वजन इस अपूर्व धन की चाहना कर रहे हैं ॥

प्राचीन समय में जिस की भक्ति विशेष से आर्यकुलोत्पन्नऋषि महर्षि मुनि महामुनिजनोंने भी नानाप्रकार की गोष्ठी वा सभायें नियत कर धर्म के तत्त्व को ढूंढा इस असार संसार में धर्म को सार जाना धर्म के अनुकूल मनुष्यमात्र कर्त्तव्याकर्त्तव्य कर्मों का मार्ग दर्शाया सन्मार्ग की इच्छा करने वाले पुरुषों को विविध ज्ञान और गुण परिपूरित वेद का मार्ग दर्शाया सकण्टक दुर्गम अज्ञान कुपथ से सर्वथा बचाया ॥

धन्य उस परमात्मा को है कि जो अब भी उसी प्रकार विज्ञ महात्माजनों को प्रकट कर अज्ञानियों के अज्ञानों को नष्ट कराता प्रमत्तमतवादियों के नाना मतों से सज्जनों को बचाता वेद की ओट में महात्मापने में घटाटोप हो कर अपनी प्रबलतर वंचना से साधारण लोगों को असाधारण जाल में फसाने वाले जालियों के जाल को छिन्नभिन्न कराता वह अपनी सर्वान्तर्यामिता से सब अंशों

में सत्यासत्य सभी को दर्शा देता है देखिये सत्काम करने वालों का हृदय कार्य के परिणाम को विचार कर अवश्य प्रसन्न होता और असत्काम करने वालों का हृदय कार्य करने के पूर्व ही कंपता है यदि वह अपने कर्त्तव्य को नहीं छोड़ते तो भी ईश्वर उन के कर्त्तव्य में अपनी ईश्वरता को प्रकट करही देता है क्योंकि यह भगवद्गीता का वाक्य है:—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

इस स्थान पर हम उदाहरण के लिये प्राचीनमतोदासी काशी निवासी पण्डितों का लेख 'महामोहविद्रावण, नाम से जो हमारे पास श्री १०८ स्वामि-दयानन्दसरस्वती जी महाराज के निन्दापक्ष में आया है उस की समीक्षा करते हैं ॥

लेख महामोहविद्रावण का ॥

श्री काशीविश्वेश्वरो विजयते

भूमिका

"अथैकदा पवित्रतमायां सुलभसुभगगाङ्गप्रवाहायां वाराणस्यां विज्ञैरज्ञैः सर्वैरपि धर्मध्वजिशिरोमणिः पुण्यजनप्रवरइति समधिगतः पङ्कबहुलाल्पजलात्पल्वलात् सद्यः समुत्थितः सर्वाङ्गीणपङ्कलेपेन स्तब्धरोमेव स्थूलकायो धर्मपुस्तकमूलमुल्लुनानः काश्यादिपुण्यतीर्थभुवो दारयन्निव कश्चिद्भिक्षुवेषो देवनिन्दाघोरशब्दघुरघुरायितमुखः कलङ्कयन्निव स्ववेषं, प्लावयन्निवाज्ञानाम्भसि जगदशेषं, सञ्जनयन्निव सताञ्चेतसः क्लेशं, वञ्चयन्निव स्वदेशं वस्तुतः स्वात्मानमेव वञ्चयन् कलुषयंश्च समुपागमत्"

अर्थ—श्रीयुत काशीविश्वेश्वर विजय को प्राप्त होता है ।

आगे अभिप्राय यह है कि एक संन्यासवेषधारी भिखारी प्रबलराक्षसकर्मकारी सूकरधर्माधिकारी (दयानन्द) सुअर के तुल्य घुरघुराता देवता तीर्थ और धर्मपुस्तक का खण्डन करता हुआ बनारस में आया ॥

प्रियपाठकगणो ! महात्माओं की निन्दा करना तो काशीस्थ विद्वानों की सभ्यता है परन्तु ईश्वर की ईश्वरता निराली है देखिये उक्त काशीस्थ विद्वानों के आशय से भी श्रीमद्दयानन्दसरस्वती जी की प्रशंसा निकलती है वह पद ... दर्शाता हूं तथा काशीनिवासी विद्वानों की कुछ अल्पज्ञता भी प्रकट करता हूं ॥

"श्रीकाशीविश्वेश्वरो विजयते" अत्र समासासंगतिः समर्थः पदविधिरनेन सूत्रेण समर्थानां पदानां वाक्ये योजना भवति न त्वसमर्थानाम् । ते त्वसमर्थानपि समर्थान् कुर्वन्ति पाणिनेरपि शिक्षका भवितुमिच्छन्ति कथमसमर्थतेति श्रोतव्यम्—श्रीयुतः काशीविश्वेश्वरस्तत्र काशी विश्वान्तर्वर्तिनी ततो भिन्ना वा ? यदि विश्वान्तर्वर्तिनी तर्हि विश्वेश्वर इत्युक्त्यैव काशीनिरूपितेपीश्वरत्वे सिद्धे काशीपदोपादानं निष्प्रयोजनम् । अथ काश्यां विश्वेश्वरः काशीविश्वेश्वर इति सप्तमी समासोऽभीष्टस्तत्रापि सप्तमीशौण्डैरिति शौण्डादिषु विश्वेश्वरशब्दपाठाभावात् समासो न सहसुपेति समासश्चेतन्न सतु यथादृष्टशिष्टप्रयोगायैव क्वचित् न सार्वत्रिकः । अथ काश्या विश्वस्य च ईश्वर इति षष्ठीसमासं ब्रूपे विश्वतो भिन्नां च मन्यसे चेत्तदपि न विश्वेश्वरस्य काशीमात्रस्थितेरयोग्यत्वात् यः सर्वेश्वरः स सर्वव्यापी सर्वत्र च वर्त्तत एव । अतोऽन्यनगरनाम्नाऽपि विश्वेश्वर इति लिखितुमयोग्यम् । तस्याः काश्या विश्वतो भिन्नत्वं कथमपि न प्रमाणमतः सर्वथाऽनर्थकः समासः । यत्तु काशीति पृथक् पदं विश्वेश्वरस्य विशेषणीभूतमिति तत्र प्रत्यक्षतः कोऽपि प्रकाशो न दृश्यते मन्यसे चेत्तदा रजन्यां दीपानर्थक्यप्रसंगः । अथैकदा पवित्रतमायां सुलभसुभगगाङ्गप्रवाहायामित्यादि "अथैकदा" इत्यत्र पूर्वसंवादाभावादथशब्दस्य नैरर्थक्यमधिकाराभावाच्च । वाराणस्याः पवित्रतमत्वे श्रुतिः स्मृतिर्वा न प्रमाणमस्ति विना मनोरचनायाः । गाङ्गप्रवाहस्य काश्यामेव सुलभत्वमस्ति गङ्गातटस्थान्यपत्तनेषु दुर्लभत्वमित्यत्रापि वाचोयुक्तिरेव प्रमाणम् । अग्रे भवदीयोक्तिः श्रीस्वामिनां स्तवनमेव करोति यथा त्रिदशैस्तु धर्मोध्वज इव धर्मध्वजः स विद्यते येषां ते धर्मध्वजिनोऽर्थाद्धर्मोन्नतिकारकास्तेषामेव शिरोभूषैरिति । अहोस्तु गारवगिड

शिरोमणिः, विज्ञैः पवित्रमार्गोपदेशकत्वात् पुण्याः पवित्रा ये जनास्तेषु प्रवरः । अज्ञैः पुण्यजनोऽसुर इत्यबोधि, अविद्यावृतत्वात् । यत्तु पङ्कबहुलाल्पजलात्पल्वलात् सद्यः समुत्थित इति तदपि सत्यम्—पङ्कबहुलाल्पजलादिति ल्यब्लोपे कर्मणि पञ्चमी पङ्कबहुलमर्थात् प्रमत्तमतवादिकृतवेदानर्थरूपं कलङ्कमेव बहुलं पङ्कं यस्मिन् अतएवाल्पं वेदसत्यार्थप्रवृत्तिरूपं जलं च यस्मिंस्तं परित्यज्य सदर्थबोधनाय सद्यः समुत्थितः । तथा सर्वाङ्गीणपङ्कलेपेन स्तब्धरोमेवेति तदपि न मिथ्या सर्वेषु अंगेषु अर्थात् षट्सु शिक्षादिषु यः पङ्कोऽर्थमालिन्यरूपस्तस्य लेपो वृद्धिस्तेन हेतुना स्तब्धरोमेव कथमिदञ्जातमिति सर्वाङ्गसंकोचनेन सचकित इव वेदोद्धाराय सद्यः समुत्थितः । स्थूलकाय इति स्थूलशब्दो गौरवयुतपदार्थस्य वाचकः । अत्रापि महाराजादिभिः कृतेन गौरवेण युतः कायो यस्येति । धर्मपुस्तकमूलमुल्लुनानः । धर्मपुस्तकनाम्ना लोके प्रसिद्धं बायविलइञ्जीलावयवभूतमेकं पुस्तकं तन्मूलमिति शेषं समानम् । काश्यादिपुण्यतीर्थभुवो दारयन्निवेति तदपि नासमञ्जसम् । काश्यादिपुण्यतीर्थेषु भवन्तीति काश्यादिपुण्यतीर्थभुवो दाराइवाचरन्निव श्रीस्वामिनां वाग्भिः शास्त्रार्थभीता स्त्रिय इव स्वस्वगृहान्तःप्रविष्टाः सर्वे बुधा आसन् काश्यादिपुण्यतीर्थभुवो दारयन्निव सद्यः समुत्थित इत्यपि पूर्वेणैवान्वयः । देवनिन्दाघोरशब्दघुरघुरायित मुख इति । देवमकायादिलक्षणं परमेश्वरं शरीरधारणव्यभिचारचौर्यादिभिर्वेदविरुद्धगुणामञ्जनेन निन्दन्ति तान् देवनिन्दः कात्रेयकग्रन्थाञ्जैमिन्यादिमहर्षिसिद्धान्तविरुद्धान् घ्नन्ति खण्डयन्ति तेषु मध्ये परिव्राजकाचार्यवर्य श्रीमत् स्वामिदयानन्दसरस्वतीनामधेयः, अघोरेण सत्येन प्रियेण ग्राह्येण हितार्थेन शब्देन सर्वसम्मतसर्वाभीष्टधर्मसाधकवेदेनाप्तोपदिष्टेन च प्रमाणेन घुरघुरायितमुखो घुरेणात्यन्तनिर्भ्रमनिर्भयशब्देना-

यितं स्थानप्रयत्नाभ्यां चलितं मुखं यस्य स प्रवृत्तवाक्चित्रकथः सद्य इत्यादि पूर्वेणान्वयः। कलङ्कयन्निव स्ववेषं सुष्ठु बहिरेव सुन्दरो धर्मेणवर्जितः अवेषो निन्दितवेषो यस्य तं नरं पाखण्डिनमिति यावत् कलङ्कयन्निवेति भावः। प्लावयन्निवाऽऽज्ञानाम्भसि जगदशेषम्–समंताज्ज्ञानमाज्ञानं तदेव जलरूपं तस्मिन्नशेषं जगत् प्लावयन् स्नपयन्निवार्थाज्ज्ञानामृतसदृैदिकधर्मोपदेशवारिणि कृशलीकुर्वन्निव। संजनयन्निव सताश्चेतसः क्लेशम्। सतानामीश्वरेण दत्तानां पदार्थानामश्वाऽश्वनं सत्करणं रक्षणं तामिताः प्राप्तास्तान् स्यति पीडयति दुःखयति तस्य खलस्य क्लेशं संजनयन्निवेति। वञ्चयन्निव स्वदेशम्। सुष्ठु सम्यक् प्रकारेणादेशमनुपदेश्यमुपदेशानर्हं सम्प्रत्युपदेशे वर्त्तमानं वेदविरुद्धं पुराणाभासादिवाग्जालं वञ्चयन्निवास्मदाद्यन्तःकरणादुद्धरन्निव दूरीकुर्वन्निवाथवा स्वदेशं सुष्ठु अदेशं देशकालोचितविरुद्धं मुहम्मदईशामसीजैनादिसम्प्रदायं वञ्चयन्निव। एवं युष्मदीयवचनसूचितार्थेन पदवाक्यसम्बन्धसामर्थ्यसुलभेन स्तुतः प्रशंसितः स स्वात्मानमेव वञ्चयन् किन्तु वो युष्मान् कलुषयंश्च समुपागमत् स्वात्मानमेव विदितवेदितव्यतयाऽधिगतयाथातथ्यार्थेन सार्वभौममहापरीक्षकत्वेन वञ्चयन् ज्ञापयन् वञ्चुगत्यर्थः। वो युष्मान् कलुषयन्नर्थात् बहुशोविज्ञापनपत्रैराहूतानप्यनागताननागमानरूपनिग्रहस्थानप्रापणत्वेन कलुषयन् समुपागमत्। इति॥

अर्थ–इन महात्माओं से पूछना चाहिये कि जो आप लोग विश्वेश्वर की विजय गा रहे हो सो विश्व के बीच तो काशी भी है काशीपद को अलग क्यों खींचे २ फिरते हो यदि कहें कि काशी एक प्रकाशमान वस्तु का नाम है अतएव विश्वेश्वर का विशेषण मानेंगे कि प्रकाशमान विश्वेश्वर विजय को प्राप्त है तो महाशयो! वहां कोई प्रत्यक्ष में प्रकाश नहीं दीखता यदि है तो रात्रि में दीवा जला २ क्यों रखते हो? उसी प्रकाश में, क्यों नहीं निर्वाह कर लेते?।

१ अब देखिये इन के संस्कृत की व्यवस्था "अथैकदा पवित्रतमायां सुलभसुभगगाङ्गप्रवाहायां वाराणस्यामित्यादि" संस्कृतवाणी में अथ शब्द जहां लाते हैं कि

जहां कुछ विषय कहा हो पीछे उसी के सम्बन्ध में और कथन हो इन महात्माओं से पूछना चाहिये कि श्री स्वामी जी महाराज के सम्बन्ध में तो पूर्व कुछ भी नहीं कहा आप लोग विश्वेश्वर का विजय गा रहे थे गाते २ ही क्या अथ शब्द स्मरण हो आया प्रथम ही अपनी वाक्यावली में अथ शब्द क्यों रक्खा ? यदि यह समझा हो कि शब्द ही तो है पड़ा रहने दो कुछ उलटा सीधा अर्थ हो ही रहे गा तो पड़ा रहने दो हम भी आगे चलते हैं। आगे वाराणसी को अतीव पवित्र जो लिखा इस में श्रुति वा स्मृति कोई प्रमाण नहीं किन्तु मन की रचना मात्र से जो चाहे सो कहें। आगे देखिये गङ्गा जल के प्रवाह का अच्छा लाभ काशी ही में लिखते हैं तो क्या गङ्गातटस्थ अन्य नगरों में गङ्गा जल के प्रवाह का लाभ दुर्लभ है? यहां भी वाणी की युक्ति ही प्रमाण है इत्यादि दोष इन महात्माओं के संस्कृत में पाये जाते हैं ॥

अब आगे श्रीस्वामिदयानन्दसरस्वती जी की निन्दा के लिये जो शब्द लिखे हैं उन की व्यवस्था देखिये श्रीस्वामीदयानन्दसरस्वती जी महाराज जो प्रथम काशी में गये थे उन का वर्णन यह करते हैं कि "विज्ञैरज्ञैः सर्वैरपि धर्मध्वजिशिरोमणिः पुण्यजनप्रवर इति समधिगतः" विद्वान् अविद्वान् सभों ने पाखण्डियों में शिरोमणि और राक्षसों में अतिउत्तम समझा। पर इसी वाक्य से दूसरा अर्थ-यह निकलता है कि सभी विद्वानों ने धर्मध्वजियों अर्थात् धर्म्मोन्नति करने वालों का शिरोमणि और पवित्र मार्ग के उपदेश करने से जो पुण्य पवित्रजन उन के बीच अतिश्रेष्ठ समझा और अज्ञ अविद्वानों ने अपनी अज्ञानता से पाखण्डियों में शिरोमणि और राक्षसों में अतिश्रेष्ठ समझा "पङ्कबहुलाल्पजलात् पल्वलात् सद्यः समुत्थितः" यहां उन का तात्पर्य्य यह है कि बहुत कीच और थोड़े जल वाले ताल से शीघ्र उठा अर्थात् कीचड़ में लोट के आया। दूसरा अर्थ-पङ्कबहुल अर्थात् प्रमत्तमतवादियों ने किया हुआ वेदानर्थरूपकलङ्क ही बहुत पङ्क (कीच) और इसी कारण से थोड़ा वेद का सत्यार्थ प्रवृत्तिरूप जल जिस में विद्यमान उस वेदार्थ को त्याग कर श्रेष्ठ वेदार्थ बोध कराने के लिये शीघ्र उद्यत हुए "सर्वाङ्गीणपङ्कलेपेन स्तब्धरोमेव" काशीनिवासी महात्माओं का प्रयोजन यह है कि समस्त अङ्गों में कीचड़ के लेप से लिपिटे हुए रोमों वाले सूकर के समान। पर दूसरा अर्थ यह है कि-सब अङ्गों अर्थात् छः ओं शिक्षादि वेदाङ्गों में जो अर्थ मलीनतारूप कीच उस की वृद्धि को देख स्तब्धरोमा संकुचित रोम वाले के समान अर्थात् वेदाङ्ग ग्रन्थों पर अनेकानेक टीका टिप्पन करते २ आधुनिक लोगों ने जो ग्रन्थ बाहुल्य किया उस को देख पठन पाठन की अव्यवस्था विचार अति मलीनचित्त हो कर शीघ्र उठे।

"स्थूलकायः" यहां उन का तात्पर्य मोटे शरीरमात्र से है पर दूसरा अर्थ यह समझना चाहिये कि स्थूल शब्द गौरवयुक्त पदार्थ का वाचक है जो राजा

महाराजादिकों ने जो किया गौरव उस से युक्त शरीर जिन का था । "धर्मपुस्तकमूलमुन्मुनानः" यहां उन का तात्पर्य यह है कि धर्मपुस्तक के मूल को उखाड़ता हुआ । पर दूसरा अर्थ प्रतीत होता है कि धर्मपुस्तक इस नाम का संस्कृत में तो कोई ग्रन्थ नहीं किन्तु अंगरेजों की इंजिल का अंग एक धर्मपुस्तक प्रसिद्ध है उस के मूल को श्रीस्वामी जी ने उखाड़ा ही है । "काश्यादिपुण्यतीर्थभुवो दारयन्निव" यहां उन का तात्पर्य यह है कि—काश्यादिपुण्यतीर्थ भूमियों का विदारता हुआ सा । दूसरा अर्थ यह है कि काशी आदि नगर में उत्पन्न हुए विद्वानों को "दारयन्" अर्थात् स्त्रियों के समान करते हुए क्योंकि दारा स्त्रियों का नाम है और यह हुआ ही है कि श्री स्वामीदयानन्दसरस्वती जी की शास्त्रार्थरूप वाणियों से डरपे हुए काशी निवासी विद्वान् अपने २ घरों में भीतर घुमते फिरे औरतों के समान दुबके फिरे "देवनिन्दाघोरशब्दघुरघुरायितमुखः" उन का तात्पर्य—देवताओं की निन्दारूप घोर शब्द से घुरघुराते मुखवाला । दूसरा अर्थ यह है कि—देव अशरीरादि लक्षण युक्त परमेश्वर को शरीर धारण, व्यभिचार और चोरी आदि वेदविरुद्ध गुण लगाने से जो निन्दा करते हैं उन देवनिन्दक मतवादियों के जो कि जैमिन्यादि महर्षिसिद्धान्तविरुद्ध ग्रन्थ उन का जो खंडन करते हैं उन महात्माओं के बीच संन्यासियों में श्रेष्ठ श्रीमत् दयानन्दसरस्वती स्वामी जो अघोर सत्य, प्रिय, ग्रहण करने योग्य, हितार्थ शब्द और सर्वसम्मत सर्वाभीष्ट धर्मसाधक वेद और आप्तोपदेशप्रमाण से अत्यन्त निर्भ्रम निर्भय शब्द से स्थान प्रयत्न पूर्वक शुद्धोच्चारण से चलता हुआ जिन का मुख । "कलङ्कयन्निव स्ववेषम्" उन का तात्पर्य्य—अपने वेष को कलङ्कित करता हुआ सा । दूसरा अर्थ—बाहर का सुन्दर अर्थात् धर्मवर्जित निन्दित जिस का वेष उस पाखंडी को कलङ्कित करते हुए । "प्लावयन्निवाज्ञानाम्भसि जगदशेषम्" उन का तात्पर्य—अज्ञानरूपी जल में सम्पूर्ण जगत् को डुबाता हुआ सा ॥ दूसरा अर्थ—अज्ञान नहीं किन्तु आज्ञान अर्थात् सब ओर से जो ज्ञान वही जलरूप है उस में सम्पूर्ण जगत् को स्नान कराते हुए अर्थात् ज्ञानामृतरूपी वैदिक धर्मोपदेश में सब को कुशल करते हुए ॥ "संजनयन्निवसताञ्चेतसः क्लेशम्" उन का तात्पर्य्य—सज्जनों के चित्त को क्लेश उत्पन्न करता हुआ सा । दूसरा अर्थ—ईश्वर ने दिये हुए पदार्थों के सत्कार को जो प्राप्त हुए उनको अत्यन्त दुःख देने वाले खल को क्लेश उत्पन्न करते हुए । "वञ्चयन्निव स्वदेशम्" उन का तात्पर्य—अपने देश को ठगता हुआ सा । दूसरा अर्थ—सम्यक् प्रकार से उपदेश के अयोग्य जो वेदविरुद्ध पुराणाभासादि वाग्जाल उस को हम लोगों के अंतःकरण से अलग करते हुए वा (सु—अदेश) अच्छे प्रकार

देशकालोचितविरुद्ध मुहम्मद ईसाई और जैन आदि संप्रदाय का खंडन करते हुए । इत्यादि पद २ में काशी निवासियों के तात्पर्य्य से भिन्न दूसरा अर्थ बहुतों की वाणी में विद्यमान है अग्रे देखिये कहते हैं कि—वस्तुतः स्वात्मानमेव वञ्चयन् कलुषयंश्च समुपागमत्" इन का तात्पर्य्य वस्तुतः अपने आत्मा को ही ठगता और पापी करता हुआ आया ॥ दूसरा अर्थ "स्तुतः" पूर्वोक्त युष्मदीयवचनसूचितार्थ पद वाक्य सम्बन्ध सामर्थ्य से स्तुत अर्थात् प्रशंसा को प्राप्त अपने आत्मा को ही विदितवेदितव्य और प्राप्त याथातथ्यार्थ से सार्वभौम परीक्षकत्व से जताते और "वः" तुम लोगों को कलुषी करते हुए क्योंकि बहुत विज्ञापन पत्रों से बुलाये हुए काशी निवासी विद्वानों के न आने रूपनिग्रहस्थान को प्राप्त करने से कलुषी करते हुए काशी में आये ॥ इस प्रकार से इन के पद २ में श्री स्वामीजी की प्रशंसा है ।

मन्त्र ब्राह्मणविषयक उत्तर ॥

यद्यपि बनारस के एक साधारण पं० राममोहन शर्मा के नाम से यह पुस्तक " महामोहविद्रावण " छपा है पर वास्तव में अनेक पण्डितों की ओर से पुस्तक बना है । ऐसे सर्वसाधारण के लेखों के उत्तर देने का श्री १०८ स्वामिदयानन्दसरस्वती जी महाराज का विचार न था तथापि श्री महाराज का शरीर न रहने से प्रायः लोगों को विचार होगा कि अब स्वामी जी के पुस्तकों का चाहे जो खण्डन करे कोई उत्तर देने वाला नहीं इस लिये हम लोगों ने उत्तर देना उचित समझा । इस पुस्तक में सब से पहिले संवत् १९२६ में जो श्री स्वामी जी के साथ बनारस के पण्डितों का शास्त्रार्थ हुआ था उस की भूमिका में रख के श्री स्वामी जी की मनमानी निन्दा की है इस भूमिका को जो सज्जन महाशय देखें गे उन को स्वयमेव पं० राममोहन शर्मा की योग्यता वा सज्जनता सब प्रकट हो जावे गी । इस पर हम कुछ भी नहीं लिखते क्योंकि हमारा नियम यही है कि जो शास्त्र प्रमाणपूर्वक विषय होगा हम उसी का निर्णय और उत्तर प्रत्युत्तर करें गे । और श्री स्वामी जी का सिद्धान्त यही था कि "निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् । अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः" कोई निन्दा करो वा स्तुति, पर न्याय्यमार्ग से पग कदापि न हटाना जब श्री स्वामी जी को निन्दा स्तुति से हर्ष शोक नहीं था तो हम लोग भी इन के कुवाच्य शब्दों पर विशेष ध्यान नहीं देते पर शास्त्रीय अंशों पर ध्यान देना आवश्यक है इस लिये हम ईश्वर से बार २ प्रार्थना करते हैं कि हमारी लेखनी वा मुख से कदापि किसी की निन्दा वा कठोर शब्द न निकलें ॥

अब इस पुस्तक के आरम्भ से उन का संस्कृतपाठ और भाषानुवाद करके उत्तर लिखते हैं :—

* ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायाः ८० पृष्ठे अथ कोऽयं वेदो नाम मन्त्रभागसंहितेत्याह। किञ्च मंत्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयमिति कात्यायनोक्तेर्ब्राह्मणभागस्यापि वेदसंज्ञा कुतो न स्वीक्रियत इति मैवं वाच्यं न ब्राह्मणानां वेदसंज्ञा भवितुमर्हति कुतः पुराणेतिहाससंज्ञकत्वात्, वेदव्याख्यानादृषिभिरुक्तत्वादनीश्वरोक्तत्वात्, कात्यायनभिन्नैर्ऋषिभिर्वेदसंज्ञायामस्वीकृतत्वात्, मनुष्यबुद्धिरचितत्वाच्च ॥

इति कश्चित्कपटभिक्षुः स्वीयर्ग्वेदादिप्रलापे प्रललाप, तदत्यन्तं स्यवीयः, ब्राह्मणानां वेदसंज्ञकत्वाभावे हेतुत्वेनोपन्यस्तस्य पुराणेतिहाससंज्ञकत्वस्य ब्राह्मणानां वेदसंज्ञकत्वाऽभावेऽहेतुत्वात्। नह्येकस्य वस्तुनो नानानामधेयकत्वमदृष्टचरम्। एकैव हि कम्बुग्रीवादिमती व्यक्तिर्घटः कलशो द्रव्यमित्येवं व्यवह्रियत इत्यास्ति प्रामाणिकानामनुभव इतीतिहासादिसंज्ञकत्वेन वेदसंज्ञकत्वाऽभावसाधनमाशामोदकायितम। यदि च पुराणेतिहाससञ्ज्ञकत्वस्य वेदसञ्ज्ञकत्वस्य च पारस्परिकविरोधमुत्प्रेक्ष्य ब्राह्मणानां वेदसञ्ज्ञकत्वाऽभावे पुराणेतिहाससञ्ज्ञकत्वं हेतूकरोषि, तदा व्याचक्ष्व, क्वानयोः सञ्ज्ञयोर्विरोधो निरीक्षितो भवता? यदि चेतिहाससञ्ज्ञकेषु भारतादिषु पुराणसञ्ज्ञकेषु पाद्मादिषु च वेदव्यवहारविरहात्पुराणेतिहाससञ्ज्ञकत्वम्भवति वेदसञ्ज्ञकत्वविरोधीति ब्रूषे, तर्हि पाद्मभारतादीनाम्पुराणेतिहाससञ्ज्ञकत्वममन्वानो भवान् कथमिदमुद्भावयितुं पारयेत्। अथाचक्षीत पुराणेतिहाससञ्ज्ञकानामैतरेयादिब्राह्मणानां न वेदसञ्ज्ञकत्वमिति तत्रैवोपलब्धो विरोध इति, तदप्यपेशलम्। ब्राह्मणानां वेदसञ्ज्ञकत्वाभावं सि-

* इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्। बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रतरिष्यतीति प्राचामभिधानात्मानसकुभावेन नाम्नर्ग्वेदभाष्यभूमिकामारचयन् प्रतारणामेव करोतीति ऋग्वेदादिप्रतारणभूमिकामभिदध्महे ॥

षाधयिपुर्भवान्कथमिव तेषामसिद्धम्पुराणेतिहाससञ्ज्ञकत्वं हेतुत्वेनोपन्यस्येत् यदि च पुरातनार्थप्रतिपादकत्वादैतिहासिकार्थप्रतिपादकत्वाच्च सिद्धमेव ब्राह्मणानां पुराणेतिहाससञ्ज्ञकत्वमित्येव ब्रूयात्, तदैतादृशपुराणेतिहाससञ्ज्ञकत्वं न वेदसञ्ज्ञकत्वासमानाधिकरणमिति नैतस्य ब्राह्मणानां वेदसञ्ज्ञाविरहसाधकत्वसम्भवः, तत्र तस्यौदासीन्यात् नहि पुरातनार्थप्रतिपादकत्वमात्रं वेदसञ्ज्ञामपाकर्त्तुमर्हति वेदानां त्रैकालिकार्थप्रतिपादकत्वस्य सर्वास्तिकतन्त्रसिद्धत्वात् किञ्च त्रैकालिकमर्थमभिदधतो वेदाः पुरातनार्थमपि प्रतिपादयन्तीति तेषु निरुक्तयौगिकपुराणेतिहासत्वसत्त्वेन निरुक्तोयं हेतुर्वेदानामपि अवेदत्वं साधयेत् तस्मादयं पुराणेतिहाससञ्ज्ञकत्वादिति हेत्वाभासः ॥

भावार्थ-ऋग्वेदादि की तुच्छता * वा तिरस्कार जिस में है ऐसी भूमिका के ८० पृष्ठ में वेद नाम किस का है ? मंत्र भागसंहिता को वेद कहते हैं (प्र०) क्यों जी मंत्र ब्राह्मण दोनों का नाम वेद है ऐसा कात्यायन जी ने कहा है इस लिये ब्राह्मणभाग को भी वेद क्यों नहीं मानते ? । उ०-ऐसा मत कहो क्योंकि इन की पुराण इतिहास संज्ञा होने, वेद के व्याख्यान रूप होने, ऋषियों के कहे होने, ईश्वर के कहे न होने, कात्यायन भिन्न ऋषियों के वेद संज्ञा में स्वीकार न करने और मनुष्यबुद्धिरचित होने से ब्राह्मण ग्रन्थों की वेदसंज्ञा नहीं हो सकती इस प्रकार कोई कपटरूप संन्यासी अपने ऋग्वेदादि के बकवाद में बक गया सो अत्यन्त ही अत्यन्त स्थूल बात है क्योंकि ब्राह्मणग्रन्थों की वेद संज्ञा के न होने में ब्राह्मणग्रन्थों की पुराण इतिहाससंज्ञा हेतु नहीं हो सकती अर्थात् जिस का नाम इतिहास पुराण हो उस का वेद नाम होने में कोई बाधक नहीं हो सकता । यह बात छिपी नहीं है कि एक वस्तु के अनेक नाम होते हैं जैसे एक ही वस्तु का घट, कुम्भ, कलश और द्रव्य आदि नाम से व्यवहार होता है ऐसे ही ब्राह्मणग्रन्थों का इतिहास पुराण और वेद नाम हो सकता है यह

---

१ मनुष्य को उचित है कि इतिहास पुराण के आश्रय से वेदार्थ की महिमा बढ़ावे क्योंकि अल्प विद्या वाले से वेद ऐसा डरता है कि मुझ को यह मनुष्य नष्ट भ्रष्ट न कर देवे ॥ यह पूर्वजलोगों का प्रमाण है । इसी के अनुसार मनुष्य के दुष्टविचार से ऋग्वेदभाष्यभूमिका की रचना के नाम से वेद की दुर्दशा की है इस से भाष्य के स्थान में हम ने प्रतारण कहा है ।

प्रामाणिक लोगों का अनुभव है तो ब्राह्मणग्रन्थों की इतिहासादि संज्ञा होने मात्र से वेदसंज्ञा का अभाव साधना इच्छामात्र के लड्डू खाना है। यदि पुराण इतिहास संज्ञा और वेद संज्ञा का परस्पर विरोध समझ के ब्राह्मण ग्रन्थों की वेदसंज्ञा न होने में पुराण इतिहास संज्ञा को हेतु करते हो तो कहो किस स्थल में इन दोनों संज्ञाओं का विरोध आप ने देखा ?। यदि कहते हो कि महाभारतादि इतिहासों और पद्मपुराणादि पुराणों में वेदसंज्ञा का व्यवहार न होने से उनकी इतिहासपुराणसंज्ञा होती है इस से वेदसंज्ञा का विरोध है तो पद्मपुराणादि और महाभारतादि की पुराणइतिहाससंज्ञा आप ने मानली फिर कैसे सिद्ध कर सकते हो कि ब्राह्मणपुस्तक ही पुराणइतिहाससंज्ञक हैं। अथवा कहो कि पुराणइतिहाससंज्ञक ऐतरेयादि ब्राह्मणों में वेदव्यवहार न होने से उन की वेदसंज्ञा होना विरुद्ध है तो भी ठीक नहीं क्योंकि ब्राह्मणग्रन्थों में वेदसंज्ञा का अभाव सिद्ध करते हुए आप कैसे उन की विना सिद्ध की इतिहासपुराणसंज्ञा को ब्राह्मणग्रन्थों की वेदसंज्ञा के अभाव में हेतु ठहराते हो ?। यदि कहो कि प्राचीन और ऐतिहासिक अर्थों के प्रतिपादक होने से ब्राह्मणग्रन्थों की पुराणइतिहाससंज्ञा सिद्ध ही है तो इस प्रकार की पुराणइतिहाससंज्ञा वेदसंज्ञा की विरोधिनी नहीं हो सकती अर्थात् इस प्रकार की पुराणइतिहाससंज्ञा से ब्राह्मणग्रन्थों की वेदसंज्ञा का अभाव सिद्ध होना सम्भव नहीं ब्राह्मणों में पुरातन अर्थ का प्रतिपादन होना मात्र वेदसंज्ञा को नहीं हटा सकता। सब आस्तिक शास्त्रों से सिद्ध है कि वेद तीनों काल के अर्थों का प्रतिपादन करते हुए पुरातन प्राचीन अर्थ को भी कहते हैं तो उन में यौगिक पुराणइतिहासपन सिद्ध होने से यह हेतु "पुराणेतिहाससंज्ञकत्वात्" वस्तुतः हेत्वाभासरूप निग्रहस्थान पराजय प्राप्ति है ॥

यह भावार्थ व्यामोहविद्रावण के उक्त संस्कृत का श्री स्वामी जी के पक्ष के खण्डन में है अब इस का उत्तर लिखते हैं:—

श्री स्वामी जी के भाष्य को प्रतारण छल और श्री स्वामी जी को प्रतारक छली वा ठग कहना इस पर हम यही लिख सकते हैं कि यह पण्डित महाशय की योग्यता है और यही पाण्डित्य है अब विचार यह है कि "कश्चित् कपट भिक्षुः स्वीयर्ग्वेदादि प्रलापे। अर्थात् कोई कपटरूप संन्यासी अपने ऋग्वेदादि के अनर्थक वचन में अनर्थ कहता भया" यह क्या ठीक है ? मेरी समझ में यह वाक्य अयोग्य है प्रथम तो स्वामी जी का बनारस आना पण्डितों के साथ शास्त्रार्थ होना सब लिखा तो क्या नाम नहीं जाना था ? जिस का नाम वा गुण कर्म स्वभाव नहीं जाना होता है उस को "कश्चित्" कोई शब्द से कहते हैं जब पण्डित जी ने स्वामी जी महाराज के सब वृत्तान्त जाने उन के गुण और नाम

ऐसे प्रसिद्ध थे कि बहुधा साधारण लोग उन के नाम को जानते थे तो क्या ऐसे पण्डितों को जो उन के कथन का खण्डन करने को उद्यत हुए नाम न विदित हुआ हो यह कोई कह सकता है ? जब नाम ज्ञात था तो "कोई कपटरूप संन्यासी" कहना नहीं बनता । क्या यह कपट नहीं कहावे गा कि कोई बात जानते हुए भी किसी कारण विशेष से प्रकट न करना ? इस में कारण यही प्रतीत होता है कि ऐसे कठोर लेख से यदि कदाचित् कोई राजविवाद आपड़े गा तो कह देवें गे कि हमने उन के विषय में नहीं लिखा अन्य किसी पर झुका देवें गे ।

द्वितीय अनर्थ में अनर्थ कहा यह भी कथन अयोग्य प्रतीत होता है । प्रथम तो पण्डित जी के कहने से ऋग्वेदादि वेदचतुष्टय ही अनर्थक हुए जाते हैं। यदि कहैं कि स्वामी जी महाराज की भूमिका ही ऋग्वेदादि का अनर्थ है ऐसी अनर्थक भूमिका में यह मंत्रब्राह्मणविषय अनर्थ कहा । सो आप के उस वाक्य से पहिले तो यह तात्पर्य्य ही नहीं निकलता यदि मान भी लिया जाय तो जब भूमिकामात्र को आप अनर्थ कर चुके तब फिर एक विषय क्या अनर्थ होने को शेष रह गया था जो अनर्थ में अनर्थ कहा ? । और कृपा कर यह तो बताइये कि ऋग्वेदादि अनर्थक हैं ऐसा स्वामी जी ने किस स्थल में लिखा है ? किन्तु ऋग्वेदादि का महत्त्व और सर्वविद्याकरत्व तो बहुधा सिद्ध किया है । प्रपूर्वक लप धातु का कर्म ऋग्वेदादि शब्द है "ऋग्वेदादि प्रलापः" इस का यही अभिप्राय निकलता है कि ऋग्वेदादि को स्वामी जी ने मिथ्या कहा । सो जब उन के किसी वाक्य से यह सिद्ध नहीं होता कि हम ऋग्वेदादि को मिथ्या कहते हैं तो इस आप के कहने पर कैसे विश्वास किया जाय ? ॥

आगे जा कर लिखा है कि "तदत्यन्तं स्थवीयः" इस में "ईयसुन्" प्रत्यय अथवा "अत्यन्त" शब्द दो में एक व्यर्थ है क्योंकि " उक्तार्थानामप्रयोगः " यह महाभाष्य का वचन है जो अर्थ एक शब्द से कह दिया गया उस के लिये शब्दान्तर का प्रयोग नहीं हो सकता जो प्रयोजन ईयसुन् प्रत्यय से निकलता है वही अत्यन्त शब्द से निकलता है तो दोनों का प्रयोग न चाहिये किन्तु "तदत्यन्तं स्थूलं, वा तत्स्थवीयः" ऐसा कहना चाहिये यदि कहैं कि यहां बहुत आवश्यकता बोधनार्थ यह कहा तो केवल एव, हि, शब्द लिखने से यह तात्पर्य्य सिद्ध हो सकता है जैसे "तदत्यन्तमेव स्थूलम्" इस से प० जी महाशय में व्याकरण की अनभिज्ञता प्रतीत होती है ॥

अब आगे "पुराणेतिहाससंज्ञकत्वात्" स्वामी जी महाराज के इस लेख को न्यायशास्त्र की रीति से हेत्वाभास ठहराया है। न्याय रीति पर जो विषय सिद्ध करना वा खण्डन करना होता है उस को जता देना प्रतिज्ञा कहाती है जैसे "ब्राह्मणपुस्तक वेद नहीं" यह श्री स्वामी जी की प्रतिज्ञा है । उस प्रतिज्ञा के सिद्ध करने को जो कारण कहा जाता है वह हेतु कहाता है जैसे "इतिहासपुराणसंज्ञक

होने से" अर्थात् ब्राह्मणग्रन्थों की इतिहासपुराणसंज्ञा है इतिहासपुराणसम्बन्धी विषय जिन पुस्तकों में हो वे अनादि अपौरुषेय न हो सकने से साक्षात् वेद नहीं हो सकते यह हेतु है। हेत्वाभास उस को कहते हैं कि अपने पक्ष की सिद्धि में जो कारण दिया जाय वह वस्तुतः ठीक न हो किन्तु नाममात्र कारण हो जब कारण ही ठीक नहीं तो वह पक्ष गिर जाता है। सो प्रथम पं० जी कहते हैं कि ब्राह्मणग्रन्थों की इतिहासपुराणसंज्ञा रहो इस से वेदसंज्ञा क्योंकर हट सकती है? क्योंकि जैसे एक२ वस्तु के अनेक२ नाम होते हैं वैसे ब्राह्मणग्रन्थों की वेदसंज्ञा और इतिहासपुराणसंज्ञा भी रह सकती है इस पर उत्तर यह है कि जैसे मनुष्य पशु और पक्षी आदि ये सब नाम एक के नहीं होते क्योंकि इन का जातीय-विरोध है और मनुष्य मानव मनुज आदि अविरुद्ध होने से एक के नाम हो भी सकते हैं। यहां इतिहासपुराण और वेदसंज्ञा में परस्परविरोध आता है इस से ब्राह्मणपुस्तकों की इतिहासपुराण और वेद दोनों संज्ञा नहीं हो सकतीं क्योंकि " पुरा नव भवतीति, पुराणम्। इति, ह, आस। इतिहासः " पहिले बनाते समय जो नवीन हो वही कालान्तर में पुराना कहाता है। यह अर्थ वेद में नहीं घट सकता क्योंकि वेद कभी नवीन नहीं बना है किन्तु अनादि अपौरुषेय है- और यह प्रमाण निरुक्त का है इस का शब्दार्थ भी ब्राह्मणग्रन्थों में ठीक ही घटता है और इति-इस प्रकार ह-प्रसिद्ध अमुक विषय वा पुरुष आस-हुआ यह इतिहास शब्द का अर्थ भी वेदसंज्ञा का विरोधी है इस से यह सिद्ध हुआ कि ब्राह्मणग्रन्थों की पुराणइतिहाससंज्ञा हो तो वेदसंज्ञा कदापि न होगी और जो यह कहा कि ब्राह्मणग्रन्थों की इतिहासपुराणसंज्ञा सिद्ध न होने से उस का हेतु देना साध्यसमहेत्वाभास होगा। सो आप ने ब्राह्मणग्रन्थों की इतिहासपुराणसंज्ञा असिद्ध समझ ली क्या इस से ही असिद्ध हो गई?। इतिहासपुराण के शब्दार्थ ब्राह्मणभाग में यथार्थ घटते हैं "इति-ह-आस" ऐसा हुआ इस का उदाहरण प्रत्यक्ष देखिये कठोपनिषत् में है "तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस" उन वाजश्रवा ऋषि का नचिकेता नामक पुत्र हुआ। और "इतिहासः पुरावृत्तम्" यह तात्पर्य भी उपनिषत् वा ब्राह्मणग्रन्थों में घटता है ऐतरेयादि ब्राह्मण पुस्तकों को पुरातन अर्थ के कहने मात्र से पुराणत्व नहीं सिद्ध किया है ऐसा मानें तब तो मन्त्रभाग में भी त्रैकालिक अर्थों का प्रतिपादन है तो मन्त्रभाग भी पुराण हो जावें। श्री स्वामी जी महाराज ने "पुरा नवं भवति" पहिले बनते समय नवीन रहा इसी अभिप्राय को लेकर ब्राह्मणभागों को इतिहासपुराण ठहराया है सो यह बात राजा जनक और याज्ञवल्क्यादि के इतिहास और परस्परसंवाद ब्राह्मण पुस्तकों में होने से सिद्ध है कि वे पुस्तक राजा जनक आदि

के पीछे बनाये गये। इसी से ये पुस्तक पुरुषविशेष की बुद्धि से बनाये सिद्ध होते हैं। सब काल में न होने वा रहने वाले किन्तु किसी समय विशेष में हुए राजा जनकादि की उत्पत्ति के पश्चात् ही ब्राह्मण पुस्तकों का बनना सम्भव है किन्तु राजा जनकादि से पहिले कदापि नहीं हो सकते जैसे पिता के जन्म का दर्शन पुत्र को नहीं हो सकता तो अपौरुषेय न रहने से वेद क्योंकर हो सकते हैं। यदि आप कहें कि आगे होने वाले याज्ञवल्क्यादि का इतिहास ईश्वर ने भविष्यत् ज्ञान से कह दिया तो दोष नहीं सो यह भी कहना ठीक नहीं, श्रीमहाराजा रामचन्द्रादि का इतिहास क्यों नहीं कहा? यदि कहो कि याज्ञवल्क्य, और राजा जनकादि प्रतिकल्प में वे ही वैसे ही होकर वैसा ही संवाद करें यह कदापि सम्भव नहीं और "जनको ह वैदेहः" यह लिखा है इस से सिद्ध है कि विदेह देश के राजा वैदेह जनक थे जिन की कन्या वैदेही सीता थी जो श्रीमहाराजा रामचन्द्र जी की पत्नी हुई उन्हीं राजा जनक का इतिहास शतपथ में लिखा है और वे राजा नित्य नहीं किन्तु एक कल्प में भी बराबर नहीं रहते तो उन के आश्रय से जो शब्द और अर्थों का सम्बन्ध है वह भी अनित्य पौरुषेय सिद्ध होगया फिर ब्राह्मणभागों में इतिहासपुराण का अर्थ घटने में क्या सन्देह रहा अब इतिहासादि का शब्दार्थ जिन किन्हीं अन्य महाभारत, वाल्मीकीय रामायणादि ग्रन्थों में घट सके वे भी यथासम्भव इतिहासादि माने जावें तो किसी प्रकार की हानि नहीं यदि महाभारतादि को सर्वथा ही इतिहासपन से पृथक् मानें तो कार्य निर्वाह भी नहीं हो सकता क्योंकि महाराजा श्री रामचन्द्र जी आदि तथा महाराजा युधिष्ठिरादि का विशेष पराक्रमादि गुणयुक्त होना वा होनामात्र भी महाभारतादि के विना सिद्ध नहीं हो सकता परन्तु उन में जो कुछ असम्भव बातें पीछे से प्रक्षिप्त हुई हैं उन को श्री स्वामी जी महाराज ने नहीं माना है यदि कोई महाशय यह कहें कि महाभारतादि में प्रक्षिप्त होने का क्या पुष्ट प्रमाण तुम वा तुम्हारे स्वामी जी ने दिया तो सुनिये मैं एक प्रत्यक्ष प्रमाण देता हूं कि जिस को सभी निश्चय कर सकेंगे। कलकत्ते की सुसाइटी की ओर से जो महाभारत का पुस्तक छपा है उस में कलकत्ते के संशोधक पण्डित महाशयों ने नोट दिये हैं कि इस पर्व में उपक्रमणिकानुसार इतने अध्याय होने चाहियें अब जो इतने अधिक अध्याय मिलते हैं सो प्रमाद से प्रक्षिप्त हुए हैं इस पर जो निश्चय करना चाहें वे कलकत्ते के छपे महाभारत को देख लेवें। इसी प्रकार मतवादियों ने अपने २ मत का प्रचार विशेष होने के लिये अपना २ माहात्म्य बहुधा पुस्तकों में मिलाया है अर्थात् जब से आर्यावर्त्त में अनेक मत भेद फैले तब से मतवादियों ने अपने २ मत का माहात्म्य इतिहास आदि के पुस्तकों में बहुधा मिलाना आरम्भ किया ॥

इस से यह बात सिद्ध हुई कि यथासंभव महाभारतादि इतिहास हैं परन्तु इन के इतिहास होने मात्र से ब्राह्मण पुस्तकों का इतिहास होना खण्डित नहीं हो सकता किन्तु विशेष प्रामाणिक होने से ब्राह्मण ग्रन्थों की मुख्य इतिहाससंज्ञा और यथासंभव प्रामाणिक होने से महाभारतादि की गौण इतिहाससंज्ञा है क्योंकि

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥

सृष्टि की उत्पत्ति, प्रलय, वंशों, की व्याख्या, १४ मन्वन्तरों की व्याख्या और वंशों के पीछे हुए मनुष्यों का आचरण वर्णन ये पांच बातें जिन में हों उन को पुराण कहते हैं यदि ये पांचों विषय परस्पर अविरुद्ध मतमतांतर के हठ दुराग्रह और पक्षपात से रहित शुद्ध २ वर्णन (उन पुस्तकों में कि जिन को आप पुराण मानते हो,) होते तो उन पुस्तकों के पुराण मानने में श्री स्वामी जी कुछ भी विकल्प न करते । जिन पद्म पुराणादि को आप पुराण कहते हो उन में सृष्टि की उत्पत्ति आदि परस्पर विरुद्ध है और वेदविरुद्ध शैव वैष्णवादि संप्रदायों का मूल भी, ये ही पुराणाभास हैं । इस से स्वामी जी महाराज ने इन को प्रामाणिक पक्ष में नहीं माना न जाने आज कल के पण्डित लोग क्यों ऐसे मतवाद के पुस्तकों को प्रामाणिक कक्षा में मानते हैं ? । और ब्राह्मण ग्रन्थों में सृष्टि की उत्पत्ति आदि पुराण के शुद्ध २ लक्षण मिलने पर भी इन की पुराणसंज्ञा मानने में क्यों हिचकते हैं ? अनुमान है कि लौकिक व्यवहार से डरते होंगे कि ऐसा करने से अज्ञ लोग नास्तिक कहने लग जावेंगे । धर्मशास्त्र में इस का निषेध किया है कि "न लोकवृत्तं वर्त्तेत वृत्तिहेतोः कथञ्चन" जीविकार्थ शास्त्र से विरुद्ध लौकिक व्यवहार का वर्त्ताव न करे । अस्तु जो हो । यदि कहें कि ब्राह्मणों के तुल्य सृष्टि की उत्पत्ति आदि विषय मन्त्रभाग वेद में भी आया है तो वेद को भी इतिहासपुराण मानो फिर वेद संज्ञा और इतिहासपुराण संज्ञा का परस्पर विरोध है तो वेद की वेद संज्ञा भी न रह सकेगी इस पर पं० जी ने "हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्" इस मन्त्र का प्रमाण नोट में दिया है इस का उत्तर यह है कि वेद में सृष्टि की उत्पत्ति आदि का विषय सामान्य कर आता है किन्तु विशेष किन्हीं निज मनुष्यों के नामवार इतिहास सहित उत्पत्ति का विषय नहीं इस से यह दोष वेद में नहीं आसकता । यदि वेद में सृष्टि की उत्पत्ति आदि सामान्य विषय जो प्रतिकल्प में एक ही प्रकार से होता है आवे और इतिहासपुराण के यौगिकमात्र अर्थ को लेकर वेद को भी इतिहासपुराण कहा जाय तब तो कुछ हानि न हो सो बात तो है ही नहीं किन्तु इतिहास पुराण में सृष्टि उत्पत्ति आदि ऐसा पूर्वचरित्र कहा जाता है जिस

में किसी समय विशेष के मनुष्यों का चरित्र वर्णन भी साथ ही रहता है। इस से यह बात सिद्ध हो गई कि ब्राह्मणभागों को इतिहासपुराण कह सकते हैं वेदों को नहीं और महाभारतादि में भी असम्भव तथा परस्पर मतवाद के विरुद्ध विषय को छोड़ के इतिहास पुराण के शब्दार्थ और लक्षण के अनुकूल जो शुद्ध विषय हो उस को भी इतिहास पुराण कह सकते हैं ॥

देखो समय विशेष में हुए जनक याज्ञवल्क्यादि का इतिहास होने पर भी आप लोग ब्राह्मणभागों को अपौरुषेय अनादि वेद मानते हो यह बात ठीक नहीं जिन में जनकादि की कथा है वे पुस्तक जनकादि से पीछे बन सकते हैं इस से अनित्य हुए और वेदनित्य अनादि अपौरुषेय है यदि ब्राह्मणग्रन्थों को वेद मानें तो वेद भी अनित्य हो जावें गे। इस विषय में जैमिनि मुनि का यह विचार है कि "परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम् ॥ पूर्व मीमांसा अ० १। पाद० १ सू० ३१" इस सूत्र से पहिले २८ सूत्र में पूर्वपक्ष यह है कि "अनित्यदर्शनाच्च" जन्म मरण वाले मनुष्यादि के नाम विशेष वेद में आते हैं इस से वेद अनित्य है अपौरुषेय अनादि नहीं हो सकता। इस पर उत्तर सिद्धान्त पक्ष का सूत्र "परन्तु श्रुति सामान्यमात्रम्" है अर्थ-तु शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्त्यर्थ है कि वेद को अनित्य कहना ठीक नहीं क्योंकि श्रुतिनाम वेद का सामान्य यौगिक धात्वर्थमात्र लेना चाहिये यहां पर-उत्तम तात्पर्य है अर्थात् किसी समय विशेष में होने वाले किसी निज मनुष्यादि का नाम वा कर्त्तव्य वर्णन वेद में नहीं आ सकता ऐसा न मानें तो जिन देहधारियों के कर्त्तव्य का वर्णन वेद में होवे उन से पीछे वेद का बनना सिद्ध हो जावे। इस लिये वेद के सब शब्द यौगिक सामान्यार्थ मानने चाहिये। यदि आप कहैं कि जैसे मन्त्रभाग के सब शब्द यौगिक मानो वैसे ब्राह्मण भाग के शब्द भी सामान्यार्थवाची यौगिक मान लिये जावें तो ब्राह्मणभाग भी अपौरुषेय अनादि वेद हो जावें गे तो ठीक नहीं क्योंकि यदि याज्ञवल्क्यादि किसी एक व्यक्ति का नाम न मानो गे तो याज्ञवल्क्यादि स्मृतियों में भी कोई व्यवस्था न बने गी न किसी निज की बनाई मान सको गे इस लिये यह मानना अवश्य है कि याज्ञवल्क्य राजा जनक आदि समय विशेष में विशेष देहधारी हुए उन की कथा ब्राह्मणग्रन्थों में प्रसिद्ध ही है तो ब्राह्मणभाग अनादि मूल वेद कदापि नहीं हो सकते। और इतिहास पुराण के शब्दार्थ तथा लक्षण यथार्थ घटने से ब्राह्मणभाग की इतिहास पुराण संज्ञा सिद्ध है तो "इतिहास पुराण संज्ञक होने से ब्राह्मणभाग वेद नहीं" यह श्री स्वामी जी का हेतु सिद्ध ही है। फिर इस को हेत्वाभास कहना केवल द्वेष दृष्टि अविचार वा पक्षपात से प्रतीत होता है ॥

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥

भाग १ | श्रावण संवत् १९४४ | अङ्क २

यत्र॑ ब्रह्मविदो॒ यान्ति॑ दी॒क्षया॒ तप॑सा स॒ह ।
ब्र॒ह्मा मा॒ तत्र॑ नयतु ब्र॒ह्मा ब्रह्म॑ दधातु मे ॥

(अंक १ पृष्ठ १६ से आगे)

किञ्च ब्राह्मणव्यतिरिक्तपुराणेतिहासग्रन्थसद्भावं वात्स्याय-नोमहर्षिर्गौतमीयेषु सूत्रेषु भाष्यमाभाषमाणोऽभ्युपागमत् तथाहि चतुर्थेऽध्याये प्रथमे आह्निके द्वाषष्टितमे "समारोपणादात्मन्य-प्रतिषेधः" इति सूत्रे ॥

"चातुराश्रम्यविधानाच्चेतिहासपुराणधर्म्मशास्त्रेष्वैकाश्रम्या-नुपपत्तिः, तदप्रमाणमिति चेन्न प्रमाणेन खलु ब्राह्मणेनेतिहास पुराणस्य प्रामाण्यमभ्यनुज्ञायते ते वा खल्वेते अथर्वाङ्गिरस एतदितिहासपुराणस्यप्रामाण्यमभ्यवदन्, "इतिहासपुराणं पञ्चमो वेदानां वेद" इति तस्मादयुक्तमेतदप्रामाण्यमिति, अप्रामाण्ये च धर्म्मशास्त्रस्य प्राणभृतां व्यवहारलोपाल्लोकोच्छेदप्रसङ्गः, द्रष्टृप्र-वक्तृसामान्याच्चाप्रामाण्यानुपपत्तिः, य एव मन्त्रब्राह्मणस्य द्रष्टारः प्रवक्तारश्च ते खल्वितिहासपुराणस्य धर्म्मशास्त्रस्य चेति। विषय-व्यवस्थानाच्च यथाविषयं प्रामाण्यम्। अन्यो मन्त्रब्राह्मणस्य वि-षयोऽन्यश्चेतिहासपुराणधर्मशास्त्राणामिति। यज्ञो मन्त्रब्राह्मणस्य लोकवृत्तमितिहासपुराणस्य लोकव्यवहारव्यवस्थापनं धर्म्मशा-

स्त्रस्य विषयः, तत्रैकेन च सर्वं व्यवस्थाप्यत इति यथाविषयमेतानि प्रमाणानि, "इन्द्रियादिवदिति,, इत्यभिदधे वात्स्यायनः। स्पष्टमिदमेतेन यद्ब्राह्मणभागव्यतिरिक्तः कश्चित् पुराणेतिहाससंज्ञको लोकवृत्तरूपासाधारणविषयप्रतिपादको वाक्यकलापो यज्ञरूपप्रतिनियतासाधारणविषयप्रतिपादकान्मन्त्रब्राह्मणभागात्पृथगवस्थितो यस्य प्रामाण्यबीजम्मन्त्रब्राह्मणद्रष्टृप्रवक्तृद्रष्टृप्रवक्तृकत्वरूपं साधारणमिति । यदि ब्राह्मणानामितिहासपुराणपदार्थतामृषिरन्वमंस्यत तदा कथमिव पुराणानां प्रामाण्यं व्यवतिष्ठापयिषुर्म्महर्षिस्तदप्रमाणमित्याशङ्कमानः "पुराणेन खलु ब्राह्मणेनेतिहासपुराणस्य प्रामाण्यमभ्यनुज्ञायते" इति पूर्वोक्तं विपुलं व्यधास्यत प्रायसिष्यच्च । ब्राह्मणानां पुराणपदार्थत्वे तथाभिधानमसङ्गतं स्यान्नहि स्वमेव स्वप्रामाण्यसाधकमिति कश्चिदप्यऽनुन्मत्त उत्प्रेक्षेतापि तस्मात् "ब्राह्मणानि न वेदाः पुराणेतिहाससञ्ज्ञकत्वा" दित्यनादिपापवासनादूषिताऽशेषशेमुषीकस्य प्रतारकस्याभिधानम्पूतिकूष्माण्डायितम् ॥

और भी देखो महर्षि वात्स्यायन जी ने महर्षि गोतम जी के न्यायशास्त्र के चतुर्थाध्याय के प्रथम आह्निक ६२ सूत्र के भाष्य में ब्राह्मणग्रन्थों से पृथक् पुराण इतिहास ग्रन्थों को माना है :—

इतिहासपुराण और धर्मशास्त्रों में चारों आश्रम का विधान होने से एक ही आश्रम मानना ठीक नहीं यदि कोई कहे कि इतिहासपुराण अप्रमाण हैं उन का प्रमाण न मानना चाहिये तो ठीक नहीं क्योंकि प्रमाणभूत ब्राह्मणभाग ने इतिहासपुराण का प्रमाण माना है । अर्थात् अथर्ववेदीय ब्राह्मण भाग में लिखा है कि इतिहासपुराण चार वेदों के साथ एक पञ्चम वेद हैं अर्थात् वेद के तुल्य ही प्रमाणीभूत हैं इसलिये यह कहना ठीक नहीं कि इतिहासपुराण अप्रमाण हैं। और धर्मशास्त्र का प्रमाण न मानने से लोक के सब व्यवहारों की अव्यवस्था होगी । अर्थात् सब लोक नष्ट भ्रष्ट हो जांयगे इस लिये धर्मशास्त्र का भी प्रमाण मानना चाहिये । और जो ऋषि महर्षि लोग मन्त्र ब्राह्मणभागों के देखने और अध्यापन आदि से प्रचार करने वाले हैं वे ही इतिहासपुराण और धर्मशास्त्रों के भी प्रवर्त्तक हैं सो जैसे उन ऋषि

महात्मा लोगों के आश्रय से मन्त्रब्राह्मणभागों का प्रमाण किया जाता है वैसे ही उन्हीं महात्माओं के कहे होने से इतिहासपुराण और धर्मशास्त्रों का प्रमाण मानना चहिये और एक बात यह भी है कि मन्त्रब्राह्मण, धर्मशास्त्र और इतिहासपुराणों का विषय पृथक् २ है अपने २ विषय में इन का प्रमाण करना चाहिये अर्थात् मन्त्रब्राह्मण का विषय यज्ञ, धर्मशास्त्रों का विषय लोक व्यवहार की व्यवस्था करना और लोक में बीती हुई बातों का वर्णन करना इतिहास पुराण का विषय है उन में एक २ अपने २ विषय की व्यवस्था करता है इसलिये जैसे इन्द्रियां अपने २ विषय के ग्रहण करने में प्रमाणभूत हैं अर्थात् नेत्र रूप के देखने में प्रमाणीभूत हैं सूङ्घते वा सुनते समय नेत्र का कुछ काम नहीं पड़ता इसी प्रकार मन्त्रब्राह्मण, धर्मशास्त्र और इतिहासपुराणों को अपने २ विषय में प्रमाण मानना ठीक है यह वात्स्यायन जी का कथन है ॥

इस से यह बात सिद्ध होगई कि ब्राह्मणभाग से व्यतिरिक्त लोकवृत्तविरूप विषय का कहने वाला वाक्यसमूह कोई पुराणइतिहाससंज्ञक पुस्तक, यज्ञरूप विशेषविषय के कहने वाले मन्त्रब्राह्मणभाग से पृथक् है जिस के प्रमाण होने के मूल कारण वे ही ऋषि लोग हैं जोकि मन्त्रब्राह्मण के देखने और प्रचार करने वाले हैं। यदि वात्स्यायन ऋषि को ब्राह्मणभागों का हीं इतिहासपुराण नाम अभीष्ट होता तो इतिहासपुराण को प्रामाणिक ठहराने के लिये ब्राह्मणभाग की साक्षी क्यों देते ? इस से स्पष्ट है कि ब्राह्मणग्रन्थों की पुराणइतिहाससंज्ञा हो तो वात्स्यायन जी का कथन व्यर्थ हो जावे और अपने आप का प्रमाण आप नहीं होसकता जब इतिहासपुराण ब्राह्मणभाग से पृथक् नहीं हैं तो इतिहासपुराण के प्रामाणिक होने में ब्राह्मणभाग क्यो साक्षी दे सकता है ?। यदि ऐसा हो तो सभी अप्रमाण हो जावें इस प्रकार सिद्ध होने पर भी " पुराणइतिहाससंज्ञक होने से ब्राह्मणभाग वेद नहीं" यह अनादिकाल से सञ्चित पापवासनाओं से समस्तबुद्धि जिस की दूषित होगई ऐसे कपटरूप संन्यासी का कहना दुर्गन्ध से भरे कुम्हड़े के फल के तुल्य आचरण है अर्थात् जैसे दुर्गन्ध से भरे कुम्हड़े में कुछ सार नहीं केवल दुर्गन्ध ही है वैसे कपटमुनि संन्यासी का शरीर पापरूप बुद्धि से भरा था ॥

उ०—अब न्यायदर्शन वात्स्यायनभाष्य का जो प्रमाण दिया कि इतिहासपुराण के प्रामाणिक होने में ब्राह्मणभाग साक्षी देता है कि इतिहासपुराण चार वेदों में एक पञ्चम वेद है। इतिहासपुराण को जिस प्रकार श्रीस्वामी जी महाराज ने माना और हम लोग मानते हैं सो उस की व्यवस्था तो पूर्व लिख ही चुके हैं। अब विचार यह करना चाहिये कि वात्स्यायन ऋषि का क्या तात्पर्य है। न्यायदर्शन के चौथे अध्याय के पहिले आह्निक में एक अपवर्गपरीक्षा प्रकरण है उस में पूर्वपक्ष यह है कि शास्त्र के कई स्थलों में जन्म से मरणपर्यन्त यज्ञादि कर्म के साथ गृहाश्रम का विधान है तो सब देहधारी यावज्जीवन कर्म

करते २ मर जाया करेंगे किसी को मुक्ति के साधन योग समाधि वा ईश्वर की भक्ति विशेष का समय न मिलने से किसी की मुक्ति न होगी फिर मुक्ति २ गाना व्यर्थ है । इस पूर्वपक्ष के उत्तर वहां कई प्रकार से कई सूत्रों करके दिये हैं इस में एक उत्तर यह है कि " समारोपणादात्मन्यप्रतिषेधः " आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि अर्थात् ब्रह्मचर्य्य गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रमों के कर्त्तव्य अग्निहोत्रादि बाह्य कर्मों का अन्तरात्मा में आरोपण करे अर्थात् संन्यासी हो जावे इस कथन से चारों आश्रम सिद्ध होते हैं । इसी प्रकार के अनेक प्रमाण हैं । तथा एक यह भी प्रमाण दिया है कि इतिहासपुराण और धर्मशास्त्रों में चारों आश्रम का विधान होने से एक ही आश्रम मानना ठीक नहीं । यदि कोई कहें कि इतिहासादि का प्रमाण नही करेंगे तो ठीक नहीं क्योंकि इतिहासपुराण को ब्राह्मणभाग ने प्रामाणिक ठहराया है कि इतिहासपुराण एक पांचवा वेद * है ।

इस प्रकरण से इतिहासादि का निर्वचन नहीं कि इतिहासादि किन को कहते हैं किन्तु अपवर्गपरीक्षा है । तथापि इस से इतिहासपुराण प्रामाणिक ठहरते हैं सो भी वर्णाश्रमादि वैदिक और स्मार्त्त धर्मों के साक्षी हैं इस से इतिहासादि का प्रमाण वात्स्यायन ऋषि ने माना है किन्तु मतमतान्तर के परस्पर झगड़े और वेदादिविरुद्ध असम्भव बातों के होने में प्रमाण नहीं माना तो इस से भी आप के कहे हुए मतवाद के पुराण सिद्ध नहीं हो सकते तथा ब्राह्मणग्रन्थों की इतिहासादि संज्ञा भी नष्ट नहीं हो सकती । जैसे एक ही पुस्तक की इतिहासपुराण और वेदसंज्ञा होने में परस्परविरोध आता है वैसे एक ग्रन्थ की इतिहासपुराण और ब्राह्मणसंज्ञा रखने में कोई दोष नहीं आता । जैसे एक ही पुस्तक की ब्राह्मण और उपनिषद्संज्ञा विषय भेद से होती है अर्थात् ब्रह्मनाम वेद के व्याख्यानरूप भाग को ब्राह्मण और ईश्वर के साक्षात् प्रतिपादक भाग को उपनिषद् कहते हैं जैसे शतपथ के १४ काण्ड ब्राह्मण और एक चौदहवें काण्ड को बृहदारण्यक उपनिषद् कहते हैं वैसे ही ब्राह्मणग्रन्थों में जो २ अंश पहिले अङ्क में लिखे इतिहासपुराण के लक्षण से मिलता है वह इतिहासपुराण और वेदव्याख्यारूप वाक्यसमुदाय ब्राह्मण कहाता है । यदि कहो कि ब्राह्मणभाग ने इतिहासपुराण का प्रमाण स्वीकार किया इस वाक्य से ब्राह्मणभाग से पृथक् इतिहासपुराण

---

* सब शास्त्र और लोक में प्रसिद्ध वेद चार ही हैं इसी लिये चार की संख्या के स्थान में भी वेदशब्द का प्रयोग सर्वसाधारण करते हैं तो पांचवां वेद कहना केवल प्रशंसा विशेष से तात्पर्य है अर्थात् वेदानुकूल विषयों का सुगम प्रकार वर्णन होने से मनुष्यों का वेद के तुल्य कल्याण करने वाले हैं इस से इतिहासपुराण को पञ्चम वेद कहा है जैसे किसी धर्मिष्ठ राजा को कोई साक्षात् ईश्वर कहै । वैसे यहां भी जानना चाहिये ॥

हुए तो इस का एक उत्तर तो यही पूर्व लिखा गया है कि ब्राह्मणग्रन्थों से भिन्न अन्य ग्रन्थ भी मतमतान्तर के परस्परविरोध से रहित वेदादिसत्यशास्त्रानुकूल हों जिन में मनुष्यों के शुद्ध २ निष्पक्ष चरित्र लिखे हों उन को इतिहासपुराण माना जावे तो कुछ हानि नहीं परन्तु जिन को आप लोग पुराण मानते हैं वे जब आपस में ही परस्पर विरुद्ध हैं तो वेदादि के अनुकूल होना कैसे हो ? और इस समय पर प्रवृत्त पुराण कि जिन के विषय में आप लोग यही निश्चय करे बैठे हो कि :-

"अष्टादशपुराणानां कर्त्ता सत्यवतीसुतः"

अठारह पुराणों के कर्त्ता व्यास जी हैं इस पर हमारा यह प्रश्न है कि जिन वात्स्यायन ऋषि के प्रमाण से पुराणों को आप सिद्ध करते हैं उन से व्यास जी पहिले हुए वा पीछे ? । यदि कहो कि व्यास जी के पुराण बनाने के पश्चात् न्यायसूत्र पर भाष्य बनाने वाले वात्स्यायन जी हुए तो यह बात महाभारतादि किसी इतिहास से सिद्ध न कर सकोगे क्योंकि व्यास जी का होना द्वापर के अन्त में प्रसिद्ध है और कलियुग में आ कर राजा जनमेजय के समय महाभारत की प्रसिद्धि हुई है इस के पीछे किसी ऋषि की उत्पत्ति वा इतिहास प्रसिद्ध नहीं है यह बात बहुधा इतिहासज्ञ लोगों को अच्छे प्रकार ज्ञात है। और यदि कहो कि व्यास जी से पहिले ही वात्स्यायन जी हुए तो हमारा पक्ष सिद्ध हो गया कि वात्स्यायन जी के समय में व्यास जी उत्पन्न भी नहीं हुए थे तो अठारह पुराण कहां से बनालिये ? । जब ये आप के पुराण नहीं थे तो वात्स्यायन जी ने और ब्राह्मणभाग ने किन इतिहासपुराणों को प्रामाणिक ठहराया ? ।

द्वितीय यह भी समझिये कि महर्षि पाणिनि आदि के निर्मित अधिकतर प्राचीन ग्रन्थों में भी इतिसाहपुराण शब्द आते हैं कि जब व्यास जी का नाम भी न था जैसे "इतिहासमधीतेऽसौ, ऐतिहासिकः । पुराणमधीते पौराणिकः । इतिहास को पढ़े वे ऐतिहासिक और पुराण को पढ़ने वाले पौराणिक कहाते हैं। क्या कोई पण्डित वा साधारण भी कह सकता है कि जब तक व्यास जी ने पुराण नहीं बनाये थे तब तक ऐतिहासिक पौराणिक शब्द ही नही थे ? जब शब्द थे तो किन पुराणों को पढ़ने वाले पौराणिक कहते थे ? । इस से यह सिद्ध हुआ कि जो पुराण पहिले से वर्णाश्रम धर्म के वेदानुकूल प्रतिपादन करने वाले थे उन्हीं को वात्स्यायन ऋषि ने प्रामाणिक कहा है क्योंकि ये इस समय में प्रवृत्त पुराणाभास के तो बनाने वाले भी कोई नहीं जन्मे थे तो प्रामाणिक किस को कहते ॥

और भी देखिये महर्षियों का सिद्धान्त है कि-

दशमेऽहनि किञ्चित्पुराणमाचक्षीत ।

अश्वमेध यज्ञमें दशमें दिन थोड़ी पुराण की कथा कहे । आप लोगो के विचारानुसार अश्वमेध यज्ञ जब कलियुग में वर्जित है और पुराण कलियुग के आरम्भ में बनें तो यह वचन सर्वथा व्यर्थ हुआ क्योंकि जब अश्वमेध होते थे तब तो पुराण ही न थे कथा किस की कहते ? और जब से पुराण बनाये तब से अश्वमेध करना ही रोक दिया और करने के सामर्थ्य वाले चक्रवर्त्ति राजा भी न रहे इस लिये यह जो आज्ञा है कि अश्वमेध में दशमें दिन थोड़ी पुराण की कथा कहे, तभी सार्थक हो कि जब व्यास जी से पहिले भी पुराण मानें जावें । यह बात अनेक प्राचीन ग्रन्थों से सिद्ध है कि पुराण बहुत प्राचीन काल से चले आते हैं । ब्राह्मणग्रन्थो में बहुधा इतिहासपुराण के नाम आते हैं और ब्राह्मणो को आप लोग अपौरुषेय वेद मानते हो तो कहिये कि व्यास जी जब नही थे तब कौन से ग्रन्थ पुराण शब्द से लिये जाते थे ? । वा जब तक आप के पुराण नहीं बने तब तक ब्राह्मण ग्रन्थों का यह लेख कि "इतिहास पुराण वेदो में पाचवां वेद है" व्यर्थ ही रहा ? । और जैसे रघुवंशी आदि अनेक राजाओं ने अनेक अश्वमेध यज्ञ किये तब व्यास जी कृत पुराण न होने से किस की कथा सुनते थे । अथवा कथा ही नहीं कहते सुनते थे ? और हम लोग तो वस्तुतः आप के पुराणों को पुराणे नहीं मानते क्योंकि वे थोड़े काल के बने होने से नवीन हैं और वेदादिशास्त्र से विरुद्ध होने के कारण प्रामाणिक कक्षा में नहीं इसी लिये व्यास जी के बनाये भी नहीं हैं किन्तु मतवादियों के कल्पित हैं तो उक्त दोष हमारे पक्ष में नहीं आता कि व्यास जी से पहिले पुराण न हों । हम लोग पुराणइतिहासों की प्रवृत्ति प्राचीन मानते हैं इसी लिये वात्स्यायन ऋषि के समय आदि में सर्वदा उस प्रकार के ग्रंथों का नाम पुराणादि हो सकता है कि जिन में पूर्व कहे पुराणादि के लक्षण घट सकते हों और वे लक्षण ब्राह्मणों में भी घटते हैं इसी लिये श्री स्वामी जी महाराज ने ब्राह्मणग्रन्थों को भी पुराण माना है । अब महामोहविद्रावण सम्पादक जी से पूछना चाहिये कि आप जो वात्स्यायन महर्षि के वचनों से अपने पुराणों को प्रामाणिक सिद्ध करते थे सो उलटे असिद्ध हो गये क्योंकि वे पुराण वात्स्यायन जी के समय में बने ही नहीं थे तो जो पुस्तक उन के समय में पुराण लक्षणानुकूल थे उन्हीं का प्रामाणिक होना सिद्ध है । यहा यही विचार दृढ़ होता है कि जो विषय वस्तुतः बनावटी वा निर्मूल होता है उस की सिद्धि के लिये कोई कितने ही पङ्ख फटफटावे और कैसे हो प्रमाण खोज खाज के लावे अन्त में वे ही प्रमाण उस पक्ष के साधक नहीं होते किन्तु बाधक ही हो जाते हैं । जैसे महामोहविद्रावण के सम्पादक जी ने बड़े परिश्रम से निर्मूल पुराणों की सिद्धि के लिये आर्षप्रमाण खोजा, परन्तु वही प्रमाण उन के पक्ष का बाधक हो गया ।

यदि कहैं कि हमारा तात्पर्य प्रचरित १८ पुराणों की सिद्धिपरक नहीं किन्तु स्वामी जी ने जो ब्राह्मणग्रन्थों को इतिहासपुराण माना है सो उन प्रमाण से ब्राह्मण ग्रन्थों से पुराणों का पृथक् सिद्ध करना प्रयोजन है क्योंकि यदि वात्स्यायन महर्षि को ब्राह्मणग्रंथ पुराणसंज्ञक अभीष्ट होते तो ब्राह्मणग्रन्थों से पुराण इतिहासों को क्यों प्रामाणिक ठहराते ? क्योंकि एक ही ग्रन्थ में साध्यसाधनभाव नहीं घट सकता तो प्रथम उत्तर यह है कि एक ग्रन्थ में भी साध्यसाधनभाव होना अविरुद्ध है। जैसे कि एक ही शरीर में हस्तपादादि अवयवों में साध्यसाधनभाव रहता है ॥

इसी प्रकार ग्रन्थों में भी एक ग्रंथ का कोई विषय प्रमाणरूप है उस की अपेक्षा ग्रंथान्तर का विषय प्रमेय हो जाता है कहीं एक ही ग्रन्थ का एक विषय प्रमाणरूप दूसरा उसी का प्रमेय हो जाता है तथापि यह दूर २ है किन्तु एक ही वाक्य में वाक्यावयव परस्पर प्रमाणप्रमेयभाव सम्बद्ध होते हैं जैसे प्रतिज्ञारूप साध्य वा प्रमेय के साधक वा प्रमाण हेतु-अनुमान और उदाहरण प्रत्यक्ष होते हैं इसी प्रकार सर्वत्र साध्यसाधनभाव लगा रहता है। वैसे यहां भी कर्मकाण्ड विधायक विधि अर्थवादादि लक्षणलक्षित ब्राह्मणभाग साधन वा प्रमाण और उस एक ही ग्रंथस्थ चातुराश्रम्य विधान का साक्षी इतिहासपुराण लक्षणलक्षित विषय साध्य वा प्रमेय है। अभिप्राय यह है कि जिस से किसी विषय का निश्चय करें वह साधन वा प्रमाण कहाता है जैसे नेत्र रूप के ग्रहण में साधन वा प्रमाण है और रूप साध्य वा प्रमेय है। वैसे यहां भी प्रमाणीभूत ब्राह्मणभाग साधन वा प्रमाण तथा इतिहासपुराण साध्य वा प्रमेय हैं। इस में उन लोगों का कथन है कि जैसे दीपक से अन्य पदार्थ देखे जाते हैं किन्तु एक दीपक को देखने के लिये उसी दीपक की अपेक्षा नहीं होती ऐसे ही एक ग्रंथ में उसी को प्रमाण और प्रमेय दोनों नहीं मान सकते। इस पर हमारा कथन है कि जैसे एक घटीयंत्र कालज्ञान का प्रमाण है यदि उस में सन्देह पड़े तो जैसे दूसरे प्रमाणीभूत घटीयंत्र से उस का निश्चय करते हैं वैसे ही एक ग्रन्थ में विषय भेद से प्रमाणप्रमेयभाव हो सकता है। ऐसा न मानें तो लौकिक वा शास्त्रीय कोई व्यवहार सिद्ध नहीं हो सकता। जो लोग ब्राह्मणग्रन्थों को अपौरुषेय वेद मानते हैं उन के मत में भी यह दोष आवेगा जैसे ब्राह्मण में लिखा है कि "एतदृचाभ्युक्तम्" अर्थात् यह विषय ऋचा से भी कहा है अर्थात् ब्राह्मण ग्रन्थ में कहे विषय की पुष्टि के लिये ऋचा का प्रमाण दिया। जब मन्त्रब्राह्मण दोनों स्वतःप्रमाण वेद हैं तो वेद में वेद का प्रमाण न देना चाहिये। तथा ब्राह्मण और उपनिषद् दो विषय एक ग्रन्थस्थ ही हैं उन में भी साध्यसाधन और प्रमाणप्रमेयभाव रहता ही

है। इस से यह सिद्ध हुआ कि ब्राह्मणभाग और इतिहासपुराण एक ही के नाम हों तो भी महर्षि वात्स्यायन जी का कथन यथार्थ सिद्ध होता है और इतिहासपुराण की सिद्धि में ब्राह्मणभाग का प्रमाण देना ठीक बनता है। और जो अपने ही अपना प्रमाण होना विरुद्ध समझा जाता है यह एक ही विषय जहां हो वहां सार्थक हो सकता है जैसे उसी लकड़ी से उसी को नहीं तोड़ सकते यह भी वहीं निर्विघ्न कह सकते हैं कि जहां अवयव समुदायरूप बुद्धि भेद नहीं जब उसी लकड़ी के दो अवयव हों तो एक से दूसरा तोड़ा जा सकता है। और यह अवयवरूप बुद्धि का अभेद वाक्यावलीरूप पुस्तकों में नहीं घट सकता इस से यहां साध्यसाधनभाव सर्वथा अविरुद्ध है। इस से यह आया कि वात्स्यायन ऋषि का तात्पर्य ब्राह्मणान्तर्गत इतिहासपुराण के मानने पर भी ठीक ही रहता है कुछ विपरीत भाव नहीं आता॥

द्वितीय उत्तर यह है कि महर्षि वात्स्यायन जी को ब्राह्मणभागों से पृथक् भी इतिहासपुराण अभीष्ट हों तो हमारे पक्ष में कोई दोष नहीं आता किन्तु वात्स्यायन जी के प्रमाण से आप जिन पुराणों को पुराणत्व सिद्ध करना चाहते हो उन का अप्रमाण तो सिद्ध इसी से होता है कि वे वात्स्यायन जी के समय में बने ही नहीं थे तो जो कोई अन्य ग्रन्थ उस समय में पुराणलक्षणलक्षित होंगे उन को पुराण मानने में हमारे पक्ष की कुछ हानि नहीं॥

श्री स्वामी जी महाराज का सिद्धान्त भी यही है कि ब्राह्मणपुस्तक अनादि अपौरुषेय वेद नहीं क्योंकि उन की इतिहासपुराणसंज्ञा भी है इतिहासपुराण का विषय किन्हीं मनुष्य विशेषों के आश्रय से नियत काल से चलता है इस से जिस पुस्तक में इतिहासपुराणसम्बन्धी विषय हों वह अनादि न हो सकने से वेद नहीं हो सकता इस से ब्राह्मणग्रन्थ वेद नहीं। यह सिद्धान्त अबाध्य है इस में जो लोग बाधा डालना चाहते हैं वे स्वयमेव बाधित होते हैं जैसे सूर्य की ओर कोई क्रोध से ष्ठीवन करे तो उसी के ऊपर लौट कर थूक गिरेगा सूर्य की कुछ हानि नहीं हो सकती। ऐसे ही श्री स्वामी जी का प्रताप सूर्यवत् है उन के सिद्धान्त में बाधा करने की चेष्टा करने वाले महात्मा पूर्वोक्त प्रकार स्वयमेव बाधित होते हैं। महामोहविद्रावण के सम्पादक महाशय श्री स्वामी जी के पक्ष का खण्डन करते २ थक गये बड़े क्रोध में आकर नीच २ कुवाच्यों से भी खण्डन करने लगे हैं उन्हों ने परपक्ष प्रतिषेध में यह भी एक साधन समझ लिया। अहो! बड़े आश्चर्य का विषय है कि आज कल के पण्डित लोग किसी के प्रश्नों का उत्तर देने से कुछ घबराते हैं तो उत्तर देना भूलकर गालियां देने में प्रवृत्त होजाते हैं। हे परमेश्वर सर्वान्तर्यामी! ऐसे लोगों की बुद्धि को ठीक करना आप के ही आधीन है॥

ओ३म्

भगवद्गीता ॥

बाबू रामदयाल शर्म्मा ओवरसियर कामठी की ओर से भगवद्गीता विषयक एक प्रश्न आया है उन का लेख यह है:—

प्रिय महाशयगण! यदि भगवद्गीता श्रीव्यास महर्षि के विशुद्धज्ञान वा श्री कृष्ण महाराज के मुख से प्रकट हुई है तो हम को निश्चय है कि व्यास जी के बनाये शारीरक सूत्र वा सत्यशास्त्रों के अनुकूल अवश्य होगी। यदि व्यासादि महात्माओं के नाम से किसी धूर्त्त ने बना कर महाभारत में घुसेड़ दी है तो निःसन्देह उन के विरुद्ध होगी। इसलिये मैं प्रार्थी और अभिलाषी हूं कि आर्यसिद्धान्त पत्र में इस विषय पर विचार किया जावे और यह भी दर्शाया जावे कि श्री स्वामी जी महाराज ने उस के ७०० श्लोक में कौन २ से श्लोक को पूर्वापर विरोधी वा प्रक्षिप्त कहा वा जैसा कुछ गीता को वे मानते थे यथार्थता से बता दिया जावे॥

इस पर विचार—श्री१०८स्वामी दयानन्दसरस्वती जी महाराज ने भगवद्गीता वा मनुस्मृति आदि पर अपने किसी पुस्तक में विशेष आन्दोलन तो किया नहीं कि भगवद्गीता में इतने इतने श्लोक प्रक्षिप्त वा परस्पर विरुद्ध हैं परन्तु अपने ग्रन्थों में गीता के श्लोक प्रमाण के लिये अनेक स्थलों में लिखे हैं। श्रीस्वामीजी महाराज का विचार था कि वेदभाष्य पूर्ण होने पश्चात् भगवद्गीता और मनुस्मृति आदि का भाष्य बनावेंगे तथा प्रक्षिप्त और विरुद्ध का निर्णय करेंगे सो न हो पाया इसी लिये ईश्वरीय प्रेरणा से श्री स्वामी जी महाराज के सत्य संकल्पों को पूर्ण करने के लिये आर्यधर्मसभा नियत हुई है कि जिस में ऐसे २ सहस्रों विषय निर्णीत हुआ करेंगे। इस भगवद्गीता के विषय में भी आर्यधर्मसभा से विशेष निर्णय तथा इस की टीका आर्यसिद्धान्तानुकूल की जावेगी। तथापि यहां थोड़ा सा विषय लिखता हूं। यद्यपि श्री स्वामी जी महाराज ने भगवद्गीता पर विशेष निश्चय नहीं किया तथापि उदाहरणमात्र सत्यार्थप्रकाशस्य सप्तम समुल्लास के १९० पृष्ठ में ईश्वर विषय पर लिखा है कि—

(प्र०) ईश्वर अवतार लेता है वा नहीं? (उत्तर) नहीं क्योंकि "अज एकपात्" "सपर्यगात् शुक्रमकायम्" ये यजुर्वेद के वचन हैं इत्यादि वचनों से सिद्ध है कि परमेश्वर अवतार नहीं लेता (प्रश्न):—

> यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
> अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥१॥ भगवद्गीता

---

* अब गीता पर पं० भीमसेनशर्म्मा ही निज सम्मति का लेख लिखेंगे आर्य्यधर्मसभा नहीं॥ तु० रा० स्वामी

श्रीकृष्ण जी कहते हैं कि जब २ धर्म का लोप होता है तब २ मैं शरीर धारण करता हूं ॥ (उत्तर) यह बात वेदविरुद्ध होने से प्रमाण नहीं। और ऐसा हो सकता है कि श्रीकृष्ण जी धर्मात्मा थे और धर्म की रक्षा करना चाहते थे कि मैं युग युग में जन्म लेके श्रेष्ठों की रक्षा और दुष्टों का नाश करूं तो कुछ दोष नहीं क्योंकि " परोपकाराय सतां विभूतयः " परोपकार के लिये सत्पुरुषों का तन मन धन होता है तथापि इस से श्रीकृष्ण जी ईश्वर नहीं हो सकते ॥

श्री स्वामी जी महाराज के ऊपर के लेख से स्पष्ट है कि वेदानुकूल साक्षात् ईश्वर का अवतार नहीं होता। यह बात अन्य ग्रन्थकारों के वचनों से सिद्ध है कि ईश्वर का साक्षात् अवतार नहीं होता योगशास्त्र के समाधिपाद में "तत्र-निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्" सूत्र पर व्यास जी ने लिखा है कि —

तस्यैश्वर्यं साम्यातिशयविनिर्मुक्तं, न तावदैश्वर्यान्तरेण तदतिशय्यते, यदेवातिशयि स्यात्तदेव तत्स्यात्तस्माद् यत्र काष्ठा-प्राप्तिरैश्वर्यस्य स ईश्वरः"

उस परमेश्वर का ऐश्वर्य किसी की समता वा वृद्धि से रहित है अर्थात् उस के तुल्य वा अधिक सामर्थ्य वाला कोई नहीं किसी का ऐश्वर्य उस के ऐश्वर्य को दबा नहीं सकता जो ऐश्वर्य सर्वोपरि हो कि जिस से परे कुछ न हो कि जहां मनुष्यादि की बुद्धि भी पूर्ण नहीं पहुंचती वही ऐश्वर्य उस का है इसलिये जहां ऐश्वर्य की अवधि हो कि इस से आगे अब किसी का सामर्थ्य नहीं हो सकता वही ईश्वर है। इस व्यास जी के कथन से यह सिद्ध होगया कि जिस के सामर्थ्य की बराबरी किसी के साथ न हो वही ईश्वर है जब शरीरधारण करके दुष्टों को मारना और श्रेष्ठों की रक्षा करना काम किया तो यह अनेक धर्मपरायण राजा महाराजों ने भी किया है और कर सकते हैं और ईश्वर वही हो सकता है कि जिस के काम को दूसरा कोई न कर सके। कंसादि का मारना भी कोई ऐसा काम नहीं कि जिस के लिये ईश्वर नव महीने गर्भ में बसे ?। क्योंकि उस की इच्छामात्र से ऐसे काम हो सकते हैं। बड़े आश्चर्य की बात है कि ऋषि महर्षियों में बहुधा लोग ईश्वर के वरदान की शक्ति यहां तक मानते हैं कि वे किसी से कहें कि भस्म हो जा तो वह भस्म हो जाता था जब उस ईश्वर की उपासना विशेष से ऋषियों में इतनी शक्ति हो जाती थी तो कंसादि के लिये ईश्वर को शरीरधारण करना लज्जा का स्थान नहीं है ?। अस्तु जो हो ॥

अब विचार यह है कि श्रीकृष्ण जी कौन थे ? इस पर यही कहना बन सकता है कि सर्वसाधारण मनुष्यों में सामर्थ्य विशेष रखने वाले योगीश्वर थे। मनुष्य को योगाभ्यासादि से जहां तक बल हो सकता है उस का कहना असम्भव नहीं तो दुःसाध्य अवश्य है।

नास्ति सांख्यसमं ज्ञानं न च योगसमं बलम् ॥

सांख्य के तुल्य ज्ञान और योग के तुल्य बल अन्य किसी प्रकार से प्राप्त नहीं हो सकता । श्री कृष्ण महाराज सर्वशास्त्रों के तत्व को जानने वाले योगी थे यह बात अनेक इतिहासादि और उन के उपदेशों से प्रसिद्ध है यदि कोई कहे कि इतिहासादि और उन के वचनों से तो उन का साक्षात् अवतार होना भी प्रसिद्ध है तो इस का उत्तर यही है कि योगाभ्यास से बल और शक्ति हो जाती है वह वेद शास्त्र से विरुद्ध और ईश्वरता से विपरीत नहीं है और साक्षात् ईश्वर का अवतार होना वेद से विरुद्ध और ईश्वरता से विपरीत कर्म है इस लिये श्री कृष्ण जी का योगिराज होना सम्भव है योगशास्त्र में लिखा है कि–

"संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम्"

जन्म जन्मान्तर के संस्कारों को धारणा, ध्यान, समाधि से साक्षात् करने से पूर्व जाति का ज्ञान योगियों को हो जाता है कि पूर्व जन्म में मैंने अमुक समुदाय में जन्म लेके अमुक २ कार्य किये इसी प्रकार पहिले २ अनेक जन्मों का ज्ञान हो जाता है । श्रीकृष्ण महाराज को भी पूर्व जातियों का ज्ञान था इसी लिये भगवद्गीता में अर्जुन से कहा है–

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ॥ १ ॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ २ ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ ३ ॥

अर्थ–हे अर्जुन! मेरे और तुम्हारे इस जगत् में बहुत जन्म बीत चुके उन सब बीते हुए जन्मों को मैं जानता हूं और तुम नहीं जानते । जब २ धर्म की हानि और अधर्म की प्रबलता होती है तब २ मैं अपने आत्मा को रचता अर्थात् शरीरधारी करता हूं ॥ श्रेष्ठों की रक्षा और दुष्टों का विनाश करने के लिये तथा धर्म की स्थिति करने के अर्थ युग २ में जन्म लेता हूं । योगी जनों को यह सामर्थ्य अपने आत्मा के साथ हो जाता है कि वे योगसिद्धि के बल से यथेष्ट सब लोक लोकान्तरों में घूमें जहां चाहें वहां रहें जब चाहें तब जन्मधारण करें जब न चाहें तब न करें । श्रीकृष्ण महाराज के अनेक बर्ताव से यह सिद्ध है कि वे श्रेष्ठों की रक्षा और धर्म की स्थिति चाहते थे तो योगबल से जन्मधारण कर उक्त काम करना असम्भव नहीं । यह सब की रीति है कि समयोपयोगि बात वा

उपदेश भी बुद्धिमान् करते हैं। श्रीकृष्ण जी नीतिशास्त्र की तो मूर्त्ति ही थे, इसी लिये महाभारत में लिखा है कि–

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्द्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥

अर्थ–राजा धृतराष्ट्र जी से सञ्जय कहते हैं कि जहां योगियों में उत्तम कृष्ण और धनुष्धारी अर्जुन उपस्थित हैं वहां श्री, विजय, कार्यसिद्धि और दृढनीति विद्यमान है यह मेरी सम्मति वा बुद्धि से निश्चय है। महाभारत में यह भी प्रसिद्ध है कि श्रीकृष्ण जी की नीति के प्रताप से ही पाण्डवों का विजय हुआ है भगवद्गीता में भी बहुधा श्रीकृष्ण जी ने सामयिक नीति अर्जुन के साथ वर्त्ती है। बहुत से वचन अपने में श्रद्धा उत्पन्न कराने के लिये श्रीकृष्ण जी ने अर्जुन से कहे हैं क्योंकि जब तक वक्ता में श्रद्धा नहीं होती तब तक उस के उपदेश को ध्यानपूर्वक सुनना और यथार्थ मानना कठिन होता है। श्रीकृष्ण जी का मुख्य तात्पर्य यही था कि अर्जुन किसी प्रकार युद्ध से विमुख न हो "प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः" जब दोनों ओर से शस्त्र चलना प्रवृत्त हुआ तब अर्जुन ने श्रीकृष्ण जी से कहा है कि मेरा रथ दोनों सेनाओं के बीच में ले चलो मैं देखूं कि किन के साथ युद्ध करूं गा। जब दोनों सेनाओं के बीच में रथ लेगये तब गुरु, सम्बन्धी और कुटुम्बियों के मारने में पाप समझ के अर्जुन युद्ध से घबराये तब श्रीकृष्ण जी ने अनेक प्रकार समझा के युद्ध के लिये उद्यत किया इसी का नाम "गीता" है परन्तु ७०० श्लोक बना कर कहने वा ७०० श्लोक का अभिप्राय सुनाने का समय श्रीकृष्ण जी को नहीं मिला था क्योंकि भीष्मपर्व में लिखे अनुसार भीष्म जी ने दश दिन युद्ध किया इस में पहिले दिन के युद्ध के आरम्भ में गीता विषयक उपदेश हैं। यदि प्रातःकाल से ही युद्ध का आरम्भ समझ लिया जाय तो भी ४ घड़ी से अधिक समय गीता सम्बन्धी उपदेश के कहने सुनने का नहीं मिल सकता क्योंकि आधे दिन में गीता का उपदेश, राजा युधिष्ठिर जी का कौरव सेना में जा कर भीष्म जी आदि मान्य पुरुषों से युद्ध की अनुमति लेना और कई योद्धा तथा साधारण सेना की परस्पर युद्ध होना ये तीनों कृत्य पहिले दिन के दुपहर तक हुए यदि गीता के ७०० श्लोक कहे सुने समझाये जावें तो कम से कम आधा दिन तो अवश्य चाहिये इस से यह प्रतीत होता है कि श्रीकृष्ण जी ने जो थोड़ा सा उपदेश किया था उस अभिप्राय पर पीछे श्लोक बनाये गये तथापि इस से यह प्रयोजन नहीं है कि गीता अप्रमाण है किन्तु विशेष कर सांख्य, योग, वेदान्त और धर्मशास्त्रों का अंश आने से श्री स्वामी जी महाराज अधिकांश में माननीय ही समझते थे और हम लोग भी वैसा ही समझते हैं॥

धर्मदिवाकर पत्र के लेख पर विचार

प्रिय विचारशील पुरुषो ! धर्मदिवाकर भाग ५ मयूख २ में उक्त पत्र के सम्पादक महाशय जी ने वेद के प्राचीन भाष्यकारों तथा नवीन भाष्यकारों की विवेचना करते २ और प्राचीनों की प्रशंसा गाते २ अनिर्वचनीय शब्दों से नवीन भाष्यकारों की मनमानी निन्दा की तथा श्री १०८ स्वामीदयानन्दसरस्वती जी के सिद्धान्त पर आक्षेप किया तद्यथा—लेख धर्मदिवाकर पत्र का—

सुमते अब खूब शोचने का स्थल है देखो स्वामी जी ने वैदिकसनातन भाष्य को दूषित कर अपना नवीन भाष्य बनाना प्रारम्भ किया था उस में नियामक शास्त्रों को छोड़ कामधेनूपवर्णावली को इतस्ततो योजना कर २ रेल तार आदि अनेक मनमाने विषय निकाले थे (कारण स्वामी जी ने शोचा था कि हलद लगे न फटकरी रंग चोखा ही आवे) बात यह है कि स्वामी जी को युरोपियन् लोगो की चाल चलन बहुत पसन्द थी” इत्यादि ॥

प्रिय पाठक ! इन सम्पादक धर्मदिवाकर महाशय को धन्यवाद देना चाहिये कि जो कथंचित् अपने पत्र को पूरा तो करते हैं (चाहें तुक मिलो या न मिलो किसी प्रकार कविताई में नाम तो प्रसिद्ध किये है सच है किसी कवीश्वर ने कहा है—

घटं भित्त्वा पटं छित्त्वा कृत्वा रासभरोहणम् ॥
येन केन प्रकारेण प्रसिद्धः पुरुषो भवेत् ॥

घड़े को फोड़ कपड़े को फाड़ गधे पर चढ़ जिस किसी प्रकार से बनें पुरुष प्रसिद्ध हो । कुछ हो इतना तो पुरुषार्थ प्रसिद्ध ही है कि धर्मदिवाकर जी भी श्री स्वामी जी के सिद्धान्त का खण्डन छापते हैं आश्चर्य तो यह है कि जो महाशय दूसरे के सिद्धान्त को ठीक नहीं जानते उन की लेखनी दूसरे के प्रतिपक्ष में निरालम्ब कैसे उठती है सम्पादक धर्मदिवाकर महाशय जी को चाहिये था कि यदि उन्हों ने श्री स्वामी जी के सिद्धान्त पर लेखनी उठाई थी तो उन का सिद्धान्त अच्छे प्रकार समझ लेते तब कुछ लेख लिखते इस स्थल पर विशेष क्या लिखूं किसी कवि का वचन है—

न वेत्ति यो यस्य गुणप्रकर्षं स तस्य निन्दां सततं करोति ।
यथा किराती करिकुम्भजाता मुक्ताः परित्यज्य बिभर्ति गुञ्जाः ॥१॥

जो पुरुष जिस के गुणों की प्रकर्षता को नहीं जानता वह उस की निन्दा किया करता है । जैसे किराती जन हस्तिमस्तक में उत्पन्न हुये मोतियों को छोड़

के घुंघुचियों को धारण करता है इसी प्रकार सम्पादक महाशय जी का आलाप है क्योंकि श्री स्वामी जी ने शिक्षादि षडङ्ग तथा अन्य नियामक शास्त्रों को अपने भाष्य में यथास्थान लिखा है उन का लेख नियामक शास्त्रों को परित्याग कर नहीं है वेद का जो सनातन तात्पर्य है वह नियामक शास्त्रों से ही विदित होता है सम्पादक महाशय जी महीधरादिकृत वेदार्थ को सनातन मानते होंगे पर वे सनातन कभी नहीं हो सकते क्योंकि वे अनेक स्थलों में ऋषि सिद्धान्तों से विरुद्ध पाये जाते हैं जिन की सूचना श्री स्वामीदयानन्दसरस्वती जी ने अपने लेख में बहुधा दिई है दुबारा यहां पर लिखना पिष्टपेषण होगा। यद्यपि श्री स्वामी जी के व्यतिरिक्त अन्य वेदार्थ दर्शाने वाले महाशयों ने वेदार्थ में प्रधानता से कर्मकाण्ड का वर्णन किया है पर वेद सर्वविद्यामूल है इन्हीं वेदों के तात्पर्य से अर्थवेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, आयुर्वेद, प्रसिद्ध हैं जिन में कलायन्त्रों के बनाने का वर्णन वाणविद्या का वर्णन गानविद्या का वर्णन भैषज्यविद्या का वर्णन महर्षियों ने विधिपूर्वक दर्शाया है इन्हीं वेदों के तात्पर्य से शिक्षादि षडङ्ग तथा न्याय, मीमांसा, सांख्य, योग, वेदान्त, धर्मशास्त्रादि अनेकशः विद्या निकाली हुई हैं यदि उन का मूल वेद में नहीं है तो वे वेद से अविरुद्ध क्यों मानी जाती हैं महर्षियों का सिद्धान्त यह नहीं है कि वेद में केवल कर्मकांड ही है अन्य अंश वेद में नहीं हैं किन्तु महर्षिजन वेद को सर्वविद्यामय सर्वविद्याओं का मूल मानते हैं अतएव वेदान्तशास्त्र में व्यास जी ने कहा है ॥

शास्त्रयोनित्वात् ॥

उक्त सूत्र के व्याख्यान में शङ्कराचार्य जी ने लिखा है कि—

"महतः ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म। नहीदृशस्य शास्त्रस्य ऋग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः संभवोऽस्ति" ॥

तात्पर्य्य यह है कि जो अनेकविद्यास्थानोपयुक्त और प्रदीपवत् समस्त अर्थों को प्रकाशित करने वाला सर्वज्ञकल्पित महान् ऋग्वेदादि शास्त्र उस का कारण ब्रह्म है क्योंकि ऐसे सर्वज्ञ के गुणों से युक्त ऋग्वेदादि लक्षणयुक्त शास्त्र का विना सर्वज्ञ के और किसी से सम्भव नहीं है। उक्त व्याख्या से यह तो प्रतीत हुआ कि सर्वज्ञकल्पित ईश्वरप्रणीत वेद सर्वविद्याओं के मूल हैं वेद सर्वपदार्थों को प्रदीप के समान प्रकाशित करते हैं फिर वेदार्थ दर्शाने वाले महाशय यदि वेद में एक कर्मकाण्ड को ही प्रधानता से प्रकाशित करते हैं तो वह विद्या क्या नाम

मात्र को वेद से सम्बन्ध रखती हैं श्रीस्वामी जी ने वेद के तात्पर्य्य में जो अनेक अर्थ दर्शाये हैं उन से यह तात्पर्य्य उन का न था कि वेद में यज्ञादि कर्मकाण्ड नहीं है किन्तु उन्हों ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में वेदभाष्य के प्रतिज्ञा विषय में लिखा है कि इस वेदभाष्य में शब्द और अर्थ द्वारा अनेक विषयों का वर्णन करेंगे लोगों के कर्मकाण्ड में लगाये हुए वेदमन्त्रों में से जहां जहां जो जो कर्म अग्निहोत्र से ले के अश्वमेध के अन्तपर्यन्त करने चाहिये उन का वर्णन यहां नहीं किया जायगा क्योंकि उन के अनुष्ठान का यथार्थ विनियोग ऐतरेय शतपथादि ब्राह्मण पूर्वमीमांसा श्रौत और गृह्यसूत्रादिकों में कहा हुआ है इस से प्रसिद्ध है कि श्री स्वामी जी महाराज वेदमन्त्रों के तात्पर्य्य के अनुकूल कर्मकाण्ड के वर्णन करने वाले सूत्रकार वा मीमांसाकार महर्षि जैमिन्यादिकों के कथनानुसार कर्मकाण्ड को मानते थे और जो तात्पर्य्य वेद का महर्षि जैमिन्यादि महात्माओं के विचार से निश्चित है उस को सर्वथा मानते थे महर्षियों का यह सिद्धान्त कभी नहीं है कि वेदमन्त्रों का अर्थ एक ही रतपिटारी में बन्द है किन्तु वह वेदमन्त्रों के वर्णों को अवश्य अनेकार्थक मानते थे । तद्यथा—

चत्वारि शृङ्गा त्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश ॥

उक्त मन्त्र पर निरुक्तकार यास्कमुनि जी की व्याख्या देखिये उन्हों ने क्या कहा है—

वेदा वा एत उक्तास्त्रयोऽस्य पादा इति सवनानि त्रीणि द्वे शीर्षे प्रायणीयोदयनीये सप्त हस्तासः सप्तछन्दांसि त्रिधा बद्धस्त्रेधा बद्धो मन्त्रब्राह्मणकल्पैर्वृषभो रोरवीति रोरवणमस्य सवनक्रमेण ऋग्भिर्यजुर्भिः सामभिर्यदेनमृग्भिः शंसन्ति यजुर्भिर्यजन्ति सामभिः स्तुवन्ति । महोदेव इत्येष हि महान् देवो यद्यज्ञो मर्त्यां आ विवेश हि मनुष्यानाविशति यजमानायेति ।

भावार्थः—उक्त व्याख्या से भगवान् यास्कमुनि जी मन्त्र को यज्ञ वर्णन में लगाते हैं (चत्वारि शृङ्गा) इस से चार वेदों का ग्रहण किया (त्रयोऽस्य पादाः) तीन सवन प्रातः सवन मध्यंसवन सायंसवन (द्वे शीर्षे) दो प्रायणीय उदयनीय कर्म (सप्त हस्तासः) सात गायत्र्यादि छन्द (त्रिधा बद्धः) मंत्र ब्राह्मण और कल्प से बंधा (वृषभो रोरवीति) इस यज्ञ का रवण अर्थात् यज्ञगत शब्द होना जो तीन

सवन कहे हैं उन के क्रम से यथार्थ जानना चाहिये जिस कारण यज्ञ कर्म ऋग्वेद यजुर्वेद और सामवेद इन तीनों से सिद्ध होता है अर्थात् ऋग्वेद और यजुर्वेद से यजन औरसामवेद से स्तवन यज्ञ कर्म में करते हैं ऐसा यज्ञ महान् देव मनुष्यों को आवेश करता है यज्ञकर्त्ता के लिये । अब इसी मन्त्र पर महर्षि पतञ्जलि जी व्याकरण महाभाष्य में लिखते हैं सो देखिये–

(चत्वारि शृङ्गा) चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्चेति। त्रयोऽस्य पादास्त्रयः काला भूतभविष्यद्वर्त्तमानाः। द्वे शीर्षे द्वौ शब्दात्मानौ नित्यः कार्यश्चेति। सप्त हस्तासोऽस्य सप्त विभक्तयः। त्रिधा बद्धस्त्रिषु स्थानेषु बद्धः उरसि कण्ठे शिरसीति। वृषभो वर्षणात्। रोरवीतिशब्दं करोति रौतिः शब्दकर्मा। महो देवो मर्त्यां आविवेश महान् देवः शब्दः मर्त्या मरणधर्माणो मनुष्यास्तानाविवेश। विशति महता देवेन नः साम्यं स्यादित्यध्येयं व्याकरणमिति ॥

भावार्थ–व्याकरण महाभाष्यकार महर्षि पतंजलि जी उक्त मन्त्र से व्याकरण का प्रतिपादन करते हैं चत्वारि शृङ्गा—व्याकरण शास्त्र में चार जो पदजात हैं जिन से पद प्रकट होते हैं वे शृङ्गरूप हैं संज्ञा उन की यह हैं नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात इस व्याकरण के भूत भविष्यत् वर्त्तमान तीनों काल तीन पैर हैं शब्द और आत्मा दो शिर हैं उन में एक नित्य है एक कार्य है इस के सात विभक्ति सात हाथ हैं तीन स्थानों में वक्षःस्थल कण्ठ और शिर में बँधा हुआ है शब्द वर्षा करने से वृषभ है अत्यन्त रव इस शब्द का शब्द करता है ऐसा महान् देव शब्दशास्त्र मरणधर्मा जो मनुष्य उन को प्रवेश करता है उस महान् देव से हमारी समता हो अतएव शब्दशास्त्र व्याकरण का अध्ययन करना हमें योग्य है देखिये जब एक मन्त्र के उन्हीं पदों से दो महर्षि अलग २ विषयों का प्रतिपादन करते हैं, जो कि विषय परस्पर किसी अंश में एकता नहीं रखते यदि परम्परा ऋषि महर्षि जन भी मानते तो जैसे नवीन भाष्यकार एक के पीछे दूसरे चलते हैं अर्थात् उवट जी ने कहा उसी को महीधर जी ने कहा पिसे को पीसा इतना विशेष किया कि उवट जी के कहे हुए को कुछ विशद कर दिया वैसे महर्षि जन भी द्वितीय अर्थ द्वितीय तात्पर्य मन्त्र में कभी नहीं दर्शाते इस से सिद्ध है कि महर्षि जन एक ही रत्न पिटारी में वेद मन्त्रों को बन्द नहीं किये हैं विशेष और भी मुझे कुछ लिखना है सो अगले अंक में लिखा जायगा ॥

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥

भाग १ | भाद्र संवत् १९४४ | अङ्क ३

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ॥

(अंक २ पृष्ठ ३२ से आगे धर्मदिवाकर का उत्तर)

वेद मन्त्रों के अनेकार्थ महर्षि जन दर्शाते हैं इस अंश में और भी मन्त्र बहुत हैं कि जिन की व्याख्या में महर्षियों ने अनेकार्थ दर्शाये हैं ॥ जैसे—

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥

उक्त मन्त्र की व्याख्या यास्कमुनि जी ने अनेक महर्षियों के सिद्धान्त के साथ इस प्रकार किई है:—

चत्वारि वाचः परिमितानि पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मेधाविनो गुहायां त्रीणि निहितानि नार्थं वेदयन्ते गुहा गूहते-स्तुरीयं त्वरतेः । कतमानि तानि चत्वारि पदानि ओंकारो महाव्याहृतयश्चेत्यार्षम् । नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्चेति वैयाकरणाः । मन्त्रःकल्पो ब्राह्मणं चतुर्थी व्यावहारिकीति याज्ञिकाः । ऋचो यजूंषि सामानि चतुर्थी व्यावहारिकीति नैरुक्ताः । सर्पाणां वाग्वयसां क्षुद्रस्य सरीसृपस्य चतुर्थी व्यावहारिकीत्येके । पशुषु तूणवेषु मृगेष्वात्मनि चेत्यात्मप्रवादाः, अथापि ब्राह्मणं भवति सा वै वाक् सृष्टा चतुर्धा व्यभवदेष्वेव लोकेषु त्रीणि पशुषु तुरीयं या

पृथिव्यां साग्नौ सा रथन्तरे यान्तरिक्षे सा वायौ सा वामदेव्ये या दिवि साऽऽदित्ये सा बृहति सा स्तनयित्नावथ पशुषु ततो या वागत्यरिच्यत तां ब्राह्मणेष्वदधुस्तस्माद् ब्राह्मणा उभयीं वाचं वदन्ति या च देवानां या च मनुष्याणामिति ॥

भावार्थ—वाणी के चार परिमाण पद हैं उन्हें जो मेधावी बुद्धिमान् ब्राह्मण जन हैं वे जानते हैं उन चारों में से तीन बुद्धिस्थ रहते हैं पदार्थ का विज्ञान नहीं कराते हैं कौन वे चारपद हैं ओंकार और तीनों महाव्याहृति यह सामान्य वेद सिद्धान्त है। नाम (प्रातिपदिक) आख्यात (क्रियापद) उपसर्ग और निपात हैं यह वैयाकरण कहते हैं। मन्त्र कल्प ब्राह्मण और चौथी व्यावहारिक वाणी है यह याज्ञिक महर्षियों का सिद्धान्त है। ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद और चौथी व्यावहारिक वाणी है यह निरुक्तकार महर्षियों का सिद्धान्त है। सर्पों की वाणी पखेरुओं की वाणी छोटे जीव जो रेंग के चलते हैं उन की वाणी और व्यावहारिक वाणी हैं यह भी किन्हीं एक महर्षियों का सिद्धान्त है। पशुओं में वाजों में वनचर मृगादिकों में और आत्मा में जो वाणी हैं उन का ग्रहण है ऐसा आत्मवादी महर्षियों का सिद्धान्त है। पूर्वोक्त अनेक ऋषियों के सिद्धान्त अलग २ हैं तथापि ब्राह्मणभाग और ही अंश का प्रतिपादक है तद्यथा (सा० इत्यादि) वह वाणी सृष्टिकर्त्ता ईश्वर की बनाई हुई चार प्रकार से प्रकट हुई है इन्हीं लोकों में अर्थात् तीन प्रकार की पशुओं में और जो चतुर्थ प्रकार की वाणी है वह पृथिव्यादिकों में विद्यमान है इस व्यवस्था से कि जो वाणी पृथिवी में है वह अग्नि के बीच अर्थात् संबंधी कर्मों में और वह रथन्तर में तथा जो अन्तरिक्ष में है वह पवन और वामदेव्यगान में विद्यमान है जो दिव्लोक में है वह आदित्य और बृहत् रथन्तर में और बिजुली में विद्यमान है उक्त प्रकार से जो वाणी पशुओं में कही हुई हैं इन से जो वाणी अलग प्रतीत होती है उस को ब्राह्मणों में स्थापन की है इस कारण ब्राह्मण जन दोनों प्रकार की वाणी अर्थात् मनुष्यों और जो देवों में विद्यमान है उस को कहा करते हैं ॥

अब विचार करना चाहिये कि जो एक ही मन्त्र के अर्थ को महर्षि जन अपने २ सिद्धान्त के अनुकूल दर्शा रहे हैं तो यह कैसे निश्चय हो सकता है कि महर्षि जन एक अर्थ सनातन मानते हैं और द्वितीय अर्थ वा तात्पर्य्य से अपने २ सिद्धान्त पर वेद मन्त्रों की विवेचना न करते हैं किन्तु महर्षिजनों के सिद्धान्त से प्रतीत होता है कि वेद अनेकार्थ हैं ॥

स्वरसञ्चार के लिये जो धर्मदिवाकर ने लिखा है वह अवश्य स्वरगण वेदार्थ को यथार्थभाव से दर्शा रहा है पर धर्मदिवाकर जी! महात्माओं की निन्दा छोड़

तनिक ध्यान दीजिये विचारिये तो श्री १०८ स्वामी दयानन्दसरस्वती जी ने जो वेदार्थ दर्शाया है उस में कहीं कोई स्थल स्वरसंचार से विरुद्ध भी है ? उन का दर्शाया कोई स्वर से विपरीत भी है? कि वृथा महात्माओं की निन्दा ही करना तुमने परमधर्म मान रक्खा है । यद्यपि स्वरसंचार दिखाते हुए आपने कई पदों की विवेचना की पर "नमस्ते" इन पदों की विवेचना में जो अर्थ आपने लिखे हैं वह परमपुरुषार्थ चिन्तनीय है क्योंकि इतनी दूर किसी प्रकार आपने धावन तो किया यह स्वरसंचार ही का फल था जो अर्थ आप ने किये महाशय ! उन में से जो आपने द्विस्वर मान के यह अर्थ किया कि मस्तक में कुछ नहीं है इस पर आप को शतशः धन्यवाद है पर यह पुरुषार्थ तो किसी दूसरे का प्रतीत होता है आश्चर्य नहीं जो श्री १०८ श्रीमान् गुरुवर उदयप्रकाश जी की लिपि आप को हस्तगत हुई हो । अस्तु जो हो । पर आप ने जो कहा तदनुसार अवश्य आर्य विवेकीजनों के मस्तक में मतमतान्तरों के ऊर्ध्वपुण्ड्र, त्रिपुण्ड्र, वा रामफटाका आदि चिह्न नहीं होते किन्तु उन के शुद्ध मस्तक होते हैं । अतएव उन के लिये यह आप का अर्थ यथार्थ है पर इतने ही से "नमस्ते" इन पदों की अर्थपूर्त्ति नहीं है देखिये जब एक स्वर है तब नमना, अन्न, वज्र, यह सब अर्थ होते हैं क्योंकि निघंटु जो वेद का कोश है उस में नमस् अन्न के नामों में तथा वज्र के नामों में भी पढ़ा है इस से एक स्वरपक्ष में "नमस्ते" का यह अर्थ हुआ तुम्हारे लिये नमस्कार हो तुम्हारे लिये अन्न हो वा तुम्हारे लिये वज्र हो इत्यादि होगा । तथा द्विस्वर पक्ष में जो आप ने अर्थ किया यह भी होता है ॥

अब फिर भी आप को सचेत होना चाहिये और जो श्री स्वामी जी के दर्शाये हुए वेदार्थ में कोई अंश स्वरसंचार विरुद्ध हो तो प्रकट करना चाहिये । और जो आपने अपने वाग्जाल में लिखा है कि "वृथा मूर्ख लोगों में अपने को सत्यार्थकर्त्ता कहना और महर्षि आचार्यों की निन्दा करना महाधूर्त्तता है या नहीं" इत्यादि धर्मदिवाकर जी टुक ध्यान दीजिये फिर भी आप को सूचना दी जाती है कि श्रीस्वामी जी महाराज ने महर्षियों की निन्दा कहां की है मिथ्या आलाप करने में आप को क्या लाभ है ॥

(अङ्क २ पृष्ठ २४ से आगे महामोह वि॰ का उत्तर)

वेदव्याख्याना (१) दित्यपरो महाप्रलापो भिक्षोः ।

अत्र ब्राह्मणानि न वेदाः वेदव्याख्यानरूपत्वादिति न्यायाकारः, अयञ्च हेतुरनैकान्तिकः वेदव्याख्यानं नाम वेदपदव्यपदेश्यवाक्य-

(१) वेदव्याख्यानादित्यप्यशुद्धं व्याकरणारीत्येति सूक्ष्ममीक्षताम् ।

कलापस्य पदान्तरेणार्थकथनम् तच्चेदं "प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वारूपाणि परि ता बभूव। यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयथं स्याम पतयो रयीणा" मिति याजुषो मन्त्रः अ० २३ मं०६५ ॥

"प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वाजातानि परि ता बभूव। यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयथं स्याम पतयो रयीणामित्यृचः ।

"नवो नवो भवसि जायमानोन्हाङ्केतुरुषसामेष्यग्रम् । भागन्देवेभ्यो विदधात्यायन्प्रचन्द्रमास्तिरते दीर्घमायु" रित्याथर्वणः

"नवो नवो भवति जायमानो ऽह्नाङ्केतुरुषसामेत्यग्रम् । भागन्देवेभ्यो विदधास्यायन्प्रचन्द्रमास्तिरते दीर्घमायु" रित्यृचः ।

एष्वाद्ययोर्मन्त्रयोर्विश्वारूपाणीति पदघटितादाद्यमन्त्राद्विश्वाजातानीति पदघटितस्य द्वितीयमन्त्रस्य, चरमयोश्च भवसि जायमान इति उषसामेष्यग्रमिति विदधास्यायन्निति च विलक्षणपदघटितादाद्यमन्त्राच्चतुर्थस्य मन्त्रस्य, भवति जायमान इति उषसामेत्यग्रमिति विदधात्यायन्निति च विलक्षणपदघटितत्वेन भिन्नतया वेदपदानां पदान्तरेणार्थकथनरूपस्य वेदव्याख्यानत्वस्य दुरपह्नवतया तदन्तर्भावेणैवानैकान्तिकम् । अत्र च "वेदव्याख्यानरूपत्वात्" इति हेतुस्सो (२) पाधिकोपि तथाहि । यत्र यत्र वेदत्वाभावो महाभारतादौ तत्र तत्र स्मर्य्यमाणकर्तृकत्वमिति साध्यव्यापकत्वम् । वेदव्याख्यानरूपत्वन्तु पूर्वोक्तेष्वमीषु मन्त्रेष्वपि तत्र च न स्मर्य्यमाणकर्तृकत्वमिति साधनाव्यापकत्वम् । तस्मात्स्मर्य्यमाणकर्तृकत्वं भवत्युपाधिः । नचास्तूपाधिरिति शङ्क्यम् । स्मर्य्यमाणकर्तृकत्वरूपोपाध्यभावेन पक्षत्वेनाभिमतेषु ब्राह्मणेषु वेदत्वरूपसाध्याभावस्यानुमानेन "ब्राह्मणानि न वेदा" इत्यनुमितेः प्रतिरोधात् । इत्युपरम्यते न्यायप्रयोगानभिज्ञस्य पदवाक्यपरिपाट्यनभिज्ञस्याऽधिकखण्डनात् ॥

(२) प्रकारान्तरेण व्यभिचारित्वप्रदर्शनम् ।

ब्राह्मणग्रन्थों के वेद न होने में वेदव्याख्यानात् (१) यह दूसरा महा अनर्थक वचन है। ब्राह्मण वेद नहीं वेद के व्याख्यानरूप होने से यह न्यायाभास है। (वेदव्याख्यानात्) यह हेतु न्यायशास्त्र की रीति से अनैकान्तिक नामक हेत्वाभास-निग्रहस्थान पराजय प्राप्ति है। वेद पद से कहे गये वाक्यसमूह का अन्य पद से अर्थ कहना यही वेद का व्याख्यान है। सो ऐसे जानो कि (प्रजापते०) इत्यादि यजुर्वेद के मन्त्र में "विश्वारूपाणि" पद है। यही मन्त्र जब ऋग्वेद में आया है वहां "विश्वाजातानि" पद आया है। तथा "नमोनमो०" इस मन्त्र में अथर्ववेद में मध्यम पुरुष की क्रिया और ऋग्वेद में प्रथम पुरुष की क्रिया आती है। इस से एक वेद का मन्त्र दूसरे की अपेक्षा यदि व्याख्यान हो जावे तो मन्त्र भाग में भी वेद सत्ता न रहेगी इस से वेदव्याख्यानरूप हेतु का व्यभिचार मन्त्र भाग में आने से अनैकान्तिक हेत्वाभास हो गया। द्वितीय यह भी है कि वस्तुतः वेदव्याख्यानरूप हेतु विशेषण विशिष्ट होना चाहिये जैसे-जहां २ महाभारतादि में वेद का अभाव है वहां २ सकर्तृक कार्य होना चाहिये इस से साध्य में व्यापकपन आता है। और वेदव्याख्यानरूप हेतु का व्यभिचार तो पूर्वोक्त इन मन्त्रों में भी आता है कि उक्त मन्त्र वेदव्याख्यानरूप तो हैं परन्तु सकर्तृक नहीं इस से साधन-हेतु में अव्याप्ति दोष है। यदि सकर्तृक हों तो मन्त्रभाग भी वेद न ठहरे गा इस से वेदव्याख्यान हेतु के साथ सकर्तृक उपाधि सिद्ध है। यदि कहा जावे कि उपाधि न मानी जावे तो क्या हानि है? तो सकर्तृक उपाधि के न होने से पक्षरूप माने हुए ब्राह्मणभागों में अपौरुषेयरूप वेदत्व आ जावे गा और व्याख्यानरूप मानना मन्त्रब्राह्मण दोनों में समान है क्योंकि मन्त्र भी मंत्रों के व्याख्यान हो सकते हैं। इस से ब्राह्मण वेद नहीं यह अनुमान सर्वथा ठीक नहीं अब न्याय की शैली और पदवाक्य की परिपाटी को न जानने वाले के अधिक खण्डन को समाप्त करते हैं ॥

यह महामोहविद्रावण की भाषा है-अब इस का संक्षेप से उत्तर-महामोहविद्रावण के आरम्भ में (मन्त्रभाग संहिता) शब्द जैसे लिखा था कि यह व्याकरण की रीति से अशुद्ध है वैसे यहां भी वेदव्याख्यान शब्द को व्याकरण रीति से अशुद्ध कहा है पर यह नहीं लिखा कि क्या अशुद्धि है इस से विदित होता है कि अशुद्धि लिखने में शङ्का हुई होगी कि हमारी ही भूल न हो और यह हो भी सकता है कि अशुद्धि निकालने वाला ही उलटा समझ जावे यदि आगे कोई

---

(१) वेद व्याख्यानात्-यह व्याकरण रीति से अशुद्ध है सूक्ष्म दृष्टि से देखो।

बनारस के पं० महाशय ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका आदि में कहीं अशुद्धि व्याकरण के प्रमाण पूर्वक उदाहरण सहित लिखें गे तो यथोचित उत्तर दिया जावे गा।

बनारस के पं० महाशय (वेदव्याख्यानात्) इस हेतु को अनैकान्तिक हेत्वाभास ठहराते हैं। सो यह ठीक नहीं क्योंकि अनैकान्तिक नामक हेत्वाभास कोई नहीं किन्तु सव्यभिचार नामक हेत्वाभास है इस से सव्यभिचार लिखना चाहिये था अब बनारस के पण्डितों की न्यायशास्त्र में निपुणता देखिये। पं० महाशय (वेद व्याख्यानात्) इस हेतु को सव्यभिचारहेत्वाभास ठहराते हैं। और उदाहरण यह देते हैं कि मन्त्रभाग में भी वेदव्याख्यानरूप दोष आता है अर्थात् एक वेद में वही मन्त्र अन्य प्रकार से है और दूसरे वेद में वही मन्त्र अन्यपद बदल के आने से व्याख्यानरूप हो गया क्योंकि व्याख्यान यही है कि पर्य्यायवाची शब्द से किसी पद का अर्थ कहना इस से यह आया कि जैसे मन्त्रों के व्याख्यान होने से ब्राह्मण पुस्तकों की वेदसंज्ञा नहीं वैसे मन्त्र भी मन्त्रान्तरों के व्याख्यान होने से वेद नहीं रहें गे। इस से वेदव्याख्यानरूप हेतु एक प्रकार से साध्य ठहरता है कि वेद जब व्याख्येय है तो उस का व्याख्यान किस प्रकार का होना चाहिये व्याख्यान व्याख्येय दोनों एक ही के नाम हो सकते हैं वा नहीं और व्याख्यान किस को कहते हैं इत्यादि प्रकार से यदि वेदव्याख्यानरूप हेतु को विचारणीय पक्ष में लाते हैं तो साध्यसमहेत्वाभास कहना चाहिये था अनैकान्तिक हेतु कहने से बनारस के पण्डितों की न्यायशास्त्र में भी प्रवीणता नहीं प्रतीत होती। न्यायशास्त्र की प्रवीणता वस्तुतः आधुनिक जगद्दाम बांधने वाले ग्रन्थों में कहां से आवे ?। अस्तु अब सव्यभिचारहेत्वाभास का उदाहरण देखिये कि जैसे किसी ने प्रतिज्ञा की कि बुद्धि नित्य पदार्थ है। हेतु दिया कि स्पर्श गुणवती न होने से आकाशादिवत् जैसे आकाश स्पर्श गुण वाला न होने से नित्य है और स्पर्श गुण वाले घटपटादि पदार्थ अनित्य हैं वैसे स्पर्श गुणरहित होने से बुद्धि नित्य पदार्थ है यहां स्पर्श गुणरहित होना रूप हेतु वस्तुतः सव्यभिचारहेत्वाभास है क्योंकि स्पर्श गुणरहित कर्म भी एक पदार्थ है वह अनित्य है तो यह नियम नहीं रहा कि जो २ स्पर्श गुणरहित हो वह २ नित्य हो इस से स्पर्श गुणरहित रूप हेतु व्यभिचारी हो गया इसी को सव्यभिचारहेत्वाभास कहते हैं। यदि कहें कि जो २ वेद व्याख्यान हो वह २ वेद नहीं इस का व्यभिचार वेद में आ गया कि वेद ही वेद का व्याख्यान है तो सव्यभिचार हो जावे। सो नहीं हो सकता क्योंकि व्याख्यानरूप हेतु सब साध्य है जो हेतु साध्य के तुल्य हो जाता है वही साध्यसमहेत्वाभास कहाता है। इस से साध्यसमहेत्वाभास कहते तो उन का कहना किसी अंश में बन सकता। अब

विचारणीय यह है कि व्याख्यान क्या वस्तु है ?। क्या एक पद के स्थान में पदान्तर का प्रयोग करना ही व्याख्यान है ? तो कहिये क्या प्रमाण है ? यदि शब्दार्थ से भी विचार किया जाय तो विशेष कर (अवान्तर भेद प्रभेदों सहित) अच्छे प्रकार कहना व्याख्यान कहाता है इस से भी एक पद के स्थान में पदान्तर का कहना मात्र व्याख्यान कदापि नहीं हो सकता । और भी देखिये— कि इन्हीं महाशयों के प्रचरित ग्रन्थों में व्याख्यान का जो लक्षण किया है इस से स्पष्ट प्रतीत हो जायगा । यथा—

पदच्छेदः पदार्थोक्तिर्विग्रहो वाक्ययोजना ।
आक्षेपोऽथ समाधानं व्याख्यानं षड्विधं मतम् ॥१॥

पदच्छेद—पृथक् २ पद काटना । पदार्थोक्ति—व्याकरणादि रीति से पदों का अर्थ प्रसिद्ध प्रकार से कहना । विग्रह—प्रकृति प्रत्यय वा समासादि को विभाग कर दिखाना । वाक्ययोजना—यथायोग्य अन्वित पदों को युक्तकर वाक्य बनाना । आक्षेप—पूर्वपक्ष वा शंका करना । समाधान—आक्षेप को हटा के निर्णय कर देना यह छः प्रकार का व्याख्यान कहाता है । अब कहिये कि जब व्याख्यान का अर्थ वा लक्षण ऐसा है तो एक दो पद के लौट फेर होने से एक मन्त्र दूसरे मन्त्र का व्याख्यान कैसे हो सकता है ?। जब ऐसा है तो व्याख्यानरूप हेतु का मन्त्रभाग में व्यभिचार दिखाना वा साध्यसमहेत्वाभास कहना भी ठीक नहीं । द्वितीय यह भी संस्कृतज्ञ महाशयों को विशेष कर विचारणीय है कि क्या कोई पद किसी का व्याख्यान हो सकता है ? । हां पर्य्यायवाची शब्द किसी प्रकार व्याख्यान हो सकता है तो क्या (भवसि) का (भवति) (एषि) का (एति) और (विदधासि) क्रिया का (विदधाति) क्रिया पर्यायवाची वा अर्थ हो सकती हैं ? कि जिन को धन्नाराम के प० महाशय अर्थ कथन कहते हैं । इस से इन का पाण्डित्य सब को प्रतीत हो जायगा कि जो कुछ भी संस्कृत विद्या में प्रवेश किये होंगे ।

अब दूसरे प्रकार का व्यभिचार प० महाशय ने दिखाया वह यह है कि जो २ पुस्तक वेद से भिन्न है वह २ किसी २ मनुष्य विशेष का बनाया है जैसे महाभारतादि, यदि वेद के अभाव में वेदव्याख्यानरूप हेतु लगावें कि जो २ वेद का व्याख्यान है वह २ वेद नहीं तो पूर्वोक्त मन्त्र भी एक दूसरे के व्याख्यान हैं वे भी वेद न कहावेंगे और जैसे मन्त्र किसी मनुष्य विशेष के बनाये नहीं ऐसे ही ब्राह्मणभाग भी किसी के बनाये नहीं ।

इस का उत्तर यह है कि जो २ वेद से भिन्न पुस्तक हैं वे अवश्य सब सकर्तृक हैं परन्तु पूर्वोक्त प्रकार से मन्त्रों के व्याख्यान मन्त्र कदापि नहीं हो सकते ।

और ब्राह्मणभागों का सकर्तृक होना अर्थात् ब्राह्मणभागों के बनाने वाले तो उन्हीं पुस्तकों से प्रकट हैं। यदि कहें कि किसी निज मनुष्य के नाम से उन का निर्माण प्रसिद्ध नहीं तो इस से भी कोई दोष नहीं आता क्योंकि ब्राह्मणभाग अनेक ऋषि लोगों के बनाये हैं तो किसी निज का नाम कैसे रखते ? । जैसे क्रिया को देख के कर्त्ता का अनुमान कर लिया जाता है अर्थात् मनुष्य के करने योग्य काम को देख के जान लेते हैं कि यह काम किसी मनुष्य ने किया है जैसे लिखे हुए अक्षरों को देख के जान लेते हैं कि ये किसी मनुष्य ने लिखे हैं किसी खास लिखने वाले मनुष्य को किसी कारण से न जान सकें तो यह अनुमान कोई नहीं कर सकता कि यह लेख अनादि है वा ईश्वर ने लिखा है। इस से तात्पर्य यह है कि ब्राह्मणभागों के निर्माण में शब्दार्थसम्बन्धरूप क्रिया अनादि अपौरुषेय नहीं दीख पड़ती किन्तु अनित्य और पुरुष विशेषों की बनावट अनुमान से सिद्ध है। इसलिये ब्राह्मणभाग मूल वेद नहीं हैं । व्याख्यान के लक्षण ब्राह्मणभागों में कई प्रकार से मिलते हैं जैसे (इषे त्वेति०) इस प्रकार प्रतीक धरके (इषइत्यन्नम्, ऊर्जेत्वेति-ऊर्ग्रसस्तस्मै) इष् नाम अन्न और ऊर्क् नाम रस के लिये यत्न करो । ऐसा व्याख्यान ब्राह्मणभागों में सर्वत्र है और ब्राह्मणभाग का अनुवाद वा व्याख्यान मन्त्रभाग में कहीं नहीं है । यदि मन्त्रों की प्रतीक धर के कर्मकाण्ड का विधान वा अर्थ करने पर भी ब्राह्मणभाग वेद माने जावें तो कल्पसूत्र जो मन्त्रों की प्रतीक पूर्वक गृह्यश्रौतकर्मविधायक हैं वे भी वेद क्यों नहीं माने जाते ? ।

ऐसा किया जाय तो जो कोई प्रतीक धर के वेदमन्त्र पर कुछ कहे वह सभी वेद होता जायगा तो बड़ा अनवस्थापत्ति दोष आवेगा ! ।

इस पूर्वोक्त लेख से यह तो सिद्ध हुआ कि वेदों के व्याख्यानरूप होने से ब्राह्मणभाग मूलवेद नहीं हैं। अब एक वार्त्ता और भी विचारणीय पक्ष में आती है कि ब्राह्मणभाग मूलवेद नहीं तो टीकारूप ही वेद मान लिये जावें क्योंकि जैसे व्याकरण शास्त्र तथा न्यायशास्त्र आदि के मूल और भाष्य दोनों ही व्याकरण और न्यायशब्दवाच्य होते हैं जैसे पाणिनीय सूत्र व्याकरण हैं वैसे महाभाष्य भी व्याकरण है ऐसे ही वेद का मूल और भाष्य दोनों वेद मान लिये जावें तो क्या दोष है ? ।

इस का उत्तर--प्रथम तो व्याकरण और न्यायशास्त्र मूल सूत्र ही मुख्य कर व्याकरण न्यायशब्दवाच्य होते हैं किन्तु व्याकरणादि के भाष्य वैसे नहीं माने जाते।

अथ व्याकरणमित्यस्य शब्दस्य कः पदार्थः ?। सूत्रम् ॥ व्या० म०

प्रश्न (व्याकरण) इस पद का वाच्यार्थ क्या है ? उत्तर—सूत्र है अर्थात् पाणिनीय सूत्रों को व्याकरण कहते हैं। यद्यपि बीच में "लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम्" इस वचन से व्याख्येय व्याख्यान दोनों को व्याकरण कहा है तथापि सिद्धान्त में केवल सूत्र को ही व्याकरणपदवाच्य ठहराया है । इसी प्रकार न्याय में भी जानो ।

द्वितीय उत्तर यह है कि यह व्याकरणादि का साधर्म्य सर्वथा वेद में नहीं घट सकता क्योंकि व्याकरणादि सूत्र और भाष्य दोनों ही किसी २ व्यक्ति विशेष ऋषि महर्षि के बनाये हैं उन में किसी प्रकार दोनों को व्याकरणादित्व आवे भी तो चिन्ता नहीं । वेद अपौरुषेय अनादि हैं उन में कैसे यह घट सकता है ।

यदि कहो कि ब्राह्मण रूप व्याख्यान भी अनादि अपौरुषेय ईश्वर निःश्वसित माने जावें तो क्या हानि है ? क्योंकि जिस ने मूल को प्रकट किया वह व्याख्यान भी बना सकता है तब हम भी यह कहेंगे कि हां व्याख्यान तो ईश्वर कर सकता है परन्तु एक कर्मकाण्डादि भाग कि जो २ ब्राह्मणान्तर्गत विषय है उसी को ईश्वरकृत व्याख्यान माना जावे और कल्पसूत्रों वा निरुक्तादि को ईश्वरकृत व्याख्यान न मानने में कोई विशेष प्रमाण नहीं मिलता । सब विद्याओं का मूल जो वेद है उस का व्याख्यान भी यदि ईश्वर ही करता तो चार उपवेद ऋषि लोग क्यों बनाते ? क्योंकि व्याख्यान करने लगा तो सभी विद्याओं का व्याख्यान करना उचित था । यदि सब प्रकार का व्याख्यान ईश्वर कर देता तो स्मृति आदि किसी ग्रन्थ के बनाने की अपेक्षा ऋषि लोगों को नहीं होती ऐसा करता तो वेद अत्यन्त बढ़ जाते इस लिये ब्राह्मण रूप व्याख्यान ईश्वरकृत नहीं दूसरे जनक याज्ञवल्क्यादि के इतिहासादि भी ब्राह्मणग्रन्थों में मिलते हैं । इतिहासादि के होने पर भी यदि ब्राह्मणभाग वेद हैं तो इतिहासादि के अन्य पुस्तक वेद क्यों नहीं ? । और याज्ञवल्क्यादि का ही इतिहास ईश्वर ने क्यों लिखा ? क्या ईश्वर याज्ञवल्क्यादि का पक्षपाती था ? । यदि याज्ञवल्क्यादि का इतिहास लिखा था तो अनेक उत्तम गुणधारी श्री महाराजा रामचन्द्रादि का इतिहास क्यों नहीं लिखा ? ईश्वर किसी का पक्षपाती नहीं है । ब्राह्मणग्रन्थों में याज्ञवल्क्यादि का इतिहास होने से वे ईश्वरकृत वेद नहीं किन्तु व्याख्यान हो सकते हैं ।

इस से सिद्ध हुआ कि इतिहास युक्त व्याख्यान रूप होने से ब्राह्मणग्रन्थ ईश्वरीय अनादि अपौरुषेय वेद नहीं हो सकते ॥

{ श्रीमती आर्यप्रतिनिधिसभा मेरठ ने उत्तर देने को भेजे उर्दू भाषा में छपे हुए भारतधर्ममहामण्डलस्थ प्रश्नों के उत्तर यथाक्रम दिये जाते हैं ॥ }

(१) प्रश्न–सनातन धर्म की आदि पुस्तकें वेद हैं? बताओ उन के क्या २ नाम हैं।

उत्तर–सनातन धर्म के आदि मूल पुस्तक अवश्य वेद हैं इस में कुछ भी सन्देह आर्यधर्मावलम्बीमात्र को नहीं हो सकता। इस विषय में सभी ऋषि महर्षि आदि प्राचीन शास्त्रकार एकस्वर से पुकारते आते हैं कि सनातन धर्म के मूल पुस्तक वेद हैं। उन के ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, नाम हैं। इस पर प्राचीन शास्त्रों के प्रमाणों का संग्रह किया जाय तो एक बड़ा सा पोथा बन सकता है तथापि उदाहरण के लिये दो एक प्रमाण लिखता हूं–

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥ १ ॥ मनु० अ० २ ॥

अर्थ–संपूर्ण वेद धर्म का मूल आदि कारण है, तथा वेदज्ञ पुरुषों की बनाई वेद मूलक स्मृतियां और रागद्वेषरहित शुद्धस्वभाव भी धर्मज्ञान के कारण हैं श्रेष्ठ पुरुषों का आचार और आत्मा की सन्तुष्टि भी धर्म के कारण हैं। जिन मानस,वाचिक और शारीरक कामों के करने में आत्मा को लज्जा शंका और भयादि प्राप्त न हों अर्थात् जिस काम के आगे पीछे वा बीच में आत्मा को किसी प्रकार का सङ्कोच न हो वही आत्मा का सन्तोष है यह भी धर्म का लक्षण है इस में मुख्य वेद हैं॥

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति॥ मनु० अ० १२॥

अर्थ–चारवर्ण–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र। तीनों लोक–भूर्लोक, भुवर्लोक स्वर्लोक। अथवा जन्म, स्थान, नाम, रूप तीन लोक। चार आश्रम–ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ, संन्यास, वर्णाश्रम कहने से इन के धर्म कर्म भी आ जाते हैं क्योंकि धर्म से ही वर्णाश्रम बने हैं। इस के पश्चात् तीनों काल में जो कुछ धर्म सम्बन्धी विषय है वह सब वेद से ही प्रसिद्ध और प्रवृत्त होता है॥

इत्यादि अनेक प्रमाण हैं। युक्ति से भी वेद ही सनातनधर्म का मूल कारण ठहरता है प्राणीमात्र में जो कुछ कर्त्तव्याकर्त्तव्य तथा धर्माऽधर्म प्रचरित होते आये हैं उन सब का निमित्त अवश्य होता है। जैसे विद्या व धर्माऽधर्म का ज्ञान इस समय विना शिक्षाप्रणाली के किसी को नहीं होता वैसे ही पूर्व से होता आया है शिक्षा-प्रणाली विना पुस्तकों के सम्भव नहीं है और पुस्तक सब वेद के आश्रित हैं इस लिये धर्मादि ज्ञान के मूल कारण वेद हुए। यदि कहें कि वेद में कहीं अन्यत्र से आया होगा तो हम पूछेंगे कि जिस से वेद में आया उस में कहां से आया फिर उस में भी कहीं अन्यत्र से आया तो कहीं अन्यत्र कहां से आया यह अन-

वस्थापत्ति दोष कहाता है इस प्रकार यदि कोई जन्मजन्मान्तर कहता रहे तो भी सीमा पर पहुंचना दुर्लभ है। इस दोष की निवृत्ति के लिये सांख्यवादी कपिलाचार्य जी ने कहा है:-

मूले मूलाऽभावादमूलं मूलम् । साङ्ख्यप्र० अ० १ सू० ६७।

अर्थ-मूल का मूल (कारण का कारण) न होने से मूलकारण स्वयंसिद्ध मूल है अर्थात् उस का मूल कहना नहीं बन सकता।

अनेक शास्त्रादि द्वारा वहने वाली धर्मकर्मरूप नदी के प्रवाह का मुख्य स्थान वेद ही प्रतीत होता है क्योंकि अन्य कोई पुस्तक उक्त प्रवाह के निकलने का मूल कारण किसी प्रमाण वा युक्ति से सिद्ध नहीं होता तो जब वेद धर्म का मूल है तो उस वेद के मूल होने की कुछ भी अपेक्षा नहीं रहती ॥

(२) प्रश्न-वेद ईश्वरकृत हैं वा नहीं ? ईश्वर के मुख से उच्चारण हुए ? वा किस प्रकार प्रकट हुए ? ।

उ०-वेद ईश्वर की अनादि विद्या है किसी समय विशेष में ईश्वर ने भी बनाये नहीं हैं। तथापि वेद ईश्वरकृत हैं ऐसा व्यवहार होता है इस का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक कल्प के आरम्भ में ईश्वर से ही वेद प्रकट होते हैं इसी लिये व्यास जी ने वेदान्तदर्शन में कहा है कि "शास्त्रयोनित्वात्" महान् ऋग्वेदादि वेद का योनि—कारण होने से ब्रह्म सर्वज्ञ है। इत्यादि अनेक प्रमाण हैं जिन से प्रकट है कि वेद ईश्वर से प्रकट होते हैं। अब विचारणीय यह रहा कि वेद ईश्वर के मुख से उच्चारण हुए वा किस प्रकार प्रकट हुए अथवा आयतों के तुल्य मन्त्र उतरे ?। इस में यह तो निश्चय समझ लेना चाहिये कि जब ईश्वर निराकार है कि जिस के लिये अनेक प्रमाण हैं-

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।
स वेत्ति विश्वं न च तस्य वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम् ॥ उपनिषद्

अर्थात् वह हाथ पग रहित होने पर भी शीघ्र ही हाथ पग का काम करने वाला, विना नेत्र के देखता, विना कान के सुनता है, वह सब को जानता है, उस का जानने वाला दुर्लभ है उस को सनातन पूर्णब्रह्म कहते हैं जब हाथ पग आदि अङ्गों का निषेध है तो ईश्वर के बीच मुख कहना ही नहीं बनता जब मुख ही नहीं तो ईश्वर के मुख से वेद का उच्चारण होना कैसे कह सकते हैं। इस से यह तो निश्चित हुआ कि वेद ईश्वर के मुख से उच्चारण नहीं हुए। क्योंकि उच्चारण क्रिया भी तालवादि अवयवों के व्यापार से सिद्ध होती है ईश्वर मुखादि अवयव रहित है उच्चारण कैसे कह सकते हैं ?। और आयतों के समान वेदमन्त्रों का उतरना चढ़ना भी ठीक नहीं बन सकता क्योंकि-

"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति" गीता।

इत्यादि प्रमाणानुसार ईश्वर सब के घट २ में व्याप्त है तो उतरना चढ़ना किस से हो सकता है। अब वेद ईश्वर से कैसे प्रकट हुए यह विचारणीय है।

"अस्य महतोभूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः"

इस महान् परमेश्वर के सहज स्वभाव से (जैसे कि मनुष्य का स्वाभाविक श्वास निकलता है कि जिस में किसी प्रकार का प्रयत्न विशेष नहीं करने पड़ता) वेद प्रकट हुए। जैसे कि सहज स्वभाव से प्रत्येक कल्प के आरम्भ में सृष्टि को उत्पन्न करता है वैसे ही वेद को भी करता है। सहज स्वभाव यही कहाता है कि जैसे अग्नि में दाहशक्ति स्वाभाविक है वैसे परमेश्वर में उत्पत्ति स्थिति प्रलय करने की शक्ति स्वाभाविक है सो "स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" इत्यादि प्रमाणों से प्रसिद्ध है। जैसे अग्नि आदि से काष्ठ आदि उत्तेजक से दाह आदि शक्ति बढ़ जाती है वैसे ही उत्पत्ति आदि के समय में उत्पादकत्वादि शक्ति ईश्वर में उत्तेजित हो जाती है इस से उस के स्वरूप में किसी प्रकार का विकार वा स्वरूप में भेद नहीं होता।

ईश्वरस्तु स्वकृतवेदानुपूर्वं स्वयमेव स्मृत्वा तथैव कल्पादौ ब्रह्मादिष्वाविर्भो-वयन्ननावृतज्ञानत्वात्तदर्थमत्यवर्जनीयतया जानातीति सर्वज्ञ इत्यनवद्यम् * ॥ इत्यानन्दगिरिः।

अर्थ—ईश्वर पूर्व कल्प में अपने किये हुए वेद का स्वयमेव स्मरण करके जैसा पहिले कल्पों में प्रकाशित करता आया है वैसे इस कल्प में भी ब्रह्मादि के अन्तःकरणों में वेद प्रकट किये क्योंकि परमेश्वर का ज्ञान कभी अन्धकार से आच्छादित नहीं होता इस से सब पूर्वापर को यथावत् जानने वाला होने से ईश्वर सर्वज्ञ है।

इस से सिद्ध हुआ कि वेद ईश्वर की अनादि विद्या है ईश्वर प्रत्येक कल्प के आरम्भ में पूर्व कल्प के पुण्यात्मादि शरीरधारी सत्पात्र शुद्ध महर्षि आदि के द्वारा संसार में प्रकट करता है॥

(३) प्रश्न—एक ही समय में वेद प्रकट हुए वा पृथक् २ समय में ?॥

उ० इस पर कुछ विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं क्योंकि "छन्दांसि जज्ञिरे" वा "अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो०" इत्यादि प्रमाणों से

*इस प्रमाण के लिखने से हमारा अभिप्राय यह नहीं है कि वेद ब्रह्मा जी के द्वारा प्रकट हुए किन्तु वेद ईश्वर से किस प्रकार प्रकट हुए इस अंश पर प्रमाण लिखा है क्योंकि प्रश्नाक्षरों से यह ध्वनित होता है कि मुख से उच्चारण हुए तो मुखादि अंगों वाला साकार ईश्वर हुआ यदि निराकार है तो शब्दरूप वेद निराकार से कैसे हो सकते हैं ? इस अभिप्राय पर उत्तर भी दिया गया है। किस के द्वारा प्रकट हुए इस का प्रसंग यहां नहीं था इसलिये ब्रह्मादि द्वारा प्रकट हुए यह मेरा सिद्धान्त नहीं इस विषय का विचार कभी यथावसर कारण सहित लिखा जायगा॥

सिद्ध है कि वेदों की उत्पत्ति में समय भेद नहीं किया तो एक ही समय में उत्पन्न हुए यही मानना चाहिये ॥

इस प्रश्न से प्रश्नकर्त्ता का प्रयोजन कुछ विशेष प्रतीत नहीं होता कि एक ही साथ प्रकट हुए मानें तो क्या दोष? और कुछ आगे पीछे माने जावें तो क्या दोष है?। जब सिद्ध हो चुका कि वेद ईश्वर की अनादिविद्या है तो आगे पीछे प्रकट होने पर भी अनित्य होने का दोष नहीं आता। इस से कोई अभिप्राय विशेष नहीं निकलता कि एक वेद आज उत्पन्न हो और दूसरा एक वर्ष वा महीने पश्चात् प्रकट हो। इसलिये यही ठीक है कि एक साथ उत्पन्न हुए। परन्तु जैसा क्रम वेदों का इस समय प्रचरित है उसी से प्रकट होना ठीक है। पहिले ऋग्वेद। २-यजुर्वेद। ३-सामवेद। ४-अथर्ववेद।

(४) प्रश्न-ईश्वर ने जब वेद प्रकट किये तो क्या अध्यापक के समान महर्षियों को एक२ मन्त्र पढ़ाया वा कैसे उन के हृदय में प्रकट किये?

इस का उत्तर यह है कि ईश्वर के अन्तर्यामी होने से ऋषियों के अन्तःकरण में ईश्वर ने ऐसा सामर्थ्य दिया कि जिस से ईश्वर के ज्ञान में जैसे वेद थे वैसे ही ईश्वरदत्त प्रातिभ (अकस्मात् स्फुरित) ज्ञान के समान ज्ञान से ऋषियों ने वेद प्रकट किये। ज्यों का त्यों वेदरूप ईश्वर का ज्ञान ऋषियों द्वारा प्रकट हुआ इस से यह कहना विरुद्ध नहीं कि वेद ईश्वर से प्रकट हुए ॥

(५) प्रश्न-वेदों में मन्त्र ब्राह्मण और उपनिषद् आदि क्या२ शामिल हैं उन में फ़रक़ भी बताओ ॥

उ०-वेदों में मन्त्रभागमात्र ही लिये जाते हैं ब्राह्मण और उपनिषद् अनादि अपौरुषेय मूलवेद नहीं हैं तथापि वेद के साथ अतिनिकट सम्बन्ध रखते और विशेष कर मूलवेद के सहकारी हैं इस कारण प्रामाणिक माने जाते हैं। ब्राह्मण और उपनिषद् बहुधा एक ही पुस्तकस्थ भागमात्र समझे जाते हैं इस लिये वेद ब्राह्मण विषयक महामोहविद्रावण के उत्तर जो इसी आर्यसिद्धान्त में आरम्भ से दिये जाते हैं उन में इस विषय के उत्तर अधिक कर लिखे गये और लिखे जाते हैं जिन महाशयों को विशेष देखना हो वे आर्यसिद्धान्त को आरम्भ से देखें।

तो भी इतना अवश्य लिखता हूं कि जिन लोगों ने ब्राह्मण,उपनिषदों को वेद माना है सो भी सब प्रकार निर्मूल नहीं किन्तु समूलक है जब "इतिहासपुराण पञ्चमो वेदानां वेदः" इतिहासपुराण एक पञ्चम वेद है ऐसा कहते हैं तो ब्राह्मण उपनिषद् जो वेद के अतिनिकट हैं उन को वेद के तुल्य प्रशंसा से वेद कह देना क्या कठिन है। परन्तु जैसे गौण अभिप्राय से वा प्रशंसापरक वेद शब्द से ब्राह्मणों को उन लोगों ने कहा हो उसी अभिप्राय से समझना किसी प्रकार बुरा वा दोष कारक नहीं किन्तु ब्राह्मणपुस्तकों को अनादि ईश्वरीय वेद समझना दोष कारक है क्योंकि उन में अनित्य अर्थ सम्बन्धों का वर्णन है। इस

से यह सिद्ध हुआ कि ब्राह्मण उपनिषदों को ईश्वरीय अनादि मूल वेद कहना वा मानना ठीक नहीं है । मूल वेद तो मन्त्रभागमात्र संहिता ही हैं ॥

(६) प्रश्न–ब्राह्मणभाग मंत्रभाग के तुल्य हैं वा ऋषिकृत ? । यदि अनादि और ईश्वरकृत हैं तो उन में किन्हीं खास मनुष्यों की कहानी क्यों लिखी हुई हैं?॥

उ०–ब्राह्मणभाग किसी अंश में मंत्रभाग के तुल्य तो हैं परन्तु सब बातो में तुल्य नहीं और प्रश्नकर्त्ता का जो तात्पर्य है उस अंश में कुछ भी तुल्यता नहीं क्योंकि ब्राह्मणभाग जब टीकारूप हैं तो मूल वेद नहीं कहे जा सकते । और ब्राह्मणभाग ऋषियों के बनाये भी हैं इस से भी मुख्य वेद नहीं हैं। अनेक ऋषियों के बनाये होने से किसी एक दो ऋषि के नाम से प्रचरित नहीं हैं। "जनको ह वैदेहः" विदेहदेश के राजा जनक का (जिन की कन्या जानकी श्रीमहाराजा रामचन्द्र जी को विवाही थी) इतिहास जिस पुस्तक में लिखा है वह उन (राजा जनक) से पहिले नहीं बन सकता इस से यह आया कि ब्राह्मणभाग ईश्वरकृत वेद नहीं हैं किन्तु ऋषियों के बनाये हुए हैं । विशेष देखना चाहें वे महामोहविद्रावण के उत्तरों (जो इसी में क्रमशः छपते हैं) को देखें ॥

(७) प्रश्न-वेदों में कितना भाग प्रसिद्ध है और कितना नहीं ? । जो नहीं मिलता उस के हस्तगत होने का प्रकार बतलाओ ॥

उ०–मूलवेद जितना ईश्वरकृत है वह सब चारवेद की चारों संहिता यथावत् मिलती हैं । चारों वेद के मंत्रों के उदाहरण वा मंत्रों की प्रतीकों से जो२ कर्मकाण्डादि कहे हैं वे सब मंत्र इन्हीं संहिताओं में मिल जाते हैं इस से निश्चय है कि ये ही चारों संहिता मूलवेद हैं । इस की साक्षी के लिये प्रमाण भी बहुत मिलते हैं जैसे:–

द्वे सहस्रे शतन्यूने मन्त्रे*वाजसनेयके ।
इत्युक्तं परिसंख्यातमेतत्सर्वं सशुक्रियम् ॥ चरणव्यूहे

वाजसनेयी यजुर्वेद की मूलरूपसंहिता में १९०० उन्नीस सौ मन्त्र वाजसनेय ऋषि के देखे और ७५ पचहत्तरमन्त्र शुक्रिय अर्थात् अथर्वा ऋषि के प्रचार किये हुए हैं इस प्रकार यजुर्वेद के मूल मन्त्र सब १९७५ हैं यही मुख्य कर यजुर्वेद कहाता है॥

यजुर्वेदस्य मूलं हि भेदो माध्यन्दिनीयकः ।
सर्वानुक्रमणी तस्याः कात्यायनकृता तु या ॥ होतिः

मूल यजुर्वेद यही माध्यन्दिनी संहिता है कि जिस में उन्नीस सौ पचहत्तर मन्त्र हैं । और इस संहिता की सर्वानुक्रमणिका कात्यायन ऋषि की बनाई हुई है । अर्थात् अनुक्रमणिका पुस्तक अन्य भी हैं परन्तु इस यजुर्वेद की संहिता के लिये वही समझनी चाहिये जिस को कात्यायन ऋषि ने बनाया है ॥ तथाः—

* मन्त्र इति साधु भाति । यथादृष्टमलेखि ।

सन्मूलो यजुराख्यवेदविटपी जीयात्समाध्यन्दिनिः,
शाखा यत्र युगेन्दुकाण्डसहिता यत्रास्ति सा संहिता ।
यत्राध्यायलता विभान्ति शरशैलाङ्केन्दुभिर्मन्त्रदलैः,
पञ्चद्वीपुनभोङ्कवर्णमधुपैः खाऽग्न्यर्कगुङ्गुञ्जितैः ॥

इत्युक्तं यजुर्वेदकल्पतरौ ॥

सत्—सत्य परमेश्वर जिस का मूल कारण जड़ है ऐसे यजुर्वेदरूप वृक्ष वाले माध्यन्दिनि ऋषि जय को प्राप्त हों जिस (यजुर्वेदरूपवृक्ष) में १४ काण्ड * स्थूल भाग (गुद्दे) सहित शाखा है। वह संहिता कहाती है इस संहिता में (४०) अध्यायरूप लता और इस संहितारूप वृक्ष में १९७५ मन्त्ररूप पत्ते हैं तथा ९०५२५ नौ हजार पांच सौ पच्चीश अक्षररूप भ्रमर (भौंरे) हैं उन अक्षररूप भ्रमरों में ॐ गुंकार गूंजन १२३० बारह सौ तीश हैं। इस प्रकार यह यजुर्वेदरूप मूल वृक्ष है। इन प्रमाणों से मूल यजुर्वेद की अक्षरादि तक संख्या कर दी है ब्राह्मणभाग इस संख्या से पृथक् हैं। ऐसे ही ऋग्वेदादि के सम्बन्ध में संख्या मिलना सम्भव है स्थालीपुलाकन्याय से जान लेना चाहिये। इस सातवें प्रश्न का मुख्य उत्तर यही है कि मूल वेद सब मिलते हैं वेद के व्याख्यानशाखा उपवेदादि बहुत से ऋषिकृत ग्रन्थ लुप्त हो गए हैं उन के मिलने का उपाय करना चाहिये बड़े परिश्रम और धनव्यय से कोई २ मिल सकते हैं॥

("धर्मसुधावर्षण" नामक पत्र का संक्षिप्त उत्तर)

इस पत्र का बनारस की "वैदिकधर्मवर्द्धिनी" नामक सभा से निकलना आरम्भ हुआ है। बड़े ही हर्ष का विषय है कि जब से श्री स्वामीदयानन्द सरस्वती जी महाराज ने आर्यधर्म की उत्तमता की घोषणा प्रवृत्त की है तब से अनेक प्रकार की सभा और आर्यधर्मप्रचारक समाचार पत्रादि प्रवृत्त हो रहे हैं। अब आशा है कि शीघ्र ही धर्म की उन्नति होगी धर्म विषय का जब चारों ओर से पक्ष प्रतिपक्ष द्वारा आन्दोलन होने लगता है तब कुछ न कुछ परिणाम निकलता ही है। इस समय पर आर्यधर्म वा वैदिकधर्म विषय पर बहुधा आन्दोलन हो रहा है देखिये क्या सार निकलता है। यद्यपि इस पत्र में "वैदिकधर्मविद्वेषी दयानन्द जी" इत्यादि लिखा है इस पर हम लोग कुछ विशेष विचार नहीं करते क्योंकि यही विचार श्री स्वामी जी महाराज का था कि कोई निन्दा करे वा स्तुति पर "न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः" न्याययुक्त मार्ग से

*यजुर्वेद वाजसनेयी संहिता ४० अध्याय में १४ काण्ड भी हैं परन्तु उन का प्रचार आज कल कम हो गया है शतपथब्राह्मण का ठीक २ विचार किया जाय तो फिर काण्डों का विभाग हो सकता है॥

कभी न डिगना । उन की वर्तमान दशा में भी लोग उदर भर निन्दा करते थे परन्तु उन्हों ने कभी ध्यान न दिया इसी का यह फल हुआ कि आर्यधर्म कुम्हिलाया हुआ भी फिर हरयाने लगा । जैसे कि श्रीमान् रामभिश्र शास्त्री जी बनारस ने मन्त्रमीमांसा पुस्तक द्वारा वैदिकमन्त्रोपदेश का सर्वथा प्राधान्य सिद्ध किया है और तान्त्रिक तथा आधुनिक मतवाद के अवैदिक कल्पित "श्रीकृष्णः शरणं मम" इत्यादि मन्त्राभासो को अश्रेयस्कर वर्णाश्रम धर्म से बाह्य ठहराया है । हम लोग शास्त्री जी को सहस्त्रशः धन्यवाद देते हैं । और आशा है कि वैदिकधर्म की पुष्टि के अन्य भी ऐसे काम करेंगे । इस "धर्मसुधावर्षण" नामक पत्र में यद्यपि विद्वेषपूर्वक लेख है तथापि कुछ अच्छा भी लिखा है जैसे छः दर्शनों कीपरस्पर सङ्गति लगाना अर्थात् छः शास्त्र परस्पर अविरुद्ध हैं एक दूसरे के सहायक हो कर आत्मादि अतिसूक्ष्म विषयों का निर्णय करते हैं यही सिद्धान्त श्री स्वामी जी महाराज का है कि छः शास्त्र परस्पर अविरुद्ध हैं । द्वितीय बात यह भी अच्छी लिखी है कि एक ही ईश्वर ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि नामों से कीर्त्तन किया जाता है । यही सिद्धान्त ठीक २ आर्यों का सिद्धान्त है इसी को स्वामी जी महाराज भी ठीक ही मानते थे । और शिवादि नाम भी ईश्वर के मानते थे । परन्तु पुराणाभासों में जैसा चरित्र जिन का लिखा है वे बैल पर चढ़ने वाले आदि साक्षात् ईश्वर कदापि सिद्ध नहीं हो सकते । और गणेश जी को लिखते हैं कि गणेश किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं किन्तु मजिस्ट्रेट, तहसीलदार, थानेदार आदि के समान एक पदवी के नाम हैं तो पहिला प्रश्न यह है कि ईश्वरीय व्यवस्था में न्यूनाधिक अधिकारी बन सकते हैं?। क्या ईश्वर को विक्टोरिया महारानी के समान एक कोने में बैठा मानते हो ? अधिकारी लोग कुछ करें ईश्वर को खबर ही न पड़े ?। मेरे विचार में तो आप लोग भी "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति" ईश्वर को ऐसा ही मानते होगे ! द्वितीय प्रश्न यह है कि गणेश जी का क्या अधिकार और काम है और कब से अधिकार मिला किस ने दिया ? वह अधिकार और काम पहिले नियत हुआ था वा सनातन था और अब भी गणेश जी उसी अधिकार पर हैं वा नहीं अर्थात् वे पदवी सब नित्य हैं वा अनित्य ? । तृतीय प्रश्न यह है कि यह किस वेद वा सच्छास्त्र में लिखा है कि गणेश जी आदि अधिकार के नाम है ? तथा ईश्वर के मुख्य काम तीन ही वेदादि से प्रतीत होते उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, इन के लिये ब्रह्मा, विष्णु, शिव, तीन कर्त्ता मानते हो । गणेश जी को कोई काम इन्हीं में से दिया गया वा इन में किसी के सहायक उपमन्त्री (असिस्टट सेक्रेटरी) के तुल्य काम करते थे। हम लोग तो (जन्माद्यस्य यतः) इत्यादि प्रमाणों के अनुसार उत्पत्ति स्थिति प्रलयकर्त्ता एक ही ईश्वर को मानते हैं । अब "धर्मसुधावर्षण" के सम्पादक वाराणसी के पं० महाशयो को सूचना है कि हमारे प्रश्नों का उत्तर प्रमाणसहित देवें । इत्यलं बुद्धिमत्सु ॥

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥

भाग १ | आश्विन संवत् १९४४ | अङ्क ४

यत्रं ब्रह्मविदो यान्तिं दीक्षया तपंसा सह ।

ब्रह्मा मा तत्रं नयतु ब्रह्मा ब्रह्मं दधातु मे ॥

महामोहविद्रावण का उत्तर अङ्क ३ पृ० ४१ से आगे ॥

"ऋषिभिरुक्तत्वादिति" कपटभिक्षोस्तृतीयो महामोहः । अत्र ब्राह्मणानि न वेदा ऋषिभिरुक्तत्वादिति न्यायाकारः । अत्रायमसाधको हेतुः, ऋष्युक्तत्वस्य ऋगादिसाधारणत्वात् । ऋचोऽप्यपाठिषुरेवर्षयः नैतावता तासां वेदत्वव्याहतिः । यदि च ऋष्युक्तत्वपदेन ऋषिप्रणीतत्वमभिप्रैषि तदा ब्राह्मणान्यपि न ऋषिप्रणीतानीति "ऋषिप्रणीतत्वात्" इति स्वरूपासिद्धो हेतुः। यदि च भारद्वाजाङ्गिरोवसिष्ठपुत्त्रहयाज्ञवल्क्यजनकादिसंवाददर्शनादृषिप्रणीतत्वभ्रान्तिस्ते ब्राह्मणग्रन्थेषु, तदाऽनवगतवेदवर्त्मोऽनभिलक्षितवेदसम्प्रदायोऽज्ञातगुरुकुलवासोऽनासादितब्रह्मसम्पत्तिर्भवानित्येवास्माकं निश्चयः, यतो वेदानामिदमेव हि वेदत्वं यदिमेऽतीताऽनागतवर्त्तमानसन्निकृष्टविप्रकृष्टमर्थमनन्तसाधारण्येन सर्वं विदन्ति वेदयन्ति च सर्वपुरुषान्, अतएव "लौकिकानामर्थपूर्वकत्वा" दित्याह स्म कात्यायनः प्रातिशाख्ये, लौकिकानां "गामभ्याज शुक्लां दण्डेने" त्यादि वाक्यानां प्रयोगोऽर्थपूर्वकः प्रयोक्तारो हि तन्तम्प्रतिपिपादयिषितमर्थमुपलभमाना अनुसन्द-

धतो वा प्रयुञ्जते लौकिकानि वाक्यानि, वैदिकानां नित्यानां वाक्यानां नार्थपूर्वकः प्रयोगो घटते वैदिकवाक्यार्थानां ऋषिप्रत-थादीनामनित्यत्वात्। ततश्च वस्तुसद्भावानपेक्षेण लोकवृत्तमव-गमयन्तो वेदा यदि याज्ञवल्क्यजनकादिसंवादमभिदध्युस्ततस्ते का क्षतिः?। इतरथा तु "सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्प-यत्" इत्यादि संहिताभागस्याप्यवेदत्वापत्तिः। यथाहि जनका-दिसंवादस्य ब्राह्मणेषु दर्शनाज्जनकादिकालानन्तरकालवृत्त्युत्प-त्तिमत्त्वं ब्राह्मणेषूत्प्रेक्षसे तथा सूर्याचन्द्रमसाविति श्रुतेरपि सूर्या-चन्द्रमसोस्सृष्ट्यभिधायकत्वेन तदुत्पत्तिकालानन्तरकालोत्पत्ति-कत्वेनानित्यत्वं स्यादिति वृद्धिमिच्छतस्ते मूलहानिरिति महद-निष्टमेतत्प्रसज्येत। तस्मात्सूर्याचन्द्रमसोः सृष्ट्यभिधायकोऽपि वेदो न तदुत्पत्तिकालानन्तरकालोत्पत्तिको वेदवाक्यानामर्थपूर्व-कत्वविरहादित्यनाथत्याभिदधानो भवान्कस्मादकस्मादेव ब्राह्म-णेषु सन्नह्यति ततश्च भारद्वाजाङ्गिरोनामदर्शनमात्रं नावेदत्वसा-धकमिति शम् ॥

"ऋषिभिरुक्तत्वात्" यह कपटरूप संन्यासी का तीसरा महामोह है। ऋषियों के कहे होने से ब्राह्मण पुस्तक वेद नहीं यह हेतु कार्यसाधक न होने से हेत्वा-भास है जैसे ब्राह्मणभाग ऋषियों के कहे होने से वेद नही वैसे मन्त्रभाग भी ऋषियों ने पढ़े पढ़ाये हैं तो मन्त्रभाग भी वेद न रहेगा यदि ऋषियों के कहे ब्राह्मण हैं, इस से यह अभिप्राय हो कि ऋषियों के बनाये हुए ब्राह्मणभाग हैं तो ठीक नहीं क्योंकि ब्राह्मणभाग भी ऋषिप्रणीत नहीं हैं। यदि भारद्वाज, अ-ङ्गिरा, वशिष्ठ, पुलह, याज्ञवल्क्य, और जनकादि के संवाद ब्राह्मणों में होने से ऋषिप्रणीत होने का भ्रम तुम को ब्राह्मण पुस्तकों में हो तो तू वेद मार्ग को न जानने वाला, वेद की परम्परा के देखने से रहित, गुरुकुल में वास न किया और वेदरूप सम्पत् के धारण से सर्वथा रहित है यही हमारा निश्चय है क्योंकि वेदों में यही वेदत्व है जो भूत भविष्यत् वर्त्तमान समीप और दूरस्थ सर्वसाधारणता से ये सब को जानते और सब पुरुषों को जनाते हैं। इसी से कात्यायन ऋषि ने कहा है कि लौकिक वाक्य अर्थ पूर्वक अर्थात् वाच्य अर्थ की विद्यमानता में लौकिक वाक्य बन सकते हैं। "जैसे गौ को दण्ड से हांकना" यहां गौ दण्ड सब विद्यमान

हैं। लौकिक वाक्यों के प्रयोग करने वाले जन उस २ कहने को अभीष्ट अर्थ को प्राप्त हुए वा उस का अनुसन्धान करते हुए लौकिक वाक्यों का प्रयोग करते हैं। और वैदिक वाक्यों के नित्य होने से अर्थ की विद्यमानता में ही प्रयोग घटे यह नहीं हो सकता क्योंकि वैदिक वाक्यों के जो अर्थ हैं वे उत्पत्ति और प्रलय आदि के होने से अनित्य हैं। इस से वस्तु की विद्यमानता की अपेक्षा न करके लोगों को बर्त्ताव को जताते हुए वेद यदि याज्ञवल्क्य और जनकादि के संवाद को कहें तो तेरी क्या हानि है ? । वेद में भी लिखा है कि सूर्य चन्द्रमा को ईश्वर ने पूर्वकल्प के तुल्य बनाया इस से संहिताभाग भी वेद न ठहरेंगे जैसे जनक याज्ञवल्क्यादि का इतिहास ब्राह्मणग्रन्थों में देख पढ़ने से जनकादि के पश्चात् ब्राह्मणग्रन्थों की उत्पत्ति मानते हो वैसे सूर्य चन्द्रमा की उत्पत्ति के बाद ही वेदों की उत्पत्ति मानने से वेद अनित्य हो जावेंगे। इस प्रकार व्याज चाहते हुए तेरे मूल में भी हानि हुई यह महाअनिष्ट प्राप्ति है। इस लिये सूर्य चन्द्रमा की सृष्टि कहने वाला भी वेद सूर्य चन्द्रमा की उत्पत्ति से पीछे उत्पन्न नहीं हुआ क्योंकि वेद वाक्य अर्थ की अविद्यमानता में भी रहते हैं। सो शीघ्रता से कहने वाले आप क्यों अकस्मात् ब्राह्मणों में सन्नद्ध होते हो। इस से यह सिद्ध हुआ कि भरद्वाज और अङ्गिरा आदि नाम देखने मात्र वेद में है किन्तु वेदत्व की हानिकारक नहीं हैं अर्थात् ऋषियों का इतिहास होने पर भी ब्राह्मण पुस्तक वेद ही हैं ॥

यह महामोहविद्रावण की भाषा है। इस का उत्तरः—

"ऋषिभिरुक्तत्वात्" ऋषियों के कहे होने से ब्राह्मणभाग वेद नहीं यह श्री स्वामी जी महाराज का पक्ष है इस पर बनारस के प० महाशय कहते हैं कि ऋषियों के कहे होने मात्र से ब्राह्मणभाग वेदवाह्य नहीं हो सकते क्योंकि पठनपाठनादि द्वारा मन्त्रभाग भी ऋषियों ने कहे हैं तो वे भी वेद न रहेंगे सो यह बात तब तो बन सकती जो स्वामी जी महाराज का कहने मात्र से तात्पर्य होता किन्तु पूर्वापर प्रकरण से वक्ता का तात्पर्य प्रकट है कि ब्राह्मणभाग ऋषियों के बनाये हैं। मन्त्रभाग यद्यपि ऋषि लोगों ने पढ़े पढ़ाये हैं तथापि इतने से उन के बनाये नहीं कहे जा सकते। हम इस विषय में पहिले ही ३ अङ्क में लिख चुके हैं कि यदि जनकादि का इतिहास होने पर भी ब्राह्मणग्रन्थ वेद हैं तो इतिहास के अन्य पुस्तक वेद क्यों नहीं माने जाते ? और मीमांसा का प्रमाण भी लिख दिया था कि वेद में किसी निज देहधारी का नाम नहीं आसकता यदि निजदेहधारी का नाम वा कर्त्तव्यता आवे तो वेद अनित्य हो जावें अनादि अपौरुषेय नहीं कह सकते और ब्राह्मणग्रन्थों में निज देहधारियों का इतिहास प्रकट है। इस से ब्राह्मणभाग अनादि अपौरुषेय नहीं हो सकते। अब रही यह बात कि वेदवाक्य तीनों काल के अर्थों को जानते जनाते हैं यही

उन में वेदपन है। यह एक उपहास की बात है यह वाक्यार्थ असम्भव और वेद शब्द का निर्वचन व्याकरण से विरुद्ध है वेदवाक्य क्या चेतन हैं जो तीनों काल के अर्थों को जानते हैं ? कोई मनुष्य कह देवे कि व्याकरण के सूत्र सब शब्दों को जानते हैं तो क्या इस को विद्वान् लोग ठीक समझ लेवेंगे ? । जानना केवल चेतन आत्मा का गुण है अन्तःकरण ज्ञान का साधन है जिन वाक्यों में न भौतिक इन्द्रिय न अन्तःकरण आदि हैं उन में ज्ञान कहना सर्वथा असम्भव है इस में किसी शास्त्र का प्रमाण वा कोई युक्ति नहीं मिल सकती कि वेदवाक्य जानने के कर्त्ता हैं यदि ऐसा होता तो पाणिनिमुनि व्याकरण से कर्त्ता में ही प्रत्यय क्यों न विधान कर देते ? । छोटे २ विद्यार्थी भी जानते होंगे कि विद धातु से घञ्प्रत्यय किस २ कारक में होता है "हलश्च॥ अ० ३। ३। १२१" इस सूत्र पर "वेदः" यह भी उदाहरण जयादित्यादि ने दिया है। हलन्त धातु से करण और अधिकरण में घञ्प्रत्यय होता है तब यह विग्रह होगा "मनुष्याः सर्वान् पदार्थान् विदन्ति यैर्येषु वा ते वेदाः" मनुष्य सब पदार्थों को जिन से वा जिन में जानते हैं वे वेद हैं यह विग्रह व्याकरण के अनुकूल है ऐसा कहते तो ठीक होता वस्तुतः सूर्य की ओर निष्ठीवन (थूकने) से कोई कार्य नहीं निकलता केवल हानि ही होती है। अस्तु जो हो यह तो प्रसिद्ध ही है कि-व्याकरण से अपरिचित नैयायिक लोग "कर्त्तरि" के तुल्य "अर्थरि, शब्दरि" तक बोला करते हैं तो वाराणसी के प० वेद शब्द में कर्त्ता में प्रत्यय विधि करने लगें यह क्या आश्चर्य है ? । वाह ! वाह ! ! बनारस के पण्डितों का पाण्डित्य धन्यवादार्ह है ॥

अब प्रकृत यह है कि वेदों से तीनों काल के अर्थ जाने जाते हैं तो यह आवश्यक नहीं है कि जो वस्तु वेद प्रकट करते समय तक ईश्वर ने उत्पन्न नहीं की है उस का नाम ही न रख सके। अवश्य संसार के सब वस्तुओं की उत्पत्ति वेद से पहिले नहीं हो सकती यह मन्तव्य है मनुस्मृति में भी यही लिखा है कि "वेदशब्देभ्य एवादौ दिवं भूमिं च निर्ममे" इस से सृष्टि की उत्पत्ति से पहिले ही वेद विद्यमान हैं। परन्तु इस से यह नहीं आ सकता कि आगे होने वाले किन्हीं निजदेहधारियों का चरित्र लिखा जावे और फिर भी जिन का चरित्र ब्राह्मणग्रन्थों में है उन से भी अधिक गुणवान् अन्य महात्माओं का चरित्र क्यों नहीं लिखा गया ? । किन्तु यह बहुत ठीक और सब को मन्तव्य है कि वेदवाक्य अनादि नित्य हैं और उन के वाच्य सृष्टिस्थ पदार्थ सब उत्पत्ति विनाश धर्म वाले अनित्य हैं परन्तु वे पदार्थ कारणरूप से और प्रवाहरूप से बने रहते हैं इस लिये उन का अत्यन्ताभाव वा एकरस सदा बना रहना नहीं हो सकता। अत्यन्ताभाव तब हो कि जब एक पदार्थ एक वार नष्ट होकर फिर कभी कल्पकल्पान्तर में भी प्रकट न हो और जो सर्वदा एकरस बना रहे उस की कभी उत्पत्ति होना नहीं

कह सकते । इस लिये वेद में उन पदार्थों का वर्णन हो सकता है जिन का प्रवाह से आविर्भाव तिरोभाव होता रहता है जैसे सूर्य, चन्द्र पृथिवी, मनुष्य, गौ, पशु, पक्षी, वृक्ष आदि हैं ये सब प्रतिकल्प में ही उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं । इन के वर्णन से वेद अनित्य नहीं होते किन्तु नित्य बने रहते हैं और उन पदार्थों का वर्णन वेद में नहीं हो सकता कि जो एक वार किसी जातिस्थ कोई व्यक्ति विशेष में उत्पन्न हुआ उस व्यक्ति का फिर वैसा ही उत्पन्न होना सर्वथा असम्भव है जैसे विदेह देश के एक राजा जनक हुए उन की जैसी आकृति थी जो नाम था जो २ गुण कर्मस्वभाव थे जो २ नाम अवस्था गुण आदि उन के पिता माता में थे वैसी ही सब बातें आकर मिलें और उसी आकृति वाले जनक फिर कभी उत्पन्न हों यह कभी सम्भव है ? वा कोई कह सकता है ? । जो वृक्ष इस समय जिस स्थान में जितना ऊंचा जितनी डालो कांड पत्तां आदि जिन २ विशेषणों से युक्त हुआ है वही वृक्ष ज्यों का त्यों प्रवाह से कभी उत्पन्न हुआ करे यह कोई कह सकता है ? और कभी यह सम्भव है ? कदापि नहीं त्रिकाल में नहीं । फिर ऐसे सर्वथा अनित्य पदार्थों के वर्णन होने पर कौन उन वेदों को नित्य ठहरा सकता है ? । इस लिये भाईयो ! वाराणसीस्थ पण्डित महाशयो ! चेतो ! ऋषि महर्षियों के गूढ़ सिद्धान्तों को ध्यानदृष्टि से विचारो जनक याज्ञवल्क्यादि का इतिहास होने से ब्राह्मणभाग अनादि मूल वेद नहीं कहे जा सकते ॥

इस सब का तात्पर्य यह है कि ब्राह्मणभाग ऋषियों के कहे इसी से सिद्ध हैं कि जिन २ ब्रह्मर्षि वा राजर्षियों का इतिहास वा चरित्र ब्राह्मणों में लिखा है उन २ के पीछे हुए ऋषियों ने बनाये हैं और वेदार्थ के साथ सम्बन्ध लगाते आये हैं । यदि कहैं कि जनकादि सब लहमीलदारादि के समान अधिकार के नाम हैं तो पुराणादि में भी अधिकार के नाम क्यों नहीं ? यदि इन में भी मानों तो ये भी वेदों के तुल्य नित्य मानने चाहिये । और सन्देह निवृत्ति के लिये राम शब्द के साथ दाशरथ पद विशेषण रख देते हैं वैसे ही शतपथब्राह्मण में लिखा है कि "शौनकः पारिक्षितं जनमेजयं याजयाञ्चकार" परीक्षित् के पुत्र जनमेजय को शौनक ऋषि ने यज्ञ कराया यदि अधिकार का नाम होता तो विशेषण लगाने की कुछ आवश्यकता नहीं थी और विशेषण लगाने से अधिकार का नाम हो ही नहीं सकता । इस लिये जिन पुस्तकों में निज देहधारीव्यक्तियों का चरित्रवर्णन हो वह शब्दार्थ सम्बन्ध सर्वथा अनित्य होने से अपौरुषेय मूलवेद नहीं हो सकते और जिन पुस्तकों में प्रवाह से नित्य अर्थों का वर्णन हो उन को अनादि अपौरुषेय नित्य मूल वेद कह सकते हैं ॥

महाराजा वेंकटगिरि के प्रश्नों के उत्तर ॥

(१) प्रश्न—स्वामीदयानंद जी ने ऐसा लिखा है कि वेद में मन्त्रभाग ईश्वर प्रणीत है क्योंकि ? ब्राह्मणभाग और उपनिषद् भाग ऋषियों का किया है इस बात में मुझ को संदेह है कि, मन्त्रभाग में अग्निष्टोमादि यज्ञों का विषय, और शत्रुसंहार करने के लिये अस्त्रशस्त्र ब्रह्मास्त्रादि विषय बहुत हैं इस लिये पशुहिंसा मनुष्यहिंसा ईश्वर को प्रसन्न होना चाहिये उन मन्त्रों का हिंसा व्यतिरिक्त अर्थ मैं करता हूं करके कोई पंडित संस्कृत भाषा अतिगहन एक शब्द का नानार्थ होने से, और धात्वर्थ से, अर्थ भेद करके अपने विद्या बल से अन्यार्थ कर सकेगा परन्तु यह मैं नहीं मानता क्योंकि पुरातन देवर्षि बृहस्पति वा शुक्राचार्य और महर्षि अगस्त्य वशिष्ठ प्रभृति ने मन्त्र भाग का यज्ञादि कार्य में हिंसा पर अर्थ करके अश्वालभ गवालंभादि यज्ञ किये और कराये भी हैं तब से अब तक बड़े बड़े पण्डित विद्वान् लोग उसी रीति से अग्निष्टोमादि यज्ञ करते हैं और कराते भी हैं और वेदभाष्य करने वाले विद्यारण्य स्वामी भी उन मन्त्रों का हिंसा पर अर्थ लिखते हैं ऐसा अर्थ करने से और ऐसा आचार करने से कोई आक्षेप ले, कि वे लोग मांसाहार करने के लिये, ऐसा अर्थ करके यह आचार करते थे परन्तु उस काल में मांसाहार करते ही थे इस लिये वह आक्षेप लेना जरूर नहीं और दूसरा कोई कहे कि पहिले ऋषि लोगों को अर्थ करने में कुछ गलती हो गई होगी, तो मैं यह कहता हूं कि जो पहिले ऋषि लोग योगदृष्टि ज्ञानदृष्टि संपन्न थे, वे गलती कैसे लिखेंगे ? वे आर्य लोग सत्यमार्ग से चलने वाले थे इसी लिये आप की समाज का नाम "आर्यसमाज" रक्खा है और ब्राह्मण, षडङ्ग, षडुपांग, चार उपवेद, एक सहस्र एक सौ सत्तावीस शाखा, ये ऋष्युक्त वेद व्याख्या हैं ऐसा श्री दयानन्द स्वामी लिखते हैं, इन की ऐसी लिखी हुई बात ख्याल में आयें तो ऋषि लोगों ने मन्त्रों का अर्थ हिंसा पर किया, या गलितार्थ किया, यह बात कैसी हो सक्ती है एक ही आदमी एक ही काल में भला और बुरा कैसा लिखेगा ? और कर सकेगा ? और स्वामी लिखते हैं कि, पक्षपात रहित न्यायाचरण और सत्यभाषण जो है, सोई ईश्वराज्ञा, जो वेदविरुद्ध नहीं होता है, वह धर्म है और जो वेदविरुद्ध होता है सो अधर्म है इस से मालूम होता है कि वेद ईश्वर प्रोक्त नहीं इस लिये जैसा ईश्वर सत्य है वैसा वेद का मन्त्रभाग भी सत्य होना चाहिये और वेद कहने से तो मन्त्र, ब्राह्मण, उपनिषद्, यह तीनों भाग का वेद में समावेश होता है इस लिये ये तीनों ईश्वरप्रणीत या ऋषिप्रणीत होने चाहियें ऐसा है तो इन में से मन्त्रभाग ईश्वरप्रणीत है और दूसरे दो भाग ऋषिप्रणीत हैं, यह बात स्वामी दयानन्द को कैसी मालूम हुई ? जैसे मुसलमानों के पैगम्बर को खुदा आप खबर भेजता था, मालूम होता है कि,

ऐसा ही ईश्वर ने स्वामी को, एक भाग वेद का ईश्वरप्रणीत है और दूसरे दो भाग ऋषिप्रणीत हैं ऐसी खबर भेजी होगी ? ।

उत्तर–मन्त्रभाग और ब्राह्मण उपनिषद् तीनों क्यों नहीं वेद माने जाते ? मन्त्रभाग के ही वेद मानने में क्या प्रमाण है ? क्या दयानन्द स्वामी के पास ईश्वर की ओर से कोई आयत उतरी थी कि मन्त्रभाग ही मेरा बनाया है ब्राह्मण उपनिषद् ऋषिकृत हैं। इस का उत्तर विशेष कर महामोविद्रावण के उत्तरों में (जो आर्यसिद्धान्त में आरम्भ से छपते हैं और आगे भी छपेंगे) विस्तारपूर्वक मिलेगा वहां आदि से देखना चाहिये। तथापि आयत उतरने के विषय में सुनिये ! कुछ आवश्यकता ईश्वर को नहीं है कि वह किसी को बतावे कि अमुक पुस्तक मेरा बनाया है अमुक नही क्योंकि ईश्वर ने परीक्षा करने के साधन मनुष्य को दे दिये हैं जिन से परीक्षा कर सकता है कि यह ईश्वरीय वचन है यह नही है। यदि ईश्वर साधन देकर भी बताने को आवे वा खबर भेजे तो साधन देना व्यर्थ हो जावे और फिर सभी बातें ईश्वर सब को बतावे करावे तो बुरे काम भी ईश्वर की ओर से हो जावें। राजा साहब से कोई पूछे कि जिन पुस्तकों को मनुष्यों के बनाये आप मानते हों उन के मनुष्यकृत होने में क्या ईश्वर ने आप के पास संदेशा भेजा कि वे मेरे बनाये नहीं हैं किन्तु मनुष्य के बनाये हैं। क्योंकि जैसे आप ब्राह्मणभागों को ईश्वरकृत कह सकते हैं वैसे कोई अन्य ऋषिकृत पुस्तकों को भी ईश्वरकृत कह सकता है उस के लिये साबूती क्या देंगे ? । यदि कहें कि अन्य ऋषिकृत पुस्तको के ईश्वरकृत न होने में अनेक प्रमाण उन्हीं पुस्तकों में हैं तो हम भी यही उत्तर दे सकते हैं कि ब्राह्मण उपनिषदों में भी ऐसे अनेक प्रमाण मिलते हैं जिन से वे ईश्वरीय अनादि वेद नहीं हो सकते यदि कहो कि जैसी बातें ब्राह्मणों में हैं वैसी ही वेदों में हैं तो उत्तर यह है कि बहुतसी बातें वेदों के समान ही धर्मशास्त्रों और इतिहासों में भी हैं तो वे भी वेद हो जावें ? वस्तुतः जिन बातों के होने से ब्राह्मणादि पुस्तक ईश्वरकृत अनादि मूल वेद नहीं ठहरते वैसी बातें मन्त्रभागरूप मूल वेदों में नही हैं इसी लिये वे वेद ईश्वरकृत अनादि ठहरते हैं ॥

अग्निष्टोमादि यज्ञों के करने की आज्ञा वेदों में वस्तुतः है इस से वेद का महत्व बढ़ता है किन्तु किसी प्रकार का दोष नहीं आता। और अग्निष्टोमादि यज्ञों में पशु आदि की हिंसा वस्तुतः नहीं है । यह बात तो सत्य है कि एक मन्त्र का अर्थ कोई विद्याबल से अन्य प्रकार कर सकता है परन्तु परीक्षा कर देखने से और दो तीन प्रकार का अर्थ मिलाने से निश्चित कर सकते हैं कि इन में यह बनावटी है सो यदि राजा साहब ने किसी मन्त्र का अर्थ ऋषियों का किया जैसा देखा हो और उसी को खेंच कर श्रीस्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने अन्यथा लगाया देखा हो तो उस को कृपा कर मेरे पास लिख भेजें मैं उत्तर दूंगा और तभी उत्तर देना ठीक बनेगा । हमारा सिद्धान्त यह नहीं है कि अगस्त्य वशिष्ठ आदि

महर्षियों ने हिंसा विषय में वेद का अर्थ किया है सो ठीक नहीं । किन्तु हमारा सिद्धान्त है कि महर्षि लोगों ने हिंसापरक वेद का अर्थ किया ही नहीं यदि किसी महाशय ने ऋषिकृत हिंसापरक वेदार्थ देखा हो तो सूचित करें । हम लोग ऋषियों पर कभी आक्षेप आने देना नहीं चाहते हां यह हो सकता है कि ऋषियो के नाम से कोई स्वार्थी वा स्वमत प्रचार चाहने वाला वचन बना लेवे कि ऋषियों के नाम से सब कोई मान लेंगे जैसे दिल्ली की मिठाई के नाम से ऊंट की लेंडी भी किसी ने खा ली थी । इस को हम लोग अनेक रीतियों से परीक्षा कर लेते हैं । धर्मशास्त्रों के वक्ता सब महर्षियों का यह परमसिद्धान्त है कि "अहिंसा परमो धर्मः" अहिंसा परम धर्म है तब वे लोग कैसे दोनों नाव पर पग धर सकते थे कि इधर हिंसापरक वेद का अर्थ करते इधर अहिंसा को परम धर्म ठहराते इस से निश्चित है कि ऋषियों का सिद्धान्त अहिंसा सर्वोत्तम मानने का ही है । हां यह बात तो अवश्य है कि जो ऋषि लोग तप करने के लिये वन में रहते थे उन की तथा प्रजा की रक्षा के लिये आर्य राजा महाराजा लोग वन के दुष्ट जन्तुओं को मृगया (शिकार) द्वारा मारते थे उन जन्तुओं की हिंसा धर्म रक्षा के लिये है इस से वह अहिंसा है क्योंकि वे दुष्ट जीवधारी ऋषि आदि के धर्म कृत्यों में महाविघ्नकारक होते हैं उन वन्यपशुओं का मांस यदि राजपुरुष खावें तो कोई विशेष दोष नहीं केवल इतना भय हो सकता है कि उन राजपुरुषों का मांसाहारी स्वभाव हो जावे तो ग्राम के उपकारी पशुओं को भी मार खाने का सम्भव है परन्तु पूर्वज आर्य लोग धर्म अधर्म उपकार अपकार को अच्छे प्रकार विचार के धर्मविरुद्ध कदापि नहीं चलते थे इस से उन का स्वभाव मांसाहारी होना सम्भव नहीं था इसी लिये वे लोग उक्त प्रयोजनार्थ मारे हुए वन्य पशुओं का मांस अन्नादि के अभाव में प्राण रक्षार्थ ग्रहण करते हों श्रीस्वामी दयानन्दसरस्वती जी महाराज ने भी सत्यार्थप्रकाशादि में यही लिखा है कि हानिकारक वन के दुष्ट पशुओं को राजपुरुष विघ्न शान्त्यर्थ मारें तो उन के मांस खाने में अन्य हानि तो नहीं है परन्तु मांसाहारी स्वभाव पड़ जाने से उपकारी पशुओं को मार खाने का भय है । सो भी यह बात इतिहासों से सम्बन्ध रखती है किन्तु वैदिकीहिंसा से तात्पर्य्य नहीं है । "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति ॥ हिंसा चैवाविधानतः" इत्यादि वचन जो धर्मशास्त्रों में मिलते हैं कि वेद रीति से जो हिंसा है वह हिंसा नहीं कहाती और वेदविधि से भिन्न हिंसा करना अधर्म है किन्तु जिस स्थल में वेद की आज्ञा

हिंसा के लिये मिलती हो वह हिंसा अधर्म नहीं किन्तु धर्म ही है इस से यज्ञादि में हिंसा आ सकती हो सो नहीं है किन्तु इस का तात्पर्य्य यह है कि राजा का दुष्ट प्राणियों को मार के श्रेष्ठों की रक्षा करना मुख्य कर्त्तव्य है जैसे मनुस्मृति के राजधर्म में लिखा है कि "पुमांसं दाहयेत्पापं शयने तप्तआयसे" महापापी जन को तपी हुई लोहे की खाट में पड़ा के जला देवे। और भी देखो!

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥१॥

गुरु हो वा बालक, वृद्ध वा बहुश्रुत पं० ब्राह्मण हो यदि आततायी हो जावे (सर्वथा विचाररहित उन्मत्त के तुल्य सज्जन निरपराधियों को पीड़ा देवे वा मार डालने को उद्यत होकर आवे वह आततायी कहाता है) तो राजा को उचित है कि विना विचारे मरवा डाले क्योंकि आततायी के मारने से हिंसारूप दोष मारने वाले को नहीं लगता। ऐसे ही अन्य दुष्ट वन के सिंहादि प्राणियों के मारने में हिंसा दोष नहीं है इसी को वैदिकीहिंसा वा विहितहिंसा कहते हैं। यद्यपि दुष्ट प्राणियों के मारने में भी उन को प्राणवियोग का दारुणदुःख पहुंचना यह भी हिंसा ही है और हिंसाजन्यपाप भी हिंसक राजादि को अवश्य होता है परन्तु उपकार और पुण्य की अपेक्षा पाप बहुत न्यून होता है इसलिये वह अहिंसा ही कहाती है जैसे एक हिंसक सिंह को मार डाला कि जो अपने जन्म भर में सैकड़ों अधिक उपकारी देहधारियों को मार खाता तो एक को मार कर सौ को बचाना सौगुना उपकार वा पुण्य और एका गुणा पाप हुआ ऐसे कार्यों को धर्म ही कहते हैं इसलिये वेदविहित हिंसा को अहिंसा कहते हैं। अब रहा शत्रुसंहार और ब्रह्मास्त्रादि का वर्णन सो यह क्षत्रियों के प्रधान धर्म-युद्ध विषय की वार्त्ता है ईश्वर की तो आज्ञा वेदद्वारा यही है कि धर्मात्मा राजादि लोग ब्रह्मास्त्रादि से अधर्मी डाकू वा प्रतिपक्षी अधर्मात्मा राजादि को मारें धर्मात्माओं का विजय अधर्मियों का पराजय होना ईश्वर को सर्वदा अभीष्ट है यही ईश्वर का न्याय है इसी न्याय प्रवृत्ति के अर्थ ब्रह्मास्त्रादि का विषय वेदद्वारा उपदेश किया है इस से ईश्वर पर हिंसा चाहने का दोष नहीं आ सकता। यदि ब्रह्मास्त्रादि से कोई अन्यथा ईश्वर के अभिप्राय से विपरीत कार्य करे तो वह उस कर्त्ता का दोष है ईश्वर का नहीं जैसे लेखनी बनाने के शस्त्र से हाथ काट लेना चाकू बनाने वाले का दोष नहीं।

और कोई पं० विद्याबल से वेद का अर्थ अपने पक्ष में लगा सकता है यह तो ठीक है परन्तु श्री स्वामी दयानन्दसरस्वती जी ने जहां ऐसा किया हो उस

को आप दिखाइये और अन्य जिस अर्थ को ठीक समझते हों उस को भी लिखिये तब उत्तर ठीक २ दिया जाय । पूर्व से लेकर अब तक यह सब आर्यों का सिद्धान्त है कि वेद सब धर्मसम्बन्धी कर्त्तव्य कार्यों और विद्याओं का मूल है तो स्वामीजी ने किस स्थल में अधर्म वा अविद्या की बात वेद से निकाली है उस को प्रकाशित करना चाहिये। यदि कहीं अन्य ऋषि आदि लोगों ने कोई अन्य धर्मसम्बन्धी विषय निकाला हो और स्वामी जी महाराज ने अन्य उपयोगी अर्थ किया हो तो यह विरोध नहीं कहा जा सकता क्योंकि वे सब बातें वेद से निकल सकती हैं जैसे ज्योतिष और वैद्यक परस्परविरुद्ध नहीं कहे जाते । ऐसे अनेक विषय होते हैं जो परस्परविरुद्ध नहीं होते, परस्परविरुद्ध ये हैं जैसे सुख दुःख, दिन रात धर्म अधर्म इत्यादि ये दो २ विषय इकट्ठे नहीं रह सकते। स्वामी जी महाराज ने जो वेद का अर्थ किया है उस से विशेष कोई पण्डित विद्या और धर्म विषय में अर्थ करे तो इस से स्वामी जी का किया अर्थ खण्डित नहीं हो सकता क्योंकि उन्हों ने यह इयत्ता (हद्द) नहीं कर दी है कि हमने जो अर्थ कर दिया है इस से अधिक अर्थ नहीं है। जब ऐसा नहीं है तो विरोध कहां मिल सकता है । और यह राजा साहब से निवेदन है कि वशिष्ठऋषि आदि ने मन्त्रभाग का हिंसा पर अर्थ किस पुस्तक में किया है और अश्वालम्भ गवालम्भ किस इतिहास में ऋषियों के किये लिखे हैं? उन के पते और वे वचन प्रमाण देने चाहिये । "राष्ट्रं वा अश्वमेधः,, यह शतपथ ब्राह्मण का वचन है । राज्य ही अश्वमेध है इस का तात्पर्य यह है कि राज्य में अश्वमेध हो सकता है अश्वमेध करना राजा का ही काम है प्रजा का नहीं । अश्व-घोड़े को मेध नाम सङ्गत करना अर्थात् जिस कर्म विशेष में घोड़े की सम्यक् गति गमन करना हो वह अश्वमेध कहाता है । यह बात प्रसिद्ध इतिहासों में लिखी है कि जिन २ चक्रवर्त्ति आर्य महाराजों ने अश्वमेध किया है उन्हों ने अच्छा नामी घोड़ा छोड़ के निश्चय किया है कि यदि हमारा सामना कोई कर सकता हो तो घोड़े को बांध लेवे यदि कोई बांध लेता था तो उस के साथ युद्ध ठन जाता था "अश्वमेध,, यज्ञ चक्रवर्त्ति होने की एक निशानी है घोड़ा छोड़ने के सम्बन्ध से अश्वमेध कहाता है कुछ घोड़े के मारने से तात्पर्य नहीं है "मेधृ सङ्गमे च,, मेधृ धातु सङ्गम, मेधा और हिंसन तीन अर्थों में है इन में से किसी स्वार्थी वा वेदविरोधी ने हिंसन अर्थ लेकर हिंसा ठहरा के वेद को निन्दित किया और बहुतों से ऐसे कर्म कराये भी होंगे क्योंकि घोड़े को मारने की चर्चा अनेक ग्रन्थों में मिला दी है और ऋषियों के नाम भी रख दिये हैं परन्तु मूलवेद में किसी ने नहीं मिलाया । यही कुशल रही । मेधृ धातु का हिंसार्थ

यज्ञ के साथ ही लिया जावे इस में कोई विशेष प्रमाण नहीं मिल सकता। जो २ आर्यराजा लोग चक्रवर्त्ति होते आये हैं उन सब ने अश्वमेध किया परन्तु राणियों से घोड़े का समागम भी महाघृणित और लज्जा का स्थान है। राजा दशरथ जी ने अश्वमेध किया है सो वाल्मीकीय रामायण में लिखा है घोड़े से समागम आदि नहीं लिखा है अश्वमेध का शतपथब्राह्मण के अनुसार द्वितीयार्थ यह भी है कि "अश्वो वा ईश्वरः, आज्यं मेधः" अश्वाय मेधोऽश्वमेधः। अशूङ् व्याप्तौ। धातु से अश्व शब्द बना है व्याप्त ईश्वर की आज्ञापालन के लिये जो घी की आहुति देना है सो अश्वमेध है इस से यौगिक हुआ परन्तु इस में विधि विशेष है उस से योगरूढ़ मानना चाहिये। यद्यपि अश्वमेध का मुख्य तात्पर्य चक्रवर्त्ति होने का नमूना है तथापि आर्यों के सब शुभ कर्मों के साथ ईश्वर प्रार्थनोपासना हवनादि मङ्गल कार्य लगे चले आते हैं छोटा बड़ा जैसा कार्य हो उस में वैसा ही होम दान पुण्य आदि करते आये हैं अश्वमेध एक बड़ा कर्म है इस लिये उस में यज्ञादि का बृहत् विधान है। इसी प्रकार अन्ययज्ञों में भी हिंसा नहीं है। विद्यारण्य स्वामी जी ने जो हिंसापरक वेदार्थ किया है इस का उत्तर यही है कि जब उन से पहिले जो कोई वेदार्थ वक्ता हुए उन्हों ने भी ऐसा किया तो एक दूसरे के सहारे भेड़ चाल पर चलते आये कुछ विचार विशेष नहीं किया यही उन लोगों की न्यूनता रही। विशेष विचार करने वाले सब मनुष्य नहीं होते लाखों में कोई कभी हो जाता है जो बहुत दिन से निर्मूल चली हुई बातों का मूल खोज लेता है। ऐसे ही विद्यारण्य स्वामी जी आदि ने खोज न किया और श्रीस्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने ऐसी २ बातों का मूल अच्छे प्रकार खोजा। यज्ञ शब्द से भी किसी प्रकार हिंसा नहीं आ सकती। देव पूजा आदि यज्ञार्थ के अभिप्राय से हिंसा एक विपरीत कर्म प्रतीत होता है। अब उपसंहार में फिर भी यही लिखा जाता है कि ऋषियों के बनाये ग्रन्थ न तो परस्पर विरुद्ध हैं न ऋषि लोगों ने हिंसा पर वेद का अर्थ किया है यदि कहीं हो तो किसी का मिला देना सम्भव है। ऋषियों का तो यही सिद्धान्त है कि अहिंसा परम धर्म है। और मन्त्रभागरूप मूल वेद यथार्थ सत्य हैं उन में कोई दोष वा मिथ्या बात नहीं है। यदि किसी को किसी मंत्र पर अन्यथा होने की शङ्का हो तो लिखे कि अमुक मंत्र में अमुक बात अन्यथा प्रतीत होती है तो यथावत् समाधान दिया जायगा ॥ इतिशम् ॥

(गत अङ्क पृष्ठ४७से आगे भारतधर्ममहामण्डल के उत्तर।)

(८) प्रश्न—छः दर्शनों वा छः शास्त्रों के मुताबिक कौन २ सी पुस्तकें हस्त गत हो सकती हैं ?।

उत्तर—कणादेन तु संप्रोक्तं शास्त्रं वैशेषिकं महत् ।
गौतमेन तथा न्यायं साङ्ख्यन्तु कपिलेन वै ॥१॥

कणाद नामक महर्षि ने महान् वैशेषिक शास्त्र गौतम ऋषि ने न्यायशास्त्र और कपिलाचार्य्य ने साङ्ख्य शास्त्र बनाया है ॥

द्विजन्मना जैमिनिना पूर्वं वेदमयार्थतः ।
निरीश्वरेण वादेन कृतं शास्त्रं महत्तरम् ॥ २ ॥

द्विजन्मा जैमिनि महर्षि ने वेद का अर्थरूप पूर्वमीमांसा नामक शास्त्र (जिस में विशेष वैदिक कर्म की प्रधानता का वर्णन है किन्तु ईश्वर विषयक वादविवाद नहीं) बनाया है ॥ पतञ्जलि ऋषि का बनाया योगशास्त्र और व्यास महर्षि का बनाया वेदान्तदर्शन ये छः शास्त्र मूलरूप ऋषियों के नाम से प्रवृत्त हैं इन सब पर भाष्य भी अन्य२ ऋषियों ने किये सो कई मिलते हैं जैसे वैशेषिक पर प्रशस्तपाद भाष्य । न्याय पर वात्स्यायन जी का भाष्य । योग पर व्यास जी का भाष्य । वेदान्त पर शङ्करस्वामी का भाष्य । पूर्वमीमांसा और साङ्ख्य के भाष्य सीधे सो लुप्तप्राय हो गये हैं । इन छः शास्त्रों पर पृथक्२ नवीन लोगों ने भी अनेक ग्रन्थ कल्पित किये हैं । वे उन २ शास्त्रों के अनुकूल हों तो टीकारूप से उन्हीं के आश्रित माने जा सकते हैं।पर मुख्य कर छः शास्त्र छः ऋषियों के सूत्र भाष्य ही ग्रहण किये जाते हैं ॥ पतंजलि ऋषि ने व्याकरण महाभाष्य में कहा है कि "यो ह्युत्सूत्रं कथयेन्नादो गृह्येत" जो कोई सूत्र से विरुद्ध व्याख्यान करे वह ग्राह्य नहीं हो सकता । इस से यह आया कि जो मूल ऋषियों के छः शास्त्रों के विरुद्ध कोई व्याख्या आदि करे तो वह उस शास्त्र में ग्राह्य नहीं हो सकती ।

(९) प्रश्न—अब तक भाषा में कौन २ से अनुवाद उन दर्शनों के मौजूद हैं.

उत्तर—वेदान्त, न्याय और योग इन तीन शास्त्रों के भाषा में अनुवाद हुये हैं पर यह कहने में संकोच आता है कि वे अनुवाद मूल के सर्वथा अनुकूल हों तथापि न होने की अपेक्षा होना कह सकते हैं । श्रीयुत पं० शालिगराम शास्त्री जी अजमेर वालों ने जो न्याय का अनुवाद किया है वह अन्य भाषानुवादों की अपेक्षा अच्छा है ॥

(१०)प्रश्न—का उत्तर अगले अङ्क में दिया जावेगा ॥

(११) प्रश्न—वैद्यक (चिकित्सा) शास्त्र के सम्बन्ध में कौन २ से पुस्तक मौजूद हैं

उत्तर—वैद्यक शास्त्र को उपवेदों के अन्तर्गत आयुर्वेद कहते हैं इस के अनुसार आचरण करने वाला मनुष्य पूर्ण आयु को प्राप्त होता है इसी लिये आयुर्वेद नाम पड़ा है । "आयुर्विन्दति येन सः" इस में चरक सुश्रुत आदि ऋषियों के

बनाये पुस्तक हैं जिन में चरक सुश्रुत दोनों प्रचरित हैं अन्य लुप्तप्राय हो रहे हैं। अन्य भी भावप्रकाश, वाग्भट्ट, शार्ङ्गधर संहितादि चिकित्सा के उपयोगी होने से मूल चरकादि के आश्रय से गौण रीति पर वैद्यक ग्रन्थ कहे जाते हैं मुख्य कर आर्ष ग्रन्थ चिकित्साशास्त्र ही हैं॥

(१२) प्रश्न-मन्त्रशास्त्र के सम्बन्ध में कौन २ से पुस्तक हैं और मन्त्रशास्त्र को यथार्थ जानने वा करने वाले आज कल हैं वा नहीं ? ॥

उ०-इस प्रश्न में यदि प्रश्नकर्त्ता का तात्पर्य वेदमन्त्रों से है तो ठीक है। यद्यपि इस बिगड़े हुए समय में वेद को अच्छे प्रकार जानने और तदनुसार आचरण करने वाले बहुत न्यून हैं तथापि निर्बीज पृथ्वी नहीं है। परन्तु ठीक २ वेदानुकूल कार्य करने वाले तो मिलने दुर्लभ हैं किन्तु जानने वाले ता मिल भी सकते हैं। मन्त्रशब्द के साथ शास्त्रशब्द लगाया है इस से मन्त्रशास्त्र वेद ही हो सकते हैं॥

द्वितीय गुप्त विचार को भी मन्त्र कहते हैं जैसे "यस्य कृत्यं न जानन्ति मंत्रं वा मन्त्रितं परे" जिस के मन्त्र (कर्त्तव्य गुप्त विचार) और मन्त्रित (किये हुए गुप्त विचार) को कोई नहीं जानता किन्तु किये कार्य को जानते हैं कि इस ने पहिले से प्रकट न करके यह काम कर दिखाया वह पण्डित कहाता है। इत्यादि प्रकार के मन्त्र को जानने वाले नीतिज्ञ लोग अब भी बहुत हैं॥

तृतीय यदि मन्त्रशास्त्र करके मारण मोहन उच्चाटनादि जादू टोना तेली चमार कोरी आदि के करने की ढोंगलीला से प्रश्नकर्त्ता का तात्पर्य हो तो उस को मन्त्रशास्त्र ही नहीं कह सकते वे मन्त्राभास भ्रष्टाचार के प्रवर्त्तक वेदबाह्य मतों के फैलाने वाले वेदशास्त्र से छुड़ा संसार में फूट करा के दुःखसागर में डुबाने वाले हैं। वे केवल तमोगुण के प्रवर्त्तक हैं मद्य मांस और व्यभिचार इन्हीं से प्रवृत्त हुए हैं वाममार्ग का मूल भी यही मन्त्राभासों की प्रवृत्ति है इस लिये जब उन को मन्त्रशास्त्र ही नहीं कह सकते तो उन के जानने वालों का विचार करना व्यर्थ है॥

(धर्मसुधावर्षणपत्र द्वितीयखण्ड के उत्तर विषय में)

प्रियविवेकी महाशयो! काशीस्थ वैदिकधर्मवर्द्धनीसभा कार्यनिर्वाहक पण्डितकुलयशस्त्रिशास्त्रिसम्पादित भाद्रपदी पौर्णमासी के मुद्रित हुए "धर्मसुधावर्षण" पत्र में एक लेख छपा है जिस में वैदिकधर्मानुयायियों का लक्षण और ब्राह्मणभाग का संक्षिप्त वेदत्वव्यवस्थापन तात्पर्य काशीस्थ पण्डितों ने दर्शाया है और यह भी कहा है कि ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद और अथर्ववेद इन चार वेदों के अनुसार जो लोग कर्मानुष्ठान करते हैं वे वैदिकधर्मानुयायी कहाते हैं न कि वेद के घोषण और अर्थ करने वाले, क्योंकि बहुत से लोग आज कल के

समय में ऐसे देख पड़ते हैं जो कि वेद के अर्थ घोष कर वेद के उपदेष्टा भी हो जाते हैं । इत्यादि ॥

और आगे इन महाशयों ने अपने लेख में वेदार्थ जानने वालों को वेद-विद्वेषी भी लिखा है उक्त विद्वानों ने अपने लेख में जो ऋग्वेदादि वेदों के अनुसार कर्म करने वालों को वैदिकधर्मानुयायी लिखा यह तो सर्वसम्मत है परन्तु वेदार्थ जानने वालों को वेदविद्वेषी जो लिखते हैं यह विपरीत है क्योंकि जिस प्रकार इस समय में काशी आदि नगरों में वेद को पाठमात्र पढ़ते हैं और पाठमात्र पढ़ कर वैदिकधर्मानुष्ठान करने पर उद्यत हो जाते हैं यह अत्यन्त अव्यवस्था है और शोक हम लोगों को विशेष इस बात का आता है कि काशी जैसे नगर में जहां वैयाकरण नैयायिक मीमांसक सामवेदी ऋग्वेदी यजुर्वेदी आदि महानुभाव विद्वान् नाना प्रकार की विद्याओं के विज्ञ विराजमान हैं फिर भी वैदिक कर्म करने के लिये वेदार्थ का आदर नहीं यह कैसी अव्यवस्था है क्योंकि वेद का नाम लेने से वा वेद के पाठमात्र से वैदिककर्म का फल नहीं हो सकता तद्यथा—

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योर्थम्
योर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा॥

अर्थ—जो पुरुष वेद को पढ़कर उस का अर्थ नहीं जानता वह ठूंठ है वा भारहार हैं जैसे ठूंठ में फल नहीं होता वा भार का वहने वाला पशु उस वस्तु के तत्त्व को नहीं जानता इसी प्रकार वेदार्थ न जानने वाला पुरुष है और जो वेदार्थ को जानता है वह समस्त कल्याण को प्राप्त होता है और निष्पाप होकर स्वर्गादि फल को प्राप्त होता है और मनु जी का भी सिद्धान्त यही है कि वेद और शास्त्रों के अर्थ तत्त्व को जानने वाला जिस किसी आश्रम में क्यों न हो इसी लोक में स्थिर हुआ ब्रह्म भाव की कल्पना को प्राप्त होता है तद्यथा—

वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन् ।
तिष्ठन् इहैव लोके स ब्रह्मभूयाय कल्पते । मनु० ॥
वेदस्याध्ययनं सर्वं धर्मशास्त्रस्य चापि यत् ।
अजानतोर्थं तत्सर्वं तुषाणां कण्डनं यथा ॥

अर्थ—वेद और धर्मशास्त्र का जो अध्ययन है वह अर्थ को विना जाने भूसी के फटकने के समान है जैसे भूसी का फटकना निष्फल है वैसे उक्त अध्ययन निष्फल है॥

पाठमात्ररतान्नित्यं द्विजातींश्चार्थवर्ज्जितान् ।
पशूनिव च तान् प्राज्ञो वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ॥

वेदादिशास्त्रों के नित्य पाठमात्र में जो रत हैं और अर्थ वर्जित हैं अर्थ नहीं जानते उन द्विजातियों का वाणी से भी सत्कार करना न चाहिये ।

इत्यादि बहुत प्रमाण हैं जिन से अर्थसहित ही वेद का पढ़ना ठीक है अन्यथा ठीक नहीं अतएव आर्यजन वेद के अर्थ को घोषते और घोष के उपदेष्टा भी बनते हैं और वह तदनुसार वैदिककर्म भी करते हैं आश्चर्य का विषय है कि यदि वेदार्थज्ञ पुरुषों को वेद पर पूर्णविश्वास न होगा तो क्या पाठमात्र वेद के पढ़ने वालों को होगा पाठ मात्र पढ़ने वाले क्या विश्वास कर सकते हैं। यदि अर्थ के जानने वाले ही वैदिक नहीं हैं तो क्या पाठ के जानने वाले वैदिक हो सकते हैं ? ।

प्रिय महाशयो ! मनु जी ने जो धर्म कहे हैं वे यथार्थ में वेदसम्मत हैं पर मनु जी का कीर्त्तन करते २ जो आप लोगों ने पुराणों पर दृष्टि दी कि—

यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः ।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ॥

इस प्रमाण से मनूक्त समस्त धर्म वेद संमत है इसी प्रकार पुराणों का भी प्रमाण हो सो महाशयो ! उक्त प्रमाण में पुराणों की चर्चा भी नहीं फिर क्या आप ने अपने लेख में जो आगे बढ़ कर वणिये का दृष्टान्त दिया है उस से पुराणों का प्रमाण होगा । आप कहते हैं कि ऋषि लोगों ने इस लिये पुराण बनाये हैं कि जब लोग अपने अभागवश से वेद को छोड़ देंगे पुराण के आश्रय होके सनातन वैदिकधर्म को जान जांयगे इत्यादि । महाशयो ! इन पुराणों से वैदिकधर्म जान तो क्या जायंगे किन्तु पुराणो के देखने वाले वैदिकधर्म कर्म को भूल जांयगे ऐसा कहना चाहिये क्योंकि जो असम्भव लेख मिथ्या जाल पुराणों में भरे हुए हैं वह कहीं वेद वा धर्मशास्त्रों में नहीं मिलते हैं यदि आप वैदिक कर्म करने वाले सज्जनों को मिथ्या जाल में फांसे रहिये तो अवश्य वेदोक्त कर्मों को वे लोग भूल बैठेंगे तनिक ध्यान दीजिये कि जो २ मतमतांतर पुराणों में भरे हुए हैं कहीं वेद वा धर्मशास्त्र में भी मिलते हैं ? जिन धर्मशास्त्रकर्त्ता मनु जी महाराज को आप सर्वज्ञान परिपूर्ण कह चुके हैं उन्हों ने भी कहीं पुराणा के समान मिथ्या जाल और असम्भव लेख लिखे हैं ? यदि कहिये धर्मशास्त्रकार मनुजी की प्रतिज्ञा धर्ममात्र विषय वर्णन में है तो हम पूछते हैं कि जो धर्म कर्म पुराणों में लिखे हैं वे मनूक्त धर्मों से क्यों नहीं मिलते मनुजी ने एकादश्यादि व्रत कहीं नहीं कहे पुराणों में ऐसे अनेकों कर्म भरे हुए हैं फिर भी पुराणों को ऋषिप्रणीत आप लोग मानते हैं और पुराणों में पुराणकर्त्ता व्यास जी प्रसिद्ध हैं उस नाम पर यह भी आप लिखते हैं कि व्यास किसी व्यक्ति का नाम नहीं किन्तु पदवी का है जो

व्यास पद्वी पर आता है सोई अपना कृत्य इतिहासपुराणादिरूप करता है जिस प्रकार जो पुरुष मजिष्ट्रेट पद्वी पर आता है सोई मजिष्ट्रेटी का काम करता है यद्यपि मजिष्ट्रेट बदलते रहते हैं परन्तु मजिष्ट्रेटी का काम कभी नहीं बदलता बराबर उसी तरह चलता है और जिस काल में जो पद्वी पर होता है वही उसी कार्य का कर्त्ता भी कहाता है इसी प्रकार सत्यवती के सुत व्यास जी भी अष्टादशपुराणों के कर्त्ता कहाते हैं इसी से यह न समझना चाहिये कि सत्यवती सुत व्यास से प्रथम इतिहास पुराणादिक न थे इत्यादि। आगे आप ने यह भी लिखा है कि यह शङ्का न करनी चाहिये कि वर्त्तमान अष्टादश पुराण और हों सत्यवती सुत व्यास जी ने बनाय दिये हैं वर्त्तमान अष्टादशपुराण भी वही हैं जो कि परम्परा व्यास पद्वी पर चले आते हैं सत्यवती सुत व्यास भी वर्त्तमान पुराणों के दृढ़तर प्रबन्ध करने से अष्टादश पुराणों के कर्त्ता कहाते हैं। उक्त लेखानुसार आप लोग यह भी सूचित करें कि व्यास पद्वी पर सत्यवती सुत व्यास जो कि द्वापरयुग में हुए हैं उन से भिन्न त्रेता वा सत्ययुग में अमुक पुराणकर्त्ता व्यास थे क्योंकि पुराणों का कर्त्तृत्व कार्य मजिष्ट्रेटी के समान आप लोग बतलाते हैं और पुराणों को परम्परा स्थिर मानते हैं तो सम्भव है कि उस मजिष्ट्रेटी के लिये कई व्यास मजिष्ट्रेट होगये होंगे। पुराणों के इतिहासों को देखने से यह नहीं प्रतीत होता है कि पुराण कर्त्तृत्व मजिष्ट्रेटी पर सत्यवती सुत व्यास से भिन्न भी कोई व्यास मजिष्ट्रेट हुए यह तो लेख सभी देखते और पढ़ते हैं कि " अष्टादश पुराणानां कर्त्ता सत्यवती सुतः " अठारह पुराणों के कर्त्ता सत्यवती सुत व्यास हैं इस लेख से वाक्य बनाने वाले का तात्पर्य तो यही प्रतीत होता है कि अठारह पुराणों के कर्त्ता सत्यवतीसुत व्यास हैं आप लोग पुराणो के दृढ़तर प्रबन्ध करने से सत्यवतीसुत व्यास को पुराणकर्त्ता मानते हैं तो यह भी कहिये कि सत्यवतीसुत व्यास जी से पूर्व पुराणों का प्रबन्ध क्या बिगड़ा हुआ था जो सत्यवतीसुत व्यास जी के प्रबन्ध करने की आवश्यकता हुई विचार का स्थल है कि सत्ययुग त्रेतायुग द्वापरयुग जिन में चक्रवर्त्ती आर्यराजाओं का राज्य ब्राह्मण जन निर्विघ्न तपस्या करने वाले विद्यमान विद्या का अध्ययन अध्यापन व्यवहार ठीक प्रबन्ध से होता था क्या उस समय में यह भी सम्भव था कि कोई विद्या अंश अस्तव्यस्त बे प्रबन्ध पड़ा रहता सत्य तो यही है कि न सत्यवतीसुत व्यास जी ने पुराणों का प्रबन्ध किया और न स्वयं पुराणों का निर्माण किया क्योंकि व्यास जी के बनाये हुए ग्रन्थों का लेख ऐसा कहीं नहीं है जैसा पुराणों का वेदविरुद्ध असम्भव लेख है। महाशयो! अब भी कुछ बिगड़ा नहीं क्यों पुराणों के जाल में आप लोग फंसे हैं इस जाल को छोड़ कर वेदोक्तमार्ग पर ध्यान दीजिये। अलंविद्वत्सु ॥

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥

भाग १ | कार्त्तिक संवत् १९४४ | अङ्क ५

यत्र॑ ब्रह्म॒विदो॒ यान्ति॑ दी॒क्षया॑ तप॑सा स॒ह ।
ब्र॒ह्मा मा॒ तत्र॑ नयतु ब्र॒ह्मा ब्रह्म॑ दधातु मे ॥

(पृ० ५३ से आगे महामोहविद्रावण का उत्तर)

"अनीश्वरोक्तत्वात्" इति चतुर्थी महामूर्च्छा

अत्रानीश्वरोक्तत्वमीश्वरभिन्नोक्तत्वम् । तच्च ऋष्युक्तत्वसाधारणमिति पूर्वोक्तहेतोरनतिशयात्पुनरुक्तत्वरूपनिग्रहस्थानापन्नो भवानित्युपरम्यतेऽस्माभिः । शम् ॥

अनीश्वरोक्तत्वात्" यह कपटरूप संन्यासी की चौथी महामूर्च्छा है। अर्थात् इस से पहिले कहा था कि ऋषियों के कहे होने से और अब कहा कि ईश्वर से भिन्न के कहे होने से सो ये दोनों हेतु एकार्थ होने से एक पिछला पुनरुक्त निग्रह स्थान है अर्थात् पराजय को आप प्राप्त हो इसलिये हम पर अधिक नहीं लिखते ॥

यह महामोहविद्रावण का अभिप्राय है । इस का उत्तर—

स्वामी जी महाराज ने तृतीय हेतु में कहा कि ऋषियों के कहे होने से ब्राह्मणभाग वेद नहीं यह हेतु अगले का सहयोगी है जैसे ब्राह्मणपुस्तक ईश्वरोक्त न होने से वेद नहीं इस से जब ईश्वरनिर्मित का निषेध किया तो अपेक्षा हुई कि जब ईश्वरोक्त नहीं तो किस के बनाये हैं किसी साधारण मनुष्य के वा ऋषियों के ? इस प्रकार की शङ्का निवृत्ति के लिये प्रथम ही कह दिया कि ऋषियों के बनाये हैं किसी साधारण के बनाये नहीं हैं । वक्ता के तात्पर्य से विरुद्ध अभिप्राय खड़ा करना ही न्यायरीति पर छलवाद कहाता है । वक्ता का तात्पर्य्य "अनीश्वरोक्तत्वात्" पद से यह साफ़ है कि—

"ईश्वरोक्तत्वाभावात्। यत ईश्वरनिर्मितानि ब्राह्मणानि न सन्ति तस्मादेव तेषां वेदत्वाभावः" ।

जिस कारण ब्राह्मणभाग ईश्वर के बनाये नहीं इसी से उन को वेदभाव नहीं है । इस को उलटा समझना कि ब्राह्मण ईश्वर से भिन्न के कहे हैं । यह कल्पनामात्र है । इस उक्त प्रकार से यहां पुनरुक्त दोष कदापि नहीं आ सकता। यदि कल्पित अर्थ भी स्वीकार किया जावे कि ईश्वर से भिन्न के कहे हैं तो भी पुनरुक्त दोष नहीं है क्योंकि ईश्वर से भिन्न कहने से ऋषिमात्र किसी प्रमाण से नहीं लिये जा सकते । यदि कहो कि अप्रयुक्त कहनेमात्र से अन्योक्त का निषेध सिद्ध होगया तो यह बात किसी अंश में ठीक है इसी लिये यह तात्पर्य्य जताया कि ईश्वरोक्त के निषेधमात्र दिखाने में तात्पर्य्य है किन्तु ईश्वरभिन्नोक्त के जताने पर तात्पर्य्य नहीं। इसलिये वक्ता के तात्पर्य्य पर सदैव ध्यान देना चाहिये बीच से ऊटपटांग ले भागना ठीक नहीं । इति ॥

(अङ्क४ पृष्ठ६०से आगे महाराजा वेंकटगिरिकृत प्रश्नों के उत्तर)

२-(प्रश्न) जीव का और ईश्वर का पिता पुत्र सम्बन्ध है, ऐसा स्वामी जी लिखते हैं० और दूसरे जगह में ईश्वर, जीव और प्रकृति यह तीनों अनादि हैं, ऐसा लिखते हैं० परन्तु इन दो बातों का परस्पर बड़ा विरोध है, क्यों कि ? पिता से पुत्रोत्पत्ति होती है० इसलिये पुत्र (जीव) अनादि हुआ, तो पिता पुत्र सम्बन्ध कैसा होगा ?

२-(उत्तर) स्वामी जी महाराज ने जो जीव ईश्वर का पिता पुत्र सम्बन्ध लिखा और ईश्वर के साथ जीव को अनादि लिखा इस में परस्पर कुछ भी विरोध नहीं आता क्योंकि राजा प्रजा में भी पिता पुत्र वा स्वस्वामिसम्बन्ध माना जाता है तो क्या इतने करके राजा प्रजा का उत्पन्न करने वाला है ? । और पिता भी शरीर को उत्पन्न करने वाला साधारण निमित्तकारण है कुछ आत्मा को उत्पन्न नहीं करता । अर्थात् आत्मा की उत्पत्ति से पिता नहीं कहाता परन्तु सब के जन्म मरण का मुख्य निमित्त कारण ईश्वर ही है क्योंकि ईश्वर की व्यवस्था के विना जन्म मरण किसी का कभी नहीं होता तथा सृष्टि के आरम्भ में भी सब का जन्मदाता परमेश्वर ही है इसलिये वह सब का पिता है । और पिता शब्द का अर्थ उत्पत्ति करनामात्र नहीं है । क्योंकि-

"उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान् ब्रह्मदः पिता" मनु०

उत्पत्तिकर्त्ता और वेद का दाता इन दोनों पिताओं में वेद का दाता पिता अतिश्रेष्ठ है । व्याकरण की रीति से पिता शब्द का अर्थ पालन करने वाला है। इस को अन्य लोगों ने पांच स्थानों में योगरूढ़ किया है तद्यथा-

जनकश्चोपनेता च यश्च विद्यां प्रयच्छति ।
अन्नदाता भयत्राता पञ्चैते पितरः स्मृताः ॥

उत्पन्न करने वाला, यज्ञोपवीत कराने वाला, विद्या देने वाला, अन्नदाता और भय से बचाने वाला ये पांच प्रकार के पिता कहाते हैं। ये सब अर्थ मुख्य कर पालन से तात्पर्य्य रखते हैं अर्थात् उत्पन्न कर जन्म से पालन, यज्ञोपवीत करा के उत्तम शिक्षा करना, विद्या पढ़ा के अविद्या से बचाना, अन्न देकर अन्नाभाव के दुःख से बचाना और भय सम्बन्धी दुःख से बचाना ये सब अर्थ मुख्यकर परमेश्वर में ही घटते हैं क्योंकि परमेश्वर उत्पादकों का भी उत्पादक आदि है। और गौणभाव से उन २ उपयोग के कर्त्ता मनुष्यों में भी घटते हैं जब पितृ शब्द पालनार्थ से मुख्य सम्बन्ध रखता है तो लेशमात्र भी विरोध ईश्वर जीव के पिता पुत्र सम्बन्ध में नहीं आता और यही अर्थ राजा प्रजा के पिता पुत्र सम्बन्ध में घटता है। द्वितीय एक विचार यह भी है कि "जीव प्राणधारणे" जीव शब्द प्राणों को धारण करने अर्थ में वर्त्तमान जीव धातु से बना है तो प्राणधारणकर्त्ता अर्थात् शरीरधारी को जीव कहेंगे उस के शरीर धारण का मुख्य निमित्त ईश्वर है इस लिये परमेश्वर सब का पिता और शरीरधारी सब पुत्र हैं। और शरीर रहित आत्मा को जीव नहीं कह सकते किन्तु आत्मा वा जीवात्मा कहते हैं तो वहां पालन अर्थमात्र से जीवात्मा का पिता परमेश्वर कहा जावे गा। इत्यादि कारण से ईश्वर जीव के अनादि पितापुत्र सम्बन्ध में कोई दोष नहीं आता। इति ॥

(३) प्रश्न-ईश्वर, जीव, प्रकृति, यह तीनों जगत्कारण हैं. इन तीनों में इन का पृथक् पृथक् स्वभाव भी नित्य है. वह स्वभाव से और द्रव्य गुण कर्म सम्बन्ध से पदार्थोत्पत्ति होती है. वह सम्बन्ध जब नष्ट होता है, तब वह पदार्थ भी नष्ट हो जाता है, यह स्वभाव जिस से प्रथम संयोग होता है, वह सामर्थ्य उस में अनादि से है. इस लिये—वियोगानन्तर फिर संयोग होता है. ऐसा होते सो प्रवाह को अनादि कह कर स्वामी जी ने लिखा है. इस लिये ईश्वर, जीव प्रकृति, वह तीनों भी द्रव्य गुण कर्म संबन्ध से उत्पन्न हो के, फिर क्या नष्ट हो जाते हैं ? तो ईश्वर भी द्रव्य गुण सम्बन्ध का ताबेदार होता है. इस कारण से जो लोग स्वभाववादी हैं, सो नास्तिक मत के अनुगामी होते हैं.

३—(उत्तर) यह तृतीय प्रश्न वस्तुतः ठीक नहीं जान पड़ता क्योंकि ईश्वर, जीव और प्रकृति इन से द्रव्य, गुण कर्म कोई भिन्न पदार्थ नहीं हैं। आत्मा और पञ्चभूतात्मक प्रकृति स्वयं द्रव्यस्वरूप हैं। गुण और कर्म यथासम्भव इन्हीं उक्त द्रव्यों में रहते हैं तो फिर यह कहना कैसे बन सकता है कि द्रव्य गुण कर्म के

सम्बन्ध से ईश्वर, जीव और प्रकृति उत्पन्न हो के फिर क्या नष्ट हो जाते हैं ? । स्वामी जी महाराज ने भी अपने किसी पुस्तक में ऐसा नहीं लिखा । हां अन्य कुछ बात लिखी हो और उस को प्रश्न कर्त्ता उलटा समझ गये हों यह सम्भव है । यदि प्रश्न लिखने में न बना हो और प्रश्नकर्त्ता का यह अभिप्राय हो कि "जब प्रकृति में तत्तत्पदार्थरूप बनने का सामर्थ्य स्वाभाविक है तो उस से विरुद्ध परमेश्वर कुछ नहीं कर सकता इस लिये ईश्वर प्रकृति के आधीन हो गया" इस का उत्तर यह है कि प्रकृति में तत्तत्पदार्थस्वरूप बनने का सामर्थ्य तो वस्तुतः स्वाभाविक है जैसे जिस मृत्तिका में घटरूप बनने का सामर्थ्य है उसी से कुम्हार घड़ा बना सकता है किन्तु बालू से घड़ा नहीं बना सकता परन्तु जैसे चिकनी मट्टी से भी कुम्हार आदि के बिना घड़ा नहीं बन सकता और न कुम्हार आदि उस मट्टी के आधीन गिने जाते हैं क्योंकि मट्टी में घड़ा बनने का सामर्थ्य रहते भी जड़ होने से कुम्हार आदि पर आज्ञा नहीं चला सकती कि अवश्य घड़ा बनाना ही पड़े । कुलाल आदि घड़ादि के बनाने में स्वाधीन हैं तथापि अपने स्वभाव के आधीन हैं । ऐसे ही प्रकृति में तत्तत्पदार्थरूप बनने का सामर्थ्य रहते भी ईश्वर उस के साथ बद्ध नहीं होता किन्तु अपने कर्त्तव्य में स्वाधीन रहता है परन्तु ईश्वर भी अपने स्वभाव के आधीन है क्योंकि ईश्वर के ज्ञान, बल और क्रिया स्वाभाविक हैं किन्तु किसी निमित्त से नहीं हैं "स्वाभाविकी ज्ञान बल-क्रिया च" स्वाभाविक कार्य नियमपूर्वक ज्यों के त्यों हुआ करते हैं जैसे सूर्य के उदय अस्त अग्नि का दाहगुण इत्यादि । ऐसे ही नियत २ समय पर सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय करना ईश्वर के स्वाभाविक कर्म हैं कभी नियम से विरुद्ध एक रोम भर भी नहीं करता न होता यही उस की ईश्वरता का पूर्ण लक्षण है । मनुष्य के काम कैसे ही नियम बद्ध हों तथापि कभी न कभी नियम विरुद्ध हो ही जाते हैं । बहुधा लोग नियमबद्ध होने और कुम्हार के तुल्य प्रकृति से ही सृष्टि रच सकने से ईश्वर को कुम्हार के तुल्य तुच्छ मानते हैं कि ऐसा है तो ईश्वर तुच्छ है । इस का उत्तर यह है कि यदि उस काम को कोई अन्य कुम्हार कर सकता हो वा उस एक ईश्वर से भिन्न सृष्टि भर में अन्य कोई भी कर सकता हो तब तो कुछ ईश्वर की न्यूनता कह सकें जब कोई भी उस काम को नहीं कर सकता तो ईश्वर का महत्त्व सर्वोपरि उस के काम से ही सिद्ध हो गया । यदि थोड़े साधर्म्य के होने से तुच्छता हो तो मनुष्य और चींटी दोनों पगों से चलते हैं तो क्या मनुष्य चींटी के तुल्य तुच्छ हो जाय गा ? जगत् रचने में कुलाल की तुल्यता ईश्वर को सभी मानते हैं । इस से कुछ भी तुच्छता

नहीं आती । कर्म के साथ ईश्वर जीव सभी सम्बन्ध रखते हैं भेद केवल यह है कि ईश्वर के स्वाभाविक बिना परिश्रम के निर्मित महत् कर्म हैं और जीव के परिश्रमसाध्य नैमित्तिक अल्प कर्म हैं और कर्म ही से महत्त्व अल्पत्व लगा है जिस के जैसे कर्म हैं वह वैसा ही है ईश्वर के उत्पत्ति आदि कर्म अनन्यकर्तृक हैं इस लिये ईश्वर सब से बड़ा है । इति ॥

श्रीमती आर्य्यप्रतिनिधि सभा मेरठ द्वारा आये आर्य्यसमाज सुखनपुर के सभापति श्री त्रिभुवनसिंह जी के प्रश्नों के उत्तर–

(१) प्रश्न–ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के प्रथम अङ्क सृष्टि उत्पत्ति के विषय में यह प्रकाश किया है कि सृष्टि का स्वभाव नया पुराना प्रति मन्वन्तर में बदलता जाता है । इस विषय में एक पण्डित जी ऐसा प्रश्न करते हैं कि सृष्टि का स्वभाव जब मन्वन्तर के आधीन है तो जीव स्वतन्त्र नहीं है मन्वन्तर के आधीन हैं क्योंकि सब जीव कर्म स्वभाव ही से करते हैं इस का उत्तर जैसा कुछ आप के विचार में हो कृपा कर शीघ्र भेज दीजिये ॥

उ०–सृष्टि का स्वभाव नया पुराना प्रतिमन्वन्तर में बदलता जाता है यह बात बहुत ठीक है इस से जीव की स्वतन्त्रता में कुछ बाधा नहीं होती क्योंकि सृष्टि के स्वभाव बदलने में भी जीव शुभाशुभ कर्म स्वाधीनता से कर सकता है जैसे कि सृष्टि एक समुदाय का नाम है और सब जीव एक प्रकार के स्वभाव वाले एक काल में नहीं हो जाते । सृष्टि का स्वभाव भी जैसे दिन का रात्रि में और रात्रि का दिन में बदल जाता है बहुधा प्राणि अप्राणि जगत् दिन में अन्य प्रकार के स्वभाव वाले दिन के कार्य देने वाले होते हैं और रात्रि में उस समय के अनुकूल स्वभाव से युक्त तदनुसार काम देते हैं रात्रि दिन में सूर्य चन्द्रमादि के उदयास्त भी तेजी और शान्ति आदि गुणों के आविर्भूत तिरोभूत होने में कारण होते हैं । तथा एक दिन में भी छः हों ऋतुओं के बदलने से पित्तादि प्रकृति (स्वभाव) बदलती रहती है तथा ऋतुओं के भेद से सृष्टि का स्वभाव भेद सदैव हुआ करता है । जैसे यह स्वभाव भेद छोटे २ दिन रात्रि आदि काल के अवयवों में होता है वैसे ही काल के बड़े २ अवयवो मन्वन्तर वा दिव्ययुगादि में होता रहता है । अब प्रत्यक्ष में देश भेद से वा सङ्गादि के भेद से भी सृष्टि का स्वभाव बदल जाता है जैसे कोई पदार्थ एक देश में अन्य स्वभाव वाला है वही देशान्तर में जाकर वा सङ्ग भेद से अन्य स्वभाव वाला हो जाता है । जैसे ईसाइयो के सङ्ग दोष से ईसाई स्वभाव वाले बहुत लोग हो गये इत्यादि । यद्यपि सृष्टि का प्रवाह

बदलने से मनुष्य के स्वाधीन कर्त्तव्य में बाधा होती है तथापि सर्वथा समयाधीन नहीं हो जाता किन्तु जितने अंश में पराधीनता है उतने में ही है जैसे आज कल के समय में प्राचीन काल के अनुसार ब्रह्मचर्याश्रम नियम धारण सर्वथा नहीं हो सकता है क्योंकि प्रवाह टूट जाने से वैसे साधन मिलना कठिन हैं तथापि उद्योग करने में सब जीव स्वाधीन हैं पूर्ण नहीं तो कुछ अवश्य कर सकते हैं और उद्योग करने से कालान्तर में पूर्ण भी हो सकता है तात्पर्य्य यह है कि मन्वन्तरादि में सृष्टि स्वभाव बदलने पर भी अनेक धर्माधर्म अंशों में मनुष्य स्वतन्त्र बना रहता है और चाहे जैसा करे सर्वथा स्वाधीन संसारी मनुष्य कभी नहीं हो सकता जैसे राजप्रबन्ध के न होने से उपद्रव के भय से कितने ही काम नहीं कर सकता वैसे राजप्रबन्ध होने पर भी राजाज्ञा से विरुद्ध नहीं कर सकता इसी प्रकार देशकाल आदि की अनेक रुकावटें सदैव लगी रहती हैं इन के लगे रहते भी धर्मयुक्त कार्यों के प्रधान भागों में सदैव स्वाधीन रहने से मनुष्य स्वाधीन ही कहाता है ॥

२-प्रश्न भूमिका के १०० पृष्ठ में यह लिखा है कि सब जीव कर्म करने में स्वाधीन और पापों के फल भोगने में कुछ पराधीन भी हैं। कुछ शब्द से ऐसा मालूम होता है कि जब कुछ पराधीन हैं तो कुछ स्वाधीन भी होंगे और जब कुछ स्वाधीन हैं तो पापों के फल भोग करें या न करें ॥

उत्तर-यह बात बहुत ठीक है कि जीव पापों के फल भोगने में कुछ पराधीन भी हैं। इस से दो प्रकार की अर्थापत्ति निकलती है एक यह कि जब पाप फल भोग में कुछ पराधीन हैं तो पुण्यफल भोग में सर्वथा स्वाधीन हैं? वा सर्वथा पराधीन हैं द्वितीय यह है कि जब पापफल भोग में कुछ पराधीन हैं तो कुछ स्वाधीन भी हैं। इस में पहिले का उत्तर तो यह है कि पुण्यफल के भोगने में जीव सर्वथा स्वाधीन है क्योंकि फल भोग की आकांक्षा रहित जो कर्म किये जाते हैं वे ही निष्काम कर्म होते हैं और यही सब शुभकर्मों का फलाकांक्षारहित अनुष्ठान करना ईश्वरप्रणिधान वा ईश्वरार्पण कहाता है।

"ईश्वरप्रणिधानं तस्मिन् परमगुरौ सर्वकर्मार्पणं तत्फलसंन्यासो वा" इति योगे व्यासः।

यदि कोई कहे कि उन शुभ कर्मों का अनुष्ठान निष्फल हुआ? तो उत्तर यह है कि धर्मसम्बन्धी सब काम ईश्वर की आज्ञारूप हैं तो ईश्वर की आज्ञा का पालन और उस से उस की परम कृपा का होना ही उन कर्मों का फल है इस से निष्फल नहीं हैं। जैसे कोई मनुष्य किसी गुरुजन की सेवा किया करे और सेवा

के बदले में फल देने पर भी कुछ न लेवे और यही कहे कि मुझ को आप की सेवा ही अभीष्ट है तो गुरु के चित्त में यह आवेगा कि इस को कोई महान् अधिकार वा सुख देना चाहिये । ऐसे ही ईश्वर भी प्रसन्न हो कर जीव को स्वाभाविक अभीष्टमुक्ति देता है । यदि कहा जावे कि उस कर्म का फल मुक्ति ही क्यों नहीं मान लिया जाता तो उत्तर यह है कि शुभाशुभ कर्म मानस, वाचिक, कायिक तीन ही प्रकार के होते हैं इन के फलों के अनुभव भी मन वचन शरीर से ही हो सकते हैं सो विना शरीर धारण के यह नहीं हो सकता और मुक्ति में स्थूल शरीर रहता नहीं इस लिये उन धर्मयुक्त कर्मों का फल अन्तःकरण की शुद्धि (ज्ञान) ईश्वर की प्रसन्नता और ईश्वर में प्रीति का होना है और इन सब का फल मुक्ति है इस प्रकार कहने से साक्षात् कर्मों का फल मुक्ति नहीं किन्तु परम्परा से कर्मों का फल मुक्ति है इसी अभिप्राय से श्री स्वामी जी ने भी कर्मों का फल मुक्ति लिखा है । वे कर्म लौकिक फलाकांक्षा रहित होने से निष्काम कर्म कहाते हैं । और मनुष्य को इन में सर्वथा स्वाधीनता है कि चाहे निष्काम कर्म करें चाहे सकाम करें । संसारी ऐश्वर्यरूप पुण्यफल भोगना चाहे तो सकाम करें और संसारी सुखभोग न चाहें तो निष्काम कर्म करें ॥

द्वितीय का उत्तर यह है कि पाप कर्म जब मनुष्य करना चाहता है तो पहिले इच्छामात्र होते ही आत्मा में लज्जा शङ्का भय उत्पन्न होने लगते हैं कोई तो उसी लज्जा शङ्का भय की रुकावट से उस काम से बचा तो इस अंश में लज्जा आदि के आधीन होने से पापफल भोग से स्वयमेव बच गया तथा पाप कर्म में लौकिक वा जातीय व्यवहार वा कुटुम्बी आदि सहयोगियों के भय आदि की भी रुकावटें होती हैं किन्तु उन के आधीन होने से मनुष्य पाप से बच जाता है पुण्य में इतनी रुकावटें नहीं होती हैं । जितने अंश में मनुष्य पाप करने में पराधीन है उतने में स्वतएव फल भोग में स्वाधीन अर्थात् उस से बच जायगा तात्पर्य्य यह है कि जब पाप करने में सर्वथा स्वाधीन नहीं है तो कुछ स्वाधीन और कुछ पराधीन हुआ इसी प्रकार पापफल भोगने में कुछ स्वाधीन और कुछ पराधीन सिद्ध है ॥

द्वितीय उत्तर यह है कि जैसे अतिबलवान् ठीक २ विरोधी पदार्थ के होने से उस के विरोधी का नाश वा तिरोभाव हो जाता है जैसे सूर्य वा दीपक आदि के केवल प्रकाश से अत्युत्कट अन्धकार का नाश वा तिरोभाव हो जाता है जैसे अग्नि के तापने से शीत की निवृत्ति हो जाती है जैसे पूर्व कुपथ्यरूप क्रियमाण बीच में संचित और तत्काल में प्रारब्धरूप से भोग्य रोग की निवृत्ति ठीक २ औषध सेवन से हो जाती है जैसे कुपथ्यरूप पीप का फल रोग है उस के

भोगने में मनुष्य इतना पराधीन है कि जब तक वह निवृत्त न हो भोगना अवश्य पड़ेगा। और इतना स्वाधीन है कि औषध के ठीक २ सेवन से उस को शीघ्र निवृत्त करना वा इस प्रकार भोगना जिस में क्लेश बहुत न्यून व्यापे और भोग्य समय भी पूरा हो जावे जैसे दस्तों का पीड़ा सहित होना और विना पीड़ा वा न्यून पीड़ा से होना वा निवृत्त हो जाना। जैसे कोई मानसरोग है उस को अच्छी २ ज्ञान की बातें सुना के हटाना। इसी प्रकार पापों के संचय का स्थान अन्तःकरण और भोगस्थान शरीर है जो यदि उस अन्तःकरण में प्रकाश वा ज्ञान वा धर्मरूप पुण्यों का संचय किया जाय और पापों से प्रबल हो जायगा तब तो पापफल भोग को सर्वथा एक साथ रोक देगा परन्तु बीच में अर्थात् पापफल भोग समय में भी पुण्यरूप धर्मानुष्ठान करने से पापफल का पूर्ण क्लेश न भोगने पड़ेगा किन्तु बहुत न्यून और सहजता से भोगा जा सकेगा। क्योंकि चित्त की वृत्ति क्रियमाण पुण्य में और प्रारब्धरूप पाप दोनों में बँट जावेगी और पाप, पुण्य का भोग चित्त की वृत्तिरूप ही मुख्य है। इस से यह सिद्ध हुआ कि पाप के फल के सुगमता से भोगने वा रोगादि के तुल्य यथासम्भव निवृत्त करने रूप अंश में जीव स्वाधीन और शेष भोग में पराधीन है इति ॥

तारीख़ १३ जून के सारसुधानिधि में जो प्रस्ताव विधवाविवाहविषयक मन्त्र के खण्डन में सम्पादक शालिग्रामुनि ने दिया है इस को भारतबन्धु सम्पादक सिहरचन्द्र ने निम्नलिखित प्रकार अपने पत्र में लिखा है:—

सत्यार्थप्रकाश के ११४ पृष्ठ में यह श्रुति लिखी है कि—

इमां त्वमिन्द्रमीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु ।
दशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेकादशं कृधि ॥

हे वीर्यसेचन समर्थ इन्द्र (पुरुष) तू विवाहित और विधवा स्त्री को श्रेष्ठ पुत्रवती और सौभाग्ययुक्त कर और १० पुत्र उत्पन्न कर और ११ वें पति को समझ और ११८ पृष्ठ १ पङ्क्ति में ग्यारहवें पुरुष तक नियोग करने को कहा है इस की मीमांसा यह है कि श्रुति में इन्द्र पद का पुरुष अर्थ कैसे किया ? और समझ यह किस पद का अर्थ है ? इन्द्रपद का अर्थ मेघदारक है पुरुष कैसे किया ? और विवाह प्रकरण की श्रुति है विधवा कहां से आया प्रस्तुत नवोढावाचक सूर्य्या पद है जिस लड़के का विवाह हो उस को यह उपदेश किया जाय कि तू इस कन्या के ११ पति समझ यह कितनी घृणा का आस्पद है—श्रुति में १० पद बहुवचनान्त है और (पुत्रान्) भी उस का विशेष्य होने से बहुवचनान्त है और पति एकवचनान्त है ।

उस का विशेषण भी एकादशं एकवचन है श्रुति का यथार्थ अर्थ यह है कि हे इन्द्र हे मीढ्वः हे मेघों के स्वामी वा परमैश्वर्य वाले और सेचन से सम्पूर्ण जगत् के पालक इन्द्र तू इस कन्या को श्रेष्ठ पुत्र और सौभाग्यशाली कर और इस कन्या में १० पुत्रों की उत्पत्ति कर अर्थात् आप की कृपा से यह १० पुत्रों को उत्पन्न करे और ग्यारहवें पति को कर अर्थात् १० पुत्रों के होने पर भी इस के पति को विद्यमान रख–एकादशों की संख्या के पूरक को एकादश (ग्यारहवां) कहते हैं (तस्य पूरणे डट्) इति डट् प्रत्ययः ॥

उत्तर–श्री स्वामी जी महाराज ने सत्यार्थप्रकाश में (इमां त्वमिन्द्र०) इस मन्त्र का अर्थ दो प्रकार से कहा है। एक तो हे इन्द्र पुरुष तू विवाहित वा विधवा स्त्री को श्रेष्ठ पुत्रयुक्त और सौभाग्यवती कर और हे स्त्री इन विवाहित पुरुष वा नियुक्त पुरुषों से दश सन्तान उत्पन्न कर और ग्यारहवें पति को समझ। द्वितीय पक्ष में (पतिमेकादशं कृधि) इस पाद का यह अर्थ किया है कि नियोग में स्त्री को आज्ञा है कि पहिले २ नियोगों से सन्तान न हों तो एकादश ग्यारह पुरुष तक के साथ नियोग हो सकता है इस से आगे फिर नियोग नहीं हो सकता। यह श्री स्वामी दयानन्दसरस्वती जी महाराज का अभिप्राय है। इस पर भारतबन्धु सम्पादक पं० मिहिरचन्द्र जी मीमांसा करते हैं कि श्रुति में इन्द्र पद का पुरुष अर्थ कैसे किया इत्यादि—इस का (उत्तर) प्रथम तो इन्द्र शब्द पुरुषवाचक ही है किन्तु स्त्रीवाची नहीं। स्त्रीवाची होता तो इन्द्राणी होता। यदि कहिये कि पुंस्त्ववाचक तो इन्द्र शब्द है परन्तु कैसे पुरुष का वाचक यहां लेना चाहिये इस में क्या प्रमाण है ? तो उत्तर यह है कि प्रकरण से स्पष्ट मालूम होता है कि वीर्यसेचन में समर्थ अर्थात्–नपुंसकत्वादि दोषरहित कि जो स्त्रियों को सौभाग्यवती कर सकता है वही पुरुष स्त्रीसामान्य का पतिमात्र लिया जा सकता है क्योंकि उस के लिये आज्ञा है कि तू इस स्त्री को सुन्दर पुत्रों से युक्त कर। और इस मन्त्र में इन्द्र शब्द का अर्थ यह होगा कि "इरां ददातीति वेरां दधातीति वा" इति निरुक्ते। अ० १०। खं० ८। निघं० में इरा नाम अन्न का है। स्त्री का अन्नादि से पालनकर्त्ता वा उस के लिये अन्नादि को धारण करने वाला पुरुष इन्द्र शब्द का अर्थ है निरुक्त में इन्द्र शब्द के अनेक अर्थ हैं जहां मेघदारक अर्थ लिया जावेगा वहां सूर्य का ग्रहण होगा। इस मन्त्र में इन्द्र शब्द से सूर्य का ग्रहण इस लिये नहीं होता कि स्त्री में पुत्रोत्पत्ति वा वीर्यदान देना पुरुष का ही काम है किन्तु यह बात सूर्य के ग्रहण में असम्भव है। इस में अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं है और ".समझ, यह किस पद का अर्थ है" इस का उत्तर यह है कि "कृधि" क्रिया का तात्पर्यार्थ है क्योंकि १०

पुत्रों और ग्यारहवें पति का समझना ही ठीक अर्थ घटता है "अनेकार्था अपि धातवो भवन्ति" धातु अनेकार्थ भी होते हैं जैसे "घटं कुरु, घटे जलं कुरु" इन दो वाक्यों में करोति धातु के दो अर्थ हुए तो कृ धातु का अर्थ समझना कि ये जाने में क्या दोष हो सकता है ? तृतीय सापेक्षपद का अध्याहार भी होता है। जैसा प्रश्न आप करते हैं वैसी पद २ में पकड़ की जाय तो "१० पुत्रों के होने पर भी इस के पति को विद्यमान रख" यहां विद्यमान रख यह किस पद का अर्थ है ? तो यही उत्तर दोगे कि वाक्याभिप्राय है तो ऐसी शङ्का व्यर्थ हैं। अब यह कहना तो ठीक है कि यह विवाह प्रकरण की श्रुति है विधवा कहां से आई ? । इस का स्वामी जी महाराज ने वहीं सत्यार्थप्रकाश पृ० ११८ में समाधान कर दिया है उस का तात्पर्य यह है कि नियोग भी एक प्रकारान्तर का विवाह है भेद केवल यह है कि विवाह सम्बन्ध जन्म भर के लिये होता है और नियोग थोड़े दिन के लिये । इस से विवाह नियोग एक प्रकरण में आना कुछ विरुद्ध नहीं । और:-

"न द्वितीयश्च साध्वीनां क्वचिद्भर्तोपदिश्यते"

इत्यादि प्रमाणानुसार श्रेष्ठ द्विजस्त्रियों के लिये द्वितीय पति का निषेध है और (इमां त्वमिन्द्र०) इस प्रकरण में (सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो०) इत्यादि में अनेक पति पाये जाते हैं तो नियोग से भिन्न कहां यह चरितार्थ हो सकता है अर्थात् पत्यन्तर का विधान नियोग से ही हो सकता है अन्य प्रकार से नहीं आप लोग विवाह से पहिले कन्या के तीन पति देवपक्ष में मानते हो यह क्या महाघृणित बात नहीं है ? क्योंकि विवाह से पहिले सोम आदि तीन पति हो गये तो कन्यात्व नष्ट क्यों नहीं हुआ ? और "उपस्थितनियोगविषयकपत्यन्तरकक्षां विहायानुपस्थिते देवपत्यन्तरकल्पने मानाभावः" उपस्थित नियोगविषयक पत्यन्तर की व्यवस्था को छोड़ के अनुपस्थित देवपक्ष की कल्पना करने में कोई प्रबल प्रमाण नहीं और आप जो यह लिखते हैं कि " जिस लड़के का विवाह हो उस को यह उपदेश किया जाय कि तू इस कन्या के ११ पति समझ । यह इतनी घृणा का आस्पद है" यह किस का लेख है ? यदि स्वामी जी महाराज ने अपने किसी पुस्तक में ऐसा लिखा हो तब तो उसका पता देना उचित था । मैं निश्चित जानता हूं कि स्वामी जी महाराज ने ऐसा कहीं नहीं लिखा यह केवल आप का मिथ्या असम्बद्ध लेख भोले लोगों को बहकाने के लिये है। दश शब्द बहुवचनान्त पुत्र का विशेषण है। पति तथा एकादश दोनों विशेष्य विशेषण एकवचनान्त हैं यह बात ठीक है इस से हमारे पक्ष में कोई दोष नहीं

जाता। आप जो अर्थ करते हैं यह ठीक नहीं बनता क्योंकि मीढ्वः शब्द (मिह सेचने) धातु से बनता है इस का तात्पर्य वीर्य सेचन का है क्योंकि मिह धातु का सामान्य सेचनार्थ यहां नहीं घट सकता मिह धातु से मेढ्र शब्द भी बनता है सो योगरूढ वीर्यसेचनमात्र अर्थ से लिङ्गेन्द्रिय का नाम है। यदि कहो कि मिह धातु से मेह, मेघ, शब्द भी बनते हैं तो पुत्रवती करने की आज्ञा से वीर्य सेचन का ही अर्थ संबद्ध हो सकता है वृष्टि का अर्थ सर्वथा असम्बद्ध होगा। और इन्द्र देवता से जो प्रार्थना करते हो कि तू इस कन्या को श्रेष्ठ पुत्रवती और सौभाग्यवती कर सो वीर्यसेचक इन्द्र का विशेषण होने से पति से भिन्न अर्थ लेना असम्भव है क्योंकि वीर्यदान देना पति का ही काम है अन्य का नहीं। व्याकरण अष्टाध्यायी का सूत्र "तस्य पूरणे डट्" जो आपने लिखा सो सभी वैयाकरणमात्र को विदित है कि "एकादशम्" पद डट् प्रत्ययान्त है सो आप १० पुत्र और ग्यारहवां पति एक ही अर्थ ठीक समझते हैं। हम लोग दो पक्ष में दो अर्थ करते हैं एक में दश पुत्र और ग्यारहवां पति द्वितीय में पूर्व भी दश पति और अन्तिम ग्यारवां पति पूरणार्थ डट्प्रत्यय का दोनों पक्ष में ठीक अर्थ घट जाता है। आप यदि ऐसा कोई प्रमाण व्याकरणादि का देते कि पूरक संख्यावाचक विजातीय पद हो तभी डट्प्रत्यय हो और सजातीय पूरक में डट् न हो तब तो अवश्य विचार किया जाता कदाचित् आप यह समझ गये हों कि पूरणार्थ डट्प्रत्यय हमने ही निकाला स्वामी जी समझे ही न हों तो यह भ्रममात्र होगा। इस मन्त्र पर पहिले ही सब प्रकार की शङ्का हो चुकी हैं। यदि सजातीय पूरणार्थ में डट्प्रत्यय न होना मानो तो "चतुर्थः पञ्चमो वा मे पुत्रः" इत्यादि में पूरणार्थ प्रत्यय होना कठिन होगा। द्वितीय नियोगपक्ष में सजातीय पूरणार्थ डट्प्रत्यय करके (पतिमेकादशं कृधि) इस का यह अभिप्राय है कि हे स्त्रि. तू पूर्व नियोगों में किये दश पति से भिन्न ग्यारहवां पति कर इस से आगे नियुक्त पति करने की आज्ञा नहीं। सम्पादक मिहिरचन्द्र जी से यह प्रश्न है कि यद्यपि आधुनिक कई वचनानुसार नियोग कलियुग में आप निषिद्ध कहेंगे तथापि जिस समय के लिये नियोग है उसी समयार्थ आप से कोई पूछे कि जिस के साथ सन्तानार्थ नियोग हुआ वह पुरुष सन्तानोत्पत्ति से पूर्व मर गया वा उस से गर्भस्थिति न हुई वा गर्भ हो कर नष्ट हो गया वा पुत्र उत्पन्न हो कर मृत हो गये इत्यादि नियोग की निष्फल अवस्था में पुनर्वार नियोग होना चाहिये वा नहीं? यदि नहीं कहो तो क्या युक्ति वा प्रमाण है? क्योंकि एक वार निष्फल हुए गर्भाधानादि काम वार २ किये जाते हैं यह प्रसिद्ध है। यदि पुनर्वार होना स्वीकार करो तो ऐसी आपत्तियों में कहां तक नियोग हो सकता है? ॥ इत्यलंबुद्धिमत्सु ॥

(धर्मसुधावर्षण तृतीयखण्ड बनारस का संक्षिप्त उत्तर-)

सम्पादक धर्मसुधावर्षण आर्यसिद्धान्त के प्रश्नों का उत्तर देते हैं । आर्यसिद्धान्त में १ प्रश्न यह किया था कि क्या ईश्वरीय व्यवस्था में भी न्यूनाधिक अधिकारी बन सकते हैं ? इस का उत्तर यह देते हैं कि ईश्वरीय व्यवस्था में भी न्यूनाधिक अधिकारी बन सकते हैं क्योंकि ईश्वर प्राणिमात्र को निज कर्म और उपासनानुसार अधिकार देता है । महाशय ! आर्यसिद्धान्त के प्रश्न का यह तात्पर्य नहीं था कि प्राणिमात्र को अधिकार नहीं देता यह तो मुख्य कर हम लोगों का सिद्धान्त ही है कि ईश्वर सब को कर्मानुसार अधिकार वा फल देता है किन्तु प्रश्न का तात्पर्य तो यह था कि ईश्वर अपने कर्त्तव्य कामों में किसी प्राणी को सहायक अधिकारी बनाता है वा नहीं ? जैसे राजा स्वयमेव साधारण परिश्रम से अपने कार्यों का निर्वाह नहीं कर सकता तो न्यूनाधिक अधिकारी नियत करता है । यह प्रश्न इस लिये था कि-गणेश आदि व्यक्तियों को आप अधिकारी ठहरा कर उन में अद्वितीय ईश्वर के कर्त्तव्य कार्यों का आरोपण करते हैं । हमारे प्रश्न का उत्तर कुछ न दे कर इधर उधर भागते हैं । छान्दोग्य की "अथ तत ऊर्ध्व उदेत्य नैवोदेता०" इत्यादि श्रुति का तात्पर्य प्रलयावस्था के वर्णन पर है कि प्रलय के अन्त तक उदय हो कर प्रलय समय में फिर सूर्य का उदय न होगा किन्तु सूर्य भी अपने कारण रूप में स्थित रहे गा" सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्" इस मन्त्र से यह किसी पद वा अभिप्राय से सिद्ध नहीं हो सकता कि सूर्य चन्द्र गणेशादि पदवी के नाम हैं किन्तु यह सिद्ध होता है कि सृष्टि का प्रकार पूर्व कल्पानुसार ही बनाता है भिन्न २ कल्पों में भिन्न २ प्रकार नहीं करता (गणानान्त्वा०) मन्त्र में आप के पौराणिक गणेश जी किस अर्थ से आते हैं । ? महीधर ने इस मन्त्र में गणपति शब्द से घोड़ा लिया है आप किस प्रमाण से पौराणिक गणेश जी का ग्रहण करते हो यदि मन माना है तो कोई यह भी अर्थ कर सकता है कि "कश्मीरस्थमनुष्यादिगणानां पालक गणपतिं राजानं त्वामाह्वयामः" इत्यादि कश्मीर में रहने वाले मनुष्यादि समुदाय के रक्षक तुम राजा को हम बुलाते हैं क्योंकि आप प्रजा के उपद्रवरूप विघ्नों को दूर करने वाले हो । ऐसा अर्थ करने वाले को क्या उत्तर दो गे ? यदि इस को अप्रमाण कहो गे तो वही दोष आप के अर्थ में है इस लिये मुख्य अर्थ लेना ठीक है "गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः" जब एक प्रकार के वा एक नाम के कई पदार्थ हों तो एक मुख्य का ग्रहण कर के अन्यों को छोड़ देना ठीक है जैसे एक ग्राम में एक नाम के कई आदमी हों तो चिट्ठी देने वाला प्रथम मुख्य के निकट हो जावे गा । ऐसे ही

गणेश गणपति—सृष्टि में अनेक हो सकते हैं तो सर्वोपरि सब में जो मुख्य गणपति हो उस को समझना चाहिये। सो एक अद्वितीय सर्वस्वामी परमेश्वर को ही गणपति और गणेश समझना चाहिये हम लोग ठीक२ गणेश को सर्वाधिष्ठाता मानते हैं वह हम आर्यों के कार्यों में कभी विघ्न नहीं करेगा। तुम लोग उस के मानने में उपाधि करते हो इस लिये तुम्हारे कार्यों में सदा विघ्न डाला करता है। वस्तुतः विचार के देखा जावे तो मेरे एक भी प्रश्न का उत्तर ठीक नहीं दिया। बनावटें आप करें और हम को उलटा कहें। यह गुण सर्वथा आप में संघटित है कि "येन केन प्रकारेण प्रसिद्धः पुरुषो भवेत्" हमारे आप के वाद विवादपूर्वक अधिक लिखने से कुछ विशेष लाभ नहीं केवल तत्ववेत्ता दोनों पत्रों को देखने वाले लोग सारांश अवश्य समझ लेंगे यही फल है। इति ॥

आप के तुल्य आप के बड़े भ्राता धर्मदिवाकर जी हैं कि बहुधा अपने किसी मन्तव्य को हो स्थिर नहीं करते कभी कुछ लिख बैठते हैं इन के बहुत से लेखों से पुराणादि और मतमतान्तर का खण्डन प्रतीत होता है फिर यदि कोई विपक्षी कहे तो झट पुराणादि का मण्डन करने लगते हैं इन की चाल भी विलक्षण है। धर्मदिवाकर में आत्मश्लाघा का गुण तो सर्वोपरि विद्यमान है इस पर उन को स्वयं ध्यान देना चाहिये। अभी भाद्रमास के पत्र में एक धन्यवाद शीर्षक रख प्रथम अपनी महिमा गाई है इस से तो यह कहावत सिद्ध हो गई कि "यादृशी भावना यस्य बुद्धिर्भवति तादृशी" अर्थात् अपने चित्त में आत्मस्तुति की भावना है तभी श्री परिव्राजकाचार्य स्वामी को आत्मश्लाघी कहते हैं। और इन को एक प्रकार के पाण्डित्य का भी मद है तभी तो आर्यों को अनेक कुवाक्य लिखते और स्वामी जी महाराज के पुस्तकों में लड़कों के शास्त्रार्थ के समान शब्दों की अशुद्धि निकाला करते हैं। यह सब को मालूम है कि श्रीस्वामी जी ने जो संस्कृतवाक्यप्रबोध शिक्षाप्रणाली के सुधारने के लिये बनाया था उस में कई कारणों से छपने में अशुद्धि रह गई थी इस में बड़ा कारण एक ब्राह्मण लेखक था जो सर्वथा विरुद्धबुद्धि होकर भी जीविका के लिये बनारस में स्वामी जी के पास लेखक था स्वामी जी महाराज का स्वभाव था कि अपनी बुद्धि धर्मसम्बन्धी बड़े२ विचारों में अधिक कर रखते थे उक्त ब्राह्मण कुछ२ संस्कृत भी जानता था बनाते समय अधिक कर संस्कृतवाक्यप्र० उस से बनवाया उस ने अशुद्ध किया दूसरे आप के भ्राता ने शुद्धिपत्र अबोधनिवारण बना दिया फिर बार२ उस पर लिखना व्यर्थ है परन्तु शुद्धिपत्र ठीक२ नहीं था सो द्वितीयबार छपाने में हम लोगों ने शोध दिया। अब के मयूख ५ में भूमिका के श्लोक में अशुद्धि निकाली और "काशीविश्वेश्वरो विजयते" को शुद्ध किया है इस का उत्तर आगामी अङ्क में दिया जावेगा। इति ॥

श्रीमती आर्यप्रतिनिधि सभा द्वारा आये भारतधर्म-महामण्डल के प्रश्नों का उत्तर-

(अङ्क ४ पृष्ठ ६१ से आगे)

(१०) प्रश्न-ज्योतिषशास्त्र का गणित तो सब मानते हैं पर फलित भी मानना उचित है वा नहीं ? यदि फलित भी मानना उचित है तो अब क्यों नहीं विधि मिलती ? शिक्षाप्रणाली का भेद है वा पुस्तकें नहीं मिलतीं ? यदि पुस्तकें कहीं २ हैं तो वे कौन २ सी हैं ॥

उत्तर-ज्योतिषशास्त्र का फल मुख्यतः माननीय नहीं क्योंकि ज्योतिष के गणित और फलित इन दोनों अंशों में गणित अंश मुख्य है और फलित अनुमानमात्र गौण अंश है इस फलित की विधि सर्वदैव जिस प्रकार मिलती थी अब भी मिलती है निःशेष ज्योतिष के फलित की विधि न कभी मिली न अब मिलती है केवल अनुमान से निश्चित किये हुये बातों में कोई ठीक भी पड़ जाती हैं कोई नहीं ठीक पड़ती इसी कारण सत्य असत्य की विवेचना करने वाले महात्मा जन ज्योतिष के फलित अंश को नहीं मानते अनुमान जो फलित के लिये निश्चित किया गया है सो समय आदि के अनुकूल किया गया है यह प्रत्यक्ष में देखा जाता है कि समय के अनुकूल भूमण्डल के स्वाभाविक पदार्थों में ह्रास वृद्धि होती रहती हैं जैसे वसन्तादि ऋतुओं में अनेकों पदार्थ उत्पन्न होते अनेकों नष्ट होते हैं वैसे ही इस भूमण्डल से जिस २ समय जिस २ ग्रहमण्डल का जितना २ सम्बन्ध होता है उसके अनुसार इस के पदार्थों में ह्रास वृद्धि होने का संभव है यह प्रत्यक्ष में सब देखते हैं कि जब सूर्योदय होता है तो सूर्यमण्डल की उष्णता से अनेको पदार्थ पकते वा जलकण अन्तरिक्ष समुद्र में पहुंचते हैं यह उक्त मण्डल की उष्ण किरणों का प्रभाव है तथा चन्द्रोदय में उस की शीतलता से भूमण्डल के पदार्थों में शीतभाव देख पड़ता है इसी प्रकार जो २ ग्रहमण्डल अपनी गति से भूमण्डल से जितनी दूरी पर होता है उस के स्वभावानुकूल भूमण्डल के पदार्थों की व्यवस्था अदल बदल हुआ करती है इसी कारण फलितवक्ता आचार्यों ने सूर्यादि ग्रहों के स्वभावानुकूल फल दिखलाये हैं किसी आचार्य ने सूर्यग्रह का फल शीतप्रकृतिकारक नहीं लिखा तथा चन्द्र का फल उष्ण प्रकृतिकारक नहीं लिखा इसी प्रकार और ग्रहमण्डल वा और ताराओं के स्वभावानुकूल सब फल कहे तथा ज्योतिष का केवल विषय पृथिवी अप् तेज वायु आकाशादि पञ्चतत्वादिकों के अनुकूल है अतएव उस अंश में विशेषतर वाणी और आकृति पर अनुमान है यह केवल ग्रंथों के देखने

से विदित होता है तथा शकुनादि अंश अनेक पदार्थ के अनुमान से हैं पर ज्योतिष के भागों में मुख्य गणित है गणित से सब का आविर्भाव तिरोभाव निश्चित होता है समय की व्यवस्था ठीक २ मालूम होती है। और जो पदार्थ वा जो जीव जैसे समय में उत्पन्न हुआ उसके गुण कर्म स्वभाव समय के अनुकूल अवश्य होते हैं और प्रारब्ध कर्मों के अनुसार जो भावी फल है उसी के अनुकूल देश काल में जीवों का जन्म होता है इस भूमण्डल पर नाना देश हैं कहीं शीत अधिक है कहीं उष्णता अधिक है कहीं किसी प्रकार का जल वायु है कहीं किसी प्रकार का उन देश कालों के भेदाभेद के तारतम्य से जीवों को सुख दुःख हुआ करते हैं यह प्रत्येक जीवों पर विदित है, तथा एक देश में भी सुख दुःख न्यूनाधिक जीवों में देख पड़ता है यह जो एकदेश और एक ही काल में जीवों को भिन्न २ सुख दुःख होते हैं वह वस्तु भेद से भी है उन देशकाल वस्तु भेदाभेदकृत जो जीवों में सुख दुःख का तारतम्य है वह समस्त जीवों के प्रारब्ध कर्म से जो भावीफल है उस के सूचक सूर्य्यादि ग्रहमण्डल तथा अन्य तारा भी हैं अतएव सूर्यादि ग्रह तथा अन्य ताराओं के सम्बन्ध असम्बन्ध के तारतम्य पर सांसारिक व्यवहार वा जीवों के सुख दुःख का अनुमान किया गया इसी से प्रारब्धकर्मसूचक फल के विचारने वाले विद्वान् जन दैवज्ञ कहाते हैं इस विचार में जहां तक जिस की बुद्धि पहुंचती है और जितना जिन्होंने जो २ अंश पढ़ने लिखने की शिक्षा में पाया है उस के अनुसार वह कहते और कह सकते हैं परन्तु इन दिनो में शिक्षाप्रणाली का भी भेद है अर्थात् जो दैवज्ञ विद्वान् जन विद्यार्थियों को ज्योतिष विद्या पढ़ाते हैं वे गणित अंश में तो कभी कुछ छिपा नहीं सकते छिपावें तो अंक पूरा नहीं हो सकता यह कौन कर सकता है कि ५ संख्या को पांच से गुणा कर उस का फल २४ बतलावे कभी संभव ही नहीं किन्तु वहां तो पूरे २५ बतलाने होंगे और पूरे पच्चीस ही क्रिया करने में आवेंगे २४ कभी हो हो नहीं सकते परन्तु फलित में यह भाव नहीं फलित में तो पढ़ाने वालों की इच्छा चाहे विद्यार्थी को उस का मर्म बतलावें चाहे न बतलावें पर जितनी जिन को जिस अंश में शिक्षा मिलती है उस अंश में विचार आने पर परीक्षा हो जाती है जिस समय में वह विचार करते हैं तत्काल उन के विचार का तारतम्य भेदाभेद विदित हो जाता है देखो सैकड़ों फल कहने वालों में कोई महाशय ऐसे भी मिल जाते हैं कि उन का विचार औरों से प्रबल पड़ता है और उन की विचारी हुई बातों में अधिकतर विधि भी मिल जाती है पर सब की मिलाई विधि नहीं मिलती यह उन की शिक्षा का भी कुछ भेद है यह तो प्रसिद्ध ही है कि—ज्योतिष के भाव को पिता पुत्र को नहीं बतलाते बड़ी ही कृपा करें तो गूढ़ बातें किसी को बतलावें। और यह प्रतिज्ञा किया करते हैं कि हम जिस समय मरने को होंगे किसी

प्रिय को अपनी विद्या बतला देवेंगे पर कालवश मरे इस प्रकार को बतलाने का अवसर ही न पाया तो वह विद्या नष्ट गई इसी प्रकार विद्या का सार लोगों ने बहुधा खो दिया प्रथम तो ज्योतिष का फल है ही अनुमानमात्र और पीछे जो कुछ है भी उस की भी शिक्षा न मिली तो फिर विधि क्यों मिले यह सहज में परीक्षा हो सकती है कि—फलितशक्ता ज्योतिषी विद्वानों को इकट्ठा कर कोई अंश पूछा जाय और जिस समय के लिये जो अंश वह बतलावें प्रथम उन से निश्चय किया जाय कि आप लोगों को इस अंश में निश्चय है तो सैकड़ो महात्माओं में अतिधृष्ट होंगे वे तो अवश्य कहेंगे कि "इत्थमेव" इसी प्रकार है पर और निश्चित कहने में शंकित होंगे यह सब शिक्षाप्रणाली का ही भेद है और ग्रन्थ भी फलित के जो प्राचीन हैं वे बहुधा नहीं मिलते जैसे गणित अंश में सूर्यसिद्धान्त आदि सिद्धान्त ग्रन्थ हैं वैसे फलित में भी जैमिनि सूत्र शुक्रसूत्र भृगुसूत्र आदि पूर्वाचार्यों के बनाये हुए ग्रन्थ हैं पर इस समय जैमिनिसूत्र भी पूरा ग्रन्थ सर्वत्र नहीं मिलता इसी प्रकार और जो प्राचीन ग्रन्थ हैं वे बहुधा नहीं मिलते लुप्तप्राय हो रहे हैं और जिन किन्हीं विद्वानों के पास हैं भी वे चाहे आप उन्हें न जानें पर दूसरे को नहीं देते इस प्रकार ज्योतिष के तत्त्व ग्रन्थ नष्ट हो गये और शेष नष्ट होते जाते हैं। ज्योतिष के पढ़ने में शिक्षा का भेद तथा प्राचीन ग्रन्थों का न मिलना इत्यादि कारणों से ज्योतिष की विधि मिलने में बहुधा भेद पड़ता है तथा इन दिनों में गणित ग्रन्थों से जो तिथिपत्र आदि बनते हैं उन में भी भेद पड़ता है बहुत गणित ग्रन्थ भी इस समय ऐसे हैं जिन के अङ्कों में कालान्तर संस्कार जो देने को नियत है वह बहुत काल से नहीं दिया गया जिस से उन ग्रन्थों के अनुकूल जो तिथिपत्र बनते हैं वह अशुद्ध बनते हैं यह तिथिपत्र भेद जो नवीन संस्कार दे कर विद्वद्वर बापूदेवशास्त्री जी जो तिथिपत्र बनाते हैं उस से तथा अन्य पत्रों से विदित है ॥

ज्योतिष से निश्चित हुए अरिष्टों पर जो सूर्यादि ग्रह के नाम से लोग पूजन पाठ बतलाते हैं और उस से यह भरोसा देते हैं कि अरिष्ट नष्ट हो जायगा यह असम्भव है क्योंकि प्रारब्ध कर्मानुसार जो सुख दुःख हानि लाभ होते हैं उन की ह्रासवृद्धि के लिये सूर्यादि ग्रहमण्डल कारण नहीं और प्रारब्धकर्म भोगने से ही निवृत्त होता है क्योंकि लिखा है "अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्" किया हुआ शुभाशुभ कर्म अवश्य भोगने होता है हां अरिष्ट के समय दान पुण्य वा ईश्वरप्रार्थना ईश्वरोपासना आदि कर्म किया हुआ भी नष्ट नहीं जाता अवश्य उस अरिष्ट में सहायक होता है जैसे रोग की निवृत्ति के लिये तत्काल औषधि उपयोगी होती है वैसे ही शुभाशुभ कर्म पूर्व कर्मों के भोगने के समय उन की ह्रासवृद्धि मे उपयोगी होता है।

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥

भाग १ } मार्गशीर्ष संवत् १९४४ { अङ्क ६

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ॥

धर्मदिवाकर भाग ५ मयूख ५ पृष्ठ ६७ का उत्तर

हम वार २ ईश्वर से यही प्रार्थना करते हैं कि ईश्वर ! तू पक्षपात और राग, द्वेष दृष्टि हम लोगों से पृथक् कर दे और हम किसी को कुवाच्य और हृदयभेदी वाग्बाण न चलावें अन्यथा हम देश का कुछ भी सुधार नहीं कर सकते केवल जगत् में विरोध फैलाने के कारण हो जाते हैं। धर्मदिवाकर सम्पादक की सभ्यता और सौजन्य पर जो महाशय ध्यान देंगे उन सब को इन की योग्यता इन के लेख से प्रकट हो जावेगी। यद्यपि बहुत नीतिज्ञों की सम्मति यह भी है कि—

"शठं प्रति शठं कुर्यात् सादरं प्रति सादरम्"

अर्थात् दुष्ट के साथ दुष्टता का और श्रेष्ठ के साथ श्रेष्ठ वर्त्ताव करे तथापि हम लोगों का यह सिद्धान्त नहीं कि जो हमारी चोरी करे हम भी उस की चोरी करें जो हम को गाली देवे हम भी उस को गाली देवें किन्तु हमारा सिद्धान्त यह है कि जो हमारे साथ बुराई करे उस के साथ हम कदापि बुराई न करें किन्तु सम्भव हो तो उस की कुटिलता छुड़ाने का उपाय करें यदि आर्या जी आदि कुवाच्यों का उत्तर देवें तो प्रति पंक्ति में हम भी उन को अनार्या जी आदि लिखें परन्तु यह धर्मशास्त्रों से विरुद्ध होने से अकर्त्तव्य है—

रोहते सायकैर्विद्धं वनं परशुनाहतम् ।
वाचा दुरुक्तं बीभत्सं न तद्रोहति वाक्क्षतम् ॥

बाणों से हुआ घाव पूर आता है और कुठार से कटा हुआ वन भी फिर हरयाने लगता है परन्तु वाणी से कठोर और हृदयच्छेदी वचनरूप बाण मारने से हुआ घाव फिर नहीं सुरहता। इसी के अनुसार महाभारत होने का दुर्योधनादि के कटु वचन ही कारण थे महाभारत का "हते भीष्मे०" इत्यादि श्लोक जो लिखा है वह आप के ऊपर ही ठीक घटता है क्योंकि कई जगह शास्त्रार्थों में पाषाणादि मूर्त्तिपूजकों का पराजय हो चुका है और जहां सामना पड़ता है वहां प्रथम तो शास्त्रार्थ न होने के लिये अनेक उपाधि खड़ी करते हैं जहां तक होता है सामने आकर शास्त्रार्थ नहीं करते किन्तु दूर २ से हल्ला किया करते हैं यदि कहीं दैवात् फँस ही गये तो पराजय निस्सन्देह होता है जैसा अभी गत माघ में जमोला जिला मुज़फ्फ़रनगर में हुआ रहा। इस शास्त्रार्थ में उभय पक्ष के पण्डितों से हस्ताक्षर कराये गये तो पं० हरियश जी ने अपना नाम अपने हाथ से, "हरियशः" ऐसा अशुद्ध नपुंसक लिङ्ग लिखा किन्तु पुल्लिङ्ग "हरियशाः" लिखना चाहिये था ऐसी ही दशा बांकीपुर में अम्बिकादत्त व्यास की हुई कि अनेकों मनुष्यों ने जा२कर सब प्रकार कहा पर उन्हों ने शास्त्रार्थ न होने के लिये और समय टाल के स्वार्थ सिद्ध करने लिये अनेकों उपाधि रची। अब शल्य के समान केवल धर्मदिवाकर जी बचे हैं सो सूर्पणखा के समान आगा पीछा ढांपते हैं इन का अभी किसी आर्य पं० से समागम नहीं हुआ। ईश्वर करे एक वार नियम पूर्वक बड़ा शास्त्रार्थ हो जावे यदि निष्पक्ष हो कर सत्यासत्य के निर्णय के लिये कटिबद्ध हो के कुछ दिन तक शास्त्रार्थ हों तो अवश्य कुछ सार निकल ही आवे। सब को प्रकट है कि श्रीस्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने ६ः महीने वाराणसी में रह कर विज्ञापन दिया उस समय बनारस का कोई पं० सीधा नहीं हुआ तो अब कहने वालों को लज्जा क्यों नहीं आती ?। यदि अब किसी को कोई बड़े २ प्रमाण मूर्त्तिपूजा मतमतान्तर और पुराणाभासों की सिद्धि के लिये मिले हों तो अब ही यहां दोनों पक्ष के मुख्य २ प्रायः सब प० एकत्र हों और महीने दो महीने शास्त्रार्थ हो कर कुछ सार निकल आवे तो ठीक है। धर्मदिवाकर अभी अपने को उष्ट्र की तुल्य सर्वोपरि ऊंचे समझ रहे हैं यदि किसी पहाड़ के नीचे पहुंच गये तो जान जांय गे। अस्तु जो हो अब हम प्रसङ्ग में चलते हैं:-

धर्मदिवाकर सम्पादक जी "काशीविश्वेश्वरो विजयते" इस महामोहविद्रावण के शीर्षकवाक्य को शुद्ध ठहराना चाहते हैं कि जिस को आर्यसिद्धान्त के प्रथमाङ्क में ही समासादि से विरुद्ध अशुद्ध सिद्ध कर दिया है इस का समाधान करने से पहिले ही ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के श्लोक के अर्द्ध भाग " ईश्वरस्य सहायेन

प्रयत्नोऽयं सुसिध्यताम् " को व्याकरण के नियम से अशुद्ध किया है सो यह उन का कहना समुचित प्रतीत नहीं होता । इस उक्त श्लोक के आधे भाग में पं० ध० दि० सम्पादक जी दो अशुद्धि ठहराते हैं एक तो सहाय शब्द कर्त्ता का विशेषण है भाव वाचक नहीं हो सकता फिर ईश्वर शब्द से षष्ठी लाना व्यर्थ है । द्वितीय दिवादि गण के परस्मैपदी सिधु धातु का रूप (सुसिध्यताम्) आत्मनेपद लिखा है सो भी अशुद्ध है । इस में पहिले का उत्तर यह है कि सहाय शब्द भावार्थवाची भी सिद्ध हो सकता है जैसे इण् धातु से भाव में घञर्थ अच् प्रत्यय "एरच्" सूत्र करके होता है ॥

अयनं प्रापणमयः सह शब्दस्य पश्चादयशब्देन समासः । ईश्वरस्य सह अयेन सह प्राप्त्या अर्थादीश्वरः प्रयत्नसाधकेन मया सह प्रयत्नसाधकरूपत्वेन मां प्राप्नोत्वनुगृह्णात्वित्यर्थः ॥

अर्थात् प्रयत्नसाधक मेरे साथ प्रयत्नसाधकरूप होने से ईश्वर मुझ को प्राप्त हो अर्थात् मेरी कार्यसिद्धि में कृपा करे । इस प्रकार सहायशब्द के भाववाचक होने से ईश्वरशब्द में षष्ठी विभक्ति होना बहुत ठीक है । इसी प्रकार उस का सहायता अर्थ स्वयमेव सिद्ध है तो भाववाचक सहायशब्द से त्व, वा तल् प्रत्यय लाना पुनरुक्त होगा । और जहां सहायक का वाची सहाय शब्द है वहां उस से भावार्थ प्रत्यय लाना भी ठीक होगा । इस प्रकार उभयार्थ वाचक सहायशब्द के मानने में क्या हानि है ? । और कोई प्रतिपक्षी दोष देना चाहे सो देवे । बहुत से पुस्तकादि में भी सहायशब्द का भाववाचक मिलना सम्भव है उस का खोज विशेष किया जावे तो मिल सकता है ॥

सुसिध्यतामित्यस्योपरि समाधानं श्रूयताम् । सुसिध्यतामिति नायमेकवचनप्रयोगः किन्तु लोटः प्रथमे द्विवचनप्रयोगः परस्मैपदएव सुसाधुः । सत्यार्थश्च प्रकाश्येत वेदानां यः सनातनः । ईश्वरस्य सहायेन प्रयत्नोऽयं सुसिध्यताम् । अस्य पूर्णस्य श्लोकस्यायमन्वयः—वेदानां यः सनातनः सत्यार्थः स प्रकाश्येत चकार उत्तरार्द्धात्प्रयत्नमाकर्षति ईश्वरस्य सहायेनायं सत्यार्थप्रकाशनरूपः प्रयत्नश्च प्रकाश्येत । एवं सत्यार्थस्तस्य प्रयत्नश्च द्वावपीश्वरस्य सहायेन सुसिध्यताम् । एवं सिद्धे कः प्रतिषेद्धुमर्हति । प्रतिषेद्धा च स्वयमेव प्रतिषिद्धः । आचार्यप्रवृत्तिरपि ज्ञापयतीदमि-

त्थमेव यदयमग्रे विश्वानि देवेति मन्त्रेण प्रार्थनायां निर्विघ्नस-
माप्त्यर्थं प्रार्थयति ॥

"सुनिश्चयताम्" इस का समाधान यह है कि यह एकवचन की क्रिया नहीं है किन्तु लोट् लकार के प्रथम पुरुष के परस्मैपद में द्विवचन की क्रिया है। श्लोक के पूर्वार्द्ध में "प्रकाश्येत" क्रिया है अर्थ यह है कि ईश्वर के सहाय से वेद का सत्य सनातन अर्थ और उस भाष्य के रचने का प्रयत्न प्रकाशित हो और ईश्वर के सहाय से वेदों का अर्थ सत्यार्थ और प्रयत्न दोनों उत्तम प्रकार सिद्ध हों। इस प्रकार जब दोनों पद व्याकरण रीति से अविरुद्ध हैं तो कौन निषेध कर सकता है। निषेध करने वाला स्वयमेव निषिद्ध हो गया अर्थात् प्रतिवादी का कथन निर्मूल हो गया। यदि कदाचित् कहें कि श्लोक का अभिप्राय जैसा तुम निकालते हो वैसा भाषानुवाद से सिद्ध नहीं होता तो उत्तर यह है कि भाषा अक्षरक्रम से नहीं की गई स्वामी जी महाराज के पञ्चमहायज्ञादि कई पुस्तकों में संस्कृत में अर्थ अन्य प्रकार का और भाषा में अन्य प्रकार का है पर ऐसा नहीं कि एक दूसरे से विरुद्ध हो किन्तु अभिप्राय लिखने मात्र का भेद है सो भाषा से संस्कृत वा श्लोक अप्रमाण नहीं हो सकता किन्तु आचार्य श्री स्वामीदयानन्दसरस्वती जी महाराज का अभिप्राय आगे पीछे प्रकरण से ज्ञात होता है कि जैसे (विश्वानि देव०) इस मन्त्र से प्रार्थना करने में लिखा है कि वेद का सत्य अर्थरूप भाष्य और भाष्य करने में जो मेरा पुरुषार्थ (प्रयत्न) है सो निर्विघ्न सिद्ध हो अर्थात् समाप्त हो तीनों प्रकार की शान्ति रहे। इस से सिद्ध हुआ कि स्वामी जी महाराज का अभिप्राय श्लोक से भी यही है। सम्पादक धर्मदिवाकर जी को बहुत सुचेत हो कर खण्डन करना चाहिये। यदि कोई धर्मदिवाकर सम्पादक जी से पूंछे कि "मामाश्रित्य यतन्ति ये। यतन्तश्च दृढव्रताः। रमन्ति च। इत्यादि पद महाभारतादि ग्रन्थों में प्रायः आते हैं इन को आप शुद्ध कहेंगे वा अशुद्ध? तो विशेष कर यही उत्तर दोगे कि "छन्दोवत्कवयः कुर्वन्ति" के अनुसार शुद्ध हैं तो हम पूंछते हैं कि क्या "छन्दोवत्कवयः कुर्वन्ति" रूप समाधान स्वामी जी के पुस्तकों में हम लोग नहीं दे सकते? आप के निकट ऐसी साबूती मिल जाना बहुत दुस्तर है कि वे लोग कवि वा ऋषि शब्द वाच्य थे और ये (स्वा० दया०) वैसे नहीं थे। हम लोग अनेक हेतुओं से सिद्ध कर सकते हैं कि श्री स्वामी दयानन्दसरस्वती जी महाराज भी कवि और ऋषिपद वाच्य अवश्य थे। तब आपने "यतन्तश्च" आदि के तुल्य इस को भी शुद्ध क्यों न समझ लिया? तो हम भी समझते कि पं० धर्मदिवाकर सम्पादक निष्पक्षपाती हैं हम लोग तो विशेष करके इस सिद्धान्त को प्रबल समझते हैं कि किसी पद की अशुद्धि कलम से वा मुख से निकल भी आवे तो उस से पाण्डित्य में बाधा नहीं हो सकती किन्तु पाण्डित्य

तो अर्थांश विषय में है सो स्वामी जी के अर्थांश विषय में भूल पकड़ने में आपने भी पण्डिताई का व्यय न किया। शब्दों की भूल पकड़ना तथा उस पर विवाद करना लड़कों का काम है। मेरा प्रयोजन यह नहीं है कि स्वामी जी के पुस्तक में " सुसिध्यनाम् " आदि शब्दाशुद्धि हैं क्योंकि इस को मैं पूर्व ही व्याकरणानुसार शुद्ध ठहरा चुका हूं किन्तु मेरा प्रयोजन यह है कि किसी पुस्तक को देखिये सब में कुछ न कुछ शब्दादि की भूल अवश्य निकलेगी तो स्वामी जी के पुस्तक में भी कहीं निकल आना असम्भव नहीं और भूल निकालने वालों के कृत्य में भी अवश्य भूल निकलेगी कारण यही है कि मनुष्य अल्पज्ञ है और यह प्रायः मनुष्यों का स्वभाव है कि दूसरों के दोषों पर शीघ्र दृष्टि देते हैं इस से परदोषग्राही हो जाते हैं यही मनुष्य का मनुष्यत्व है। जो प्राणी परगुणग्राही और स्वदोषदर्शी हैं वे ही देवपक्ष में हैं। हम लोगों को तो पं० धर्मदिवाकर जी आदि को धन्यवाद देना चाहिये कि हमारे दोष निकालते हैं तो हम कभी निर्दोष हो जावेंगे और हमारे दोष लेने वाले के पास जमा हो जावेंगे। अब देखिये कि पं० धर्मदिवाकरजी "काशीविश्वेश्वरो विजयते" को शुद्ध ठहराते हैं।

अत्र चादिम एवार्यसिद्धान्तस्याङ्केऽर्थाशुद्धिरूपोऽसम्बद्धार्थः प्रतिपादितः। इदानीं प्रतिवादी ब्रवीति—काश्या विश्वेश्वरः काशीविश्वेश्वर इत्येवं समासे कृते न कश्चिद्दोष इति। अत्रास्माकमयं पक्षः—विश्वस्य ईश्वरः विश्वेश्वरइत्युक्ते काश्या अपीश्वरत्वं सिद्धं तस्या विश्वतोऽभिन्नत्वात्। अत्र ध० दि० समाधानं ब्रवीति—यथा समस्तभूमण्डलस्याप्यध्यक्षः सन् श्रीरामचन्द्रः—अयोध्याधिपतिरिति नाम्ना प्रसिद्ध आसीत्। एवं महादेवः विश्वस्येश्वरोऽपि सन् काश्या विश्वनाथ आसीत्।

इस विषय को आर्यसिद्धान्त के प्रथम अङ्क में अर्थाशुद्धिरूप असम्बद्धार्थ ठहरा दिया है इस पर धर्मदिवाकर कहते हैं कि " हम ऐसा समास करेंगे कि काशी के विश्वेश्वर काशीविश्वेश्वर हैं। इस पर हम ने यह दोष दिया था कि जो विश्व का ईश्वर है वह काशी का भी ईश्वर स्वयमेव सिद्ध हो गया क्योंकि काशी भी विश्व के अन्तर्गत है इस पर प० धर्मदिवाकर समाधान देते हैं कि जैसे समस्त भूमण्डल के राजा हो कर भी श्री रामचन्द्र जी अयोध्या के भूपाल कहलाये क्योंकि अयोध्या उन की राजधानी थी ऐसे ही श्री महादेव जी की राजधानी काशी है यद्यपि विश्व के ईश्वर थे पर राजधानी काशी होने से काशी के विश्वनाथ कहलाये।

इस का उत्तर यह है कि श्री रामचन्द्र जी प्रथम तो समस्त भूमण्डल के राजा हुए यह किसी इतिहासादि से सिद्ध नहीं किन्तु वाल्मीकीय और रामाश्वमेधादि से उन का माण्डलिक होना तो प्रकट है परन्तु पुराणादि से महादेव जी का राजा होना भी प्रसिद्ध नहीं न उन के पास राज्य की सामग्री कुछ रही महादेव जी का साधु होना वा योगीश्वर होना तो प्रकट है तो काशी को उन की राजधानी कहना भी ठीक नहीं और राजधानी नगर के साथ तदधीश बोलना ठीक होने पर भी काशीविश्वेश्वर पद तो सर्वथा असम्बद्ध ही ठहरता है क्योंकि जैसे जयपुराधीश उदयपुराधीश आदि राजधानी के नगर से व्यवहार होता है सो तो ठीक है ऐसे ही राजधानी के कारण से अयोध्याधिपति श्री रामचन्द्र जी को कहना ठीक है पर जयपुरविश्वाधीश कहना एक असङ्गत प्रतीत होता है ऐसे ही अयोध्याविश्वाधिपति तथा काशीविश्वेश्वर आदि शब्द भी असम्बद्ध ही हैं ऐसे शब्दों का वाल्मीकीय रामायण आदि में भी मिलना असम्भव है हां काशिपति वा काशीश्वर आदि पद व्यवहरणीय हो सकते हैं किन्तु काशीविश्वेश्वर कदापि सङ्गत नहीं हो सकता । यह बात तो बन सकती है कि बहुत नगरों वा देशों के राजा के मुख्य स्वामित्व को लेकर राजधानी नगर का अधिपति कहें पर यह कदापि नहीं बन सकता कि एक ही साथ सब का अधिपति और एक नगर का अधिपति भी कहें पाठक गण ! अच्छे प्रकार ध्यान दे के और निष्पक्ष हो के विचारिये कि काशीविश्वेश्वर पद को धर्मदिवाकर शुद्ध ठहराते हैं इस की भाषा यह होगी कि "काशी का विश्व का ईश्वर" इस भाषा को ही सब समझ लेंगे जैसी भाषा असम्बद्ध है वैसा संस्कृत भी है । यह पद वादी के अभिप्राय से ही अशुद्ध नहीं किन्तु संस्कृत विद्या के नियम से भी विरुद्ध है । और "वेदाः प्रमाणम्" का दृष्टान्त यहां किञ्चिन्मात्र भी नहीं घटता क्योंकि आर्यों से भिन्न लोग जो वेद को प्रमाण नहीं मानते वे उस "वेदाः प्रमाणम्" वाक्य को असम्बद्ध वा व्याकरण के नियम से विरुद्ध नहीं कहते किन्तु वे उस विषय को ही अमाननीय ठहराते हैं । हमारा केवल समास की असम्बद्धता पर आक्षेप है किन्तु विषय पर नहीं । काशि एक देश का नाम है उस के राजा अधिपति अनेक होते आये हैं यह असम्भव नहीं है अर्थात् "वेदाः प्रमाणम्" यह दृष्टान्त भी असम्बद्ध है । और "यज्ञकर्ता पुरुष सर्वाधिपति परमेश्वर को भी यज्ञेश्वर वा यज्ञपति आदि नाम से पुकारता है" यह कथन अपने अंश में तो ठीक है अर्थात् हम लोग भी ऐसा ही ठीक समझते हैं क्योंकि सर्वाधिपति परमेश्वर को यज्ञेश्वर कहने से यह प्रयोजन नहीं है कि वह सर्वव्यापक नहीं किन्तु यज्ञेश्वर के समान

अन्येश्वर भी कह सकते हैं परन्तु दृष्टान्त दार्ष्टान्त से कुछ भी सम्बन्ध नहीं करता तब तो आप का दृष्टान्त घट जाता जो अनेक देशाधीश राजा को काशीश्वर कहते अर्थात् काशीश्वर के साथ दृष्टान्त घट सकता है काशी विश्वेश्वर के साथ नहीं घट सकता । पं० धर्मदिवाकर सम्पादक को उचित था कि काशीविश्वेश्वर शब्द को सिद्ध करने के अर्थ किसी सद्ग्रन्थ का ऐसा ही उदाहरण भी देते । ध० दि० सं० जी लिखते हैं कि "काशीवासी भी भक्तिभाव से भगवान् को अपना समझ के काशी विश्वेश्वर के नाम से पुकारते हैं" हम पूछते हैं कि आप उन काशी वासियों से अपने को पृथक् समझते हो वा सहवासी? यदि सहवासी समझते हो तो आप यह नहीं कह सकते क्योंकि अस्मद् का शेष होना चाहिये यदि आप पृथक् हैं तो आप किस नाम से पुकारते हैं? क्या कलकत्ता विश्वेश्वर कह कर पुकारते हो? अथवा पुकारते ही नहीं यदि नहीं पुकारते तो आप उन का पक्ष क्यों लेते हो? । और जैसे काशीविश्वेश्वर नाम भक्तिविशेष से पुकारते हैं वैसे प्रयागविश्वेश्वर कर्णपुरविश्वेश्वर आदि के नाम से पुकार सकते हैं तो काशी विश्वेश्वर कहने का कोई नियम नहीं रहा । क्रमशः ॥

(अङ्क ५ पृष्ठ ६९ से आगे महाराजा वेंकटगिरि कृत प्रश्नों के उत्तर)

४-(प्रश्न) स्वामी लिखते हैं कि मुक्ति वह है कि जो सर्वदुःख से छूट के किसी प्रकार का बन्धन में न पड़े सर्वव्याप्त ही के ईश्वर में और ईश्वर सृष्टि में घूमना यह मुक्ति है, ऐसा मोक्षानुभव पर्यन्त आनन्दभोग के फिर संसार में प्रविष्ट होता है इस पद से मुझे मालूम होता है कि मुक्ति का शब्दार्थ हेतु स्वामी जी के ध्यान में बराबर नहीं आया, क्योंकि मुक्तिशब्द का अर्थ सर्वबन्धविमोचन है, ऐसा हो के भी थोड़ा काल मुक्त्यानन्द पाके फिर जन्मादिक संसार में आना यह मुक्ति कौन जाति की है? और मुक्त पुरुष ईश्वर में और ईश्वर सृष्टि में घूमना यह बात से ईश्वर को अपूर्णता भी आती है, यह बड़ी शोच की बात है कि आप लिखे हुये बात का पूर्वोत्तर विरोध स्वामी जी के ख्याल में भी नहीं आया ॥

४-(उत्तर) आप लिखते हैं कि स्वामी जी के लेख से मुझे मालूम होता है कि "मुक्ति का शब्दार्थ हेतु स्वामी जी के ध्यान में बराबर नहीं आया क्योंकि मुक्ति शब्द का अर्थ सर्वबन्धविमोचन है" हम लोग तब तो मान लेते कि स्वामी जी मुक्ति के शब्दार्थ को नहीं समझे जो आप उन से विशेष हम को समझा देते। और उन के लेख का सर्वथा खण्डन कर देते सो तो कुछ हुआ नहीं । अब आप लिखते हैं कि सर्वबन्धनविमोचन मुक्ति का अर्थ है सो शब्दार्थ में व्याकरण तथा

कोष से ही प्रमाण दिया जाता है आप ने कोई प्रमाण नहीं दिया कि जिस से उक्तार्थ पुष्ट हो जाता । और वे सब बन्धन कौन हैं? जिन से विमुक्त होना मुक्ति है । बन्धन शब्द एक प्रकार के नियम (क़ानून) अर्थ में विद्यमान है वह नियम शास्त्रीय माना जाता है कि जिस को वर्णाश्रम धर्मव्यवस्था कहते हैं उस को पूर्ण रीति से साङ्गोपाङ्ग कर चुकना अर्थात् बन्धनरूप कर्म को कर लेना उस के करने से मुक्त होना ही मुक्ति है ॥

अत्र प्रमाणम्। ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य मोक्षन्तु सेवमानो व्रजत्यधः ॥ १ ॥
अधीत्य विधिवद्वेदान् पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः ।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत् ॥२॥ मनुः अ० ६

बन्धनरूप तीन ऋणों को चुका के ही मुक्ति में मन लगावे क्योंकि ऋणों के विना चुकाये यदि मोक्ष चाहे तो प्राप्त नहीं हो सकता उलटा नीचगति को पाता है इस से सिद्ध हुआ कि जिस के न कर लेने से मुक्ति नहीं हो सकती उस का कर लेना ही मुक्ति है । विधिपूर्वक वेदों को पढ़ना यह ब्रह्मचर्याश्रम नियम निर्वाहरूप एक ऋण । गृहाश्रम के धर्म, कर्म के नियम निर्वाहरूप धर्म से पुत्रों को उत्पन्न करना अर्थात् शास्त्रानुसार गृहाश्रम को निबाहना द्वितीय ऋण और यथाशक्ति वेद की आज्ञानुसार अग्निहोत्रादि यज्ञ करना यह तृतीय ऋण चुकाना है इन सब को यथाविधि करके ही मोक्ष में मन लगावे ॥

ऋणान्येव बन्धनरूपाण्यत्र न्यायसूत्रभाष्ये वात्स्यायनो महर्षिराह "ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्य इति ऋणानि तेषामनुबन्धः स्वकर्मभिः सम्बन्धः । कर्मलोपे ऋणीव ऋणादानान्निन्द्यते कर्मानुष्ठाने च ऋणीव ऋणदानात्प्रशस्यते ॥

यथाविधि ब्रह्मचर्य्य सेवन से ऋषिऋण, धर्म से पुत्रोत्पत्ति अर्थात् गृहाश्रम के यथावत् अनुष्ठान से पितृऋण और वानप्रस्थ के यथावत् यज्ञादि कर लेने से देवऋण चुक जाता है इन ऋणों का कर्मानुष्ठान के साथ जो सम्बन्ध है वही बन्धन है जैसे धनादिरूप ऋण का न देने वाला निन्दित होता और चुका देने वाला प्रशस्त कहाता है वैसे ही तीन आश्रम कृत्य को पूर्ण कर लेना भी ऋण का चुका देना है यद्यपि इस में कहीं २ पक्षान्तर यह भी है कि केवल एक वा दो पहिले आश्रम का सेवन करने से भी मुक्त्यधिकारी हो सकता है तथापि कहीं देश काल

वस्तु भेद से कम ऋण के चुकाने से ही पूर्ण चुका मान लिया इस से उस प्रधानपक्ष में बाधा नहीं आ सकती। यदि आप शरीररूप को बन्धन समझते हों तो जीवन्मुक्त में मुक्त का अर्थ नहीं घटे गा। इस लिये शास्त्र का सिद्धान्त यह है कि अग्निहोत्रादि वा सत्याचरणादि वैदिककर्म से अन्तःकरण की शुद्धिरूप ज्ञान और ज्ञान से मुक्ति होती है तात्पर्य्य यही है कि शुभ कर्मानुष्ठान के विना कर्मकाण्ड की निन्दा करने वालों की मुक्ति नहीं हो सकती किन्तु कर्म करके ही मुक्ति हो सकती है। यही सिद्धान्त स्वामी जी महाराज ने दृढ़ किया है कि शुभ कर्म किये विना मुक्ति नही हो सकती। अब मुक्ति शब्द के अर्थ पर विचार करें तो यही सिद्ध होता है कि छूटना, इस में अपेक्षा हुई कि किस से छूटना तो उत्तर यही है कि जिस से छूटना चाहते हैं और छूटना सब कोई दुःख से चाहते हैं यदि विशेष विचार न किया जावे तो शीतोष्ण, क्षुधा, तृषा आदि सम्बन्धी दुःख नित्यप्रति छूटते लगते हैं तो नित्य मुक्ति हुआ करे जो थोड़े २ काल में वार २ आवें जावें उस को छूटना नहीं कह सकते किन्तु जो ऐसा छूटे कि जिस से अधिक छूटना ही न बन वही मुक्ति है। अब विचार का स्थल है कि महाराजा साहब ने स्वामी जी महाराज का अनुवाद किया कि जो सर्वदुःख से छूट के किसी प्रकार के बन्धन में न पड़े सर्वव्याप्त ईश्वर में और उस की सृष्टि में घूमे यह मुक्ति है। और राजा साहब कहते हैं कि सर्वबन्धनविमोचन मुक्ति शब्द का अर्थ है इन दोनों कथनों में क्या भेद है? इन में कुछ भेद प्रतीत नहीं होता। राजा साहब का लेख गोल २ है और स्वामी जी महाराज का प्रसिद्ध है। कदाचित् कहो कि सर्वव्याप्त ईश्वर और उस की सृष्टि में घूमना कैसे जाना तो आप कैसा मानते है? क्या एक स्थान विशेष वा देश विशेष में बद्ध रहता है? तब मुक्ति क्या हुई तो यही कह सकते हैं कि निर्बन्ध स्वाधीन है यथेष्ट विचरता है पञ्चभूतादि की रुकावट में भी नहीं आता। लोक लोकान्तर में यथेष्ट अव्याहतगति विचरता है यही मुक्ति है द्वितीय विचार भेद यह है कि अन्य लोग मुक्ति से पुनरावृत्ति नहीं मानते और स्वामी जी मानते थे इस में स्वामी जी महाराज का कथन यह था कि जब सर्वतन्त्रसिद्धान्त से सब जीव अपने स्वरूप से अनादि हैं तो अन्त वाले नहीं हो सकते यदि सान्त हों तो अनित्य हों गे। और अनादि अनन्त मानने पर भी यदि मुक्ति से पुनरावृत्ति न हो तो एक जन्मकैद के समान मुक्ति होगी यदि मुक्तावस्था में ब्रह्म में मिल जाना मानें तो भी जीव अनित्य हो जावें गे। यदि नाशवान् मानें तो उत्पत्तिधर्मक अवश्य मानना पड़े गा फिर उत्पत्तिधर्मक माना तो प्रथम जन्म निष्कारण हुआ और संसार में जब कोई छोटा भी काम विना कारण के नही होता तो ऐसी बड़ी

सुख दुःख की व्यवस्था वाला जन्म कैसे विना कारण होगा? इत्यादि अनेक प्रश्न मुक्ति से पुनरावृत्ति न मानने में प्रवृत्त होते हैं इस लिये स्वामी जी महाराज ने पुनरावृत्ति मानी है। यदि इत्यादि प्रबल दोषों की निवृत्तिकर्त्ता कोई उपस्थित हो तो पुनरावृत्ति मानने की क्या आवश्यकता है। थोड़ा काल मुक्त्यानन्द भोग के फिर संसार में आना यह मुक्ति कौन जाति की है?। इस का उत्तर यह है कि प्रथम तो मुक्ति सुख भोग जो स्वामी जी महाराज ने नियत किया है वह काल थोड़ा नहीं। यहां मनुष्य एक जन्म भर के लिये सुखादि मिलते हैं उन को ही बड़ा समझते हैं जब करोड़ों जन्मों तक के लिये सुख भोगने को मिले तो कौन थोड़ा कहेगा वा छोड़ देगा?। और मुक्ति शब्द जातिवाचक नहीं है अर्थात् उस की अनेक व्यक्ति नहीं हैं तो कौन जाति की मुक्ति है यह कहना नहीं बन सकता क्योंकि मुक्ति में कोई भेद नहीं है। ईश्वर की सृष्टि में घूमने से ईश्वर की अपूर्णता क्यों कर हो सकती है क्या आकाश में पक्षी घूमते हैं तो आकाश अपूर्ण हो गया? स्वामी जी के अपने लिखे में पूर्वापर विरोध नहीं है किन्तु आप की समझ में भेद है पुनः विचारिये ॥

भवन्मित्रो—

भीमसेन शर्मा—सम्पादक आर्यसिद्धान्त

ओ३म्

मतत्रयसमीक्षा

लोके बहुषु मतेषु सत्स्वपि तेषां सर्वेषांअनात्मवादिमतम्, आत्मवादिमतं परमात्मवादिमतमिति त्रेधा विभागे कृते सर्वाण्यपि मतानि तत्रैवान्तर्भवन्ति, अनात्मवादिमतेष्वात्मवादिमतेषु परमात्मवादिमतेषु वा परस्परं क्वाचित्कस्वल्पतरभेदसत्वेपि तेषां सर्वेषामनात्मवादिमतता—आत्मवादिमतता परमात्मवादिमतता नापहीयत इति भवत्येव सर्वेषां मतानामुक्तमतत्रितयान्तर्भाव इति।

तत्र जगदुत्पत्तेः स्वाभाविकतां वदतां मतमनात्मवादिमतमित्युच्यते जीवब्रह्मणोरभेदवादिमतं आत्मवादिमतमिति उच्यते चिदचिद्विलक्षणजगत्कर्त्ता परमेश्वर उपास्य इति वदतां मतं परमात्मवादिमतमित्युच्यते तत्र ह्यनात्मवादिनः मतस्वरूपम्।

स्वभाववादिनो हि जगदुत्पत्तिः स्वभावत एव भवतीति वदन्ति, यदि जगदुत्पत्तेः स्वाभाविकता प्रामाणिकी स्यात् तन्मतानुयायिनः तत्तद्वस्तुस्वभावप्रतिपादकशास्त्राण्यवलोक्य, तदुक्तप्रकारेण रसवादादीन्योगादींश्चाभ्यस्य तत्तत्स्वभाववशादणिमादिसिद्धीर्लब्ध्वा जरामरणवर्जिताः सर्वदा कुतो न जीवेयुः? कुतो वा परकायप्रवेशमृतप्राणिसंजीवनादिकं न कुर्युः? अतएव गम्यते नैवं केवलोक्तिः समीचीनेति, वस्तूनां तद्गतस्वभावानां च जडत्वात्, प्रथमं सर्वज्ञत्वसर्वशक्त्यादिसम्पन्नेन तत्तद्वस्तुगतमुपयोगादिकं सम्यगालोच्य कर्त्तव्यत्वाच्च प्रपञ्चवस्तुजातं स्वतएवोत्पन्नमिति न शक्यते वक्तुम्, लोके हि केवलाचेतनमिश्रितान्यपि (घडियाल) तिलग्रामप्रभृतिसंज्ञकानि धूमशकटप्रभृतीनि च विचित्रवस्तुजातानि तत्तदनुगुणज्ञानशक्त्यादिसपन्नपुरुषकृतिमन्तरेण नोत्पत्तुं क्षमन्त इत्येतद् बहुशोदृष्टचरमेव, एवं सति चिदचिन्मिश्रितप्रपञ्चोत्पत्तिः स्वभावत एव भवतीति कथं वक्तुं शक्येत, श्रूयते हि, विलक्षणप्रपञ्चादलिङ्गानामीश्वरसद्भावे प्रमाणत्वमभ्युपगच्छत आस्तिकान्प्रति युक्त्याभासैर्विवदमानान् स्वभाववादिनो नास्तिकान् "नास्ति चेन्नास्ति नो हानिरस्ति चेन्नास्तिको हतः" इत्युक्त्वा आस्तिका अजयन्निति, अतो नैतदनात्मवादिमतं साध्विति प्रतिभाति ॥

अद्वैतवादिनो हि शङ्करादयो जीव एव ब्रह्मेति तदतिरिक्तं कृत्स्नं प्रपञ्चजातं मिथ्येति च वदन्ति, तदपि न सङ्गच्छते स्वयमज्ञानी दुःखाद्यनुभोक्ता च जीवः कथमिव परमात्मा भवितुमर्हति? अत्रैवं ते समादधते—परमात्मा भ्रान्तितो अज्ञानोपाधिमाश्रित्य जीवीभूय दुःखादिकमनुभवतीति, तदपि न साधीयः। भ्रान्तौ हि कारणत्रितयमपेक्षितं भवति एको भ्रान्तिमान् द्वितीयो भ्रमाधारभूतो रज्वादिः तृतीयः पूर्वदृष्टसर्पादिरिति। जगद्भ्रम-

काले उक्तत्रितयसद्भावाङ्गीकारे द्वैतमतप्रवेशापत्तेस्तदनङ्गीकारे भ्रमानुपपत्तेश्च दुर्वारत्वात् एतेन जगन्मिथ्यात्वमपि निरस्तं भवति। तथाहि ब्रह्म सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं, निर्गुणं, निर्विकारं, अव्यक्तं अतीन्द्रियं, अद्वितीयं, सत्यज्ञानानन्दनस्वरूपमिति जगन्मिथ्येति च वदद्भिस्तैरेव ब्रह्मणो भ्रान्तता कथमिव वक्तुं शक्येत ब्रह्मणो भ्रान्तिरपि भ्रान्तिकल्पिता न तु तात्त्विकीति चेज्जगतः सत्यत्वमेवापतति रज्जौ सर्पज्ञानस्य भ्रमकल्पितत्वे सर्पस्य यथार्थतैव हि स्वीकरणीया भवति तद्वद्भ्रमरूपस्य प्रपञ्चज्ञानस्य भ्रमकल्पितत्वे प्रपञ्चस्य सत्यतैव हि स्वीकरणीया भवति, अतः जगन्मिथ्यात्ववादिनामद्वैतिनां स्वसिद्धान्तभङ्गो दुष्परिहरः। किञ्च ? परं ब्रह्म मिथ्यारूपां मायोपाधिमाश्रित्य जगदीश्वरभावमनुभवति ततश्च बहु स्यामिति सङ्कल्प्य तत्सङ्कल्पानुसारेण अविद्योपाध्यवच्छिन्नं भूत्वा जीवीभूय अज्ञानदुःखादिकमनुभवतीति च अद्वैतिनो वदन्ति तच्च न सङ्गच्छते कुत इति चेत् ? मायाविद्ययोर्मिथ्यात्वं हि तैरभ्युपगम्यते। तथा च सति मिथ्याभूताभ्यां मायाविद्याभ्यां ईश्वरभावजीवभावौ सुखदुःखाद्यनुभवश्च भवन्तीति कथमिव वक्तुं शक्येत, यदि मायाविद्ययोः तत्कृतजीवेश्वरभावादीनां च सत्यतैवाङ्गीक्रियेत तदा अद्वैतविरोधः ब्रह्मणो निर्गुणत्वनिर्विकारत्वादिश्रुतिविरोधश्चेति । किञ्च ? अद्वैतवादिनः प्रपञ्चमिथ्यात्वे स्वप्नं दृष्टान्तयन्ति तदपि न साधीयः। स्वप्नपदार्थानां जाग्रद्दशानुभूतपदार्थानामपि मिथ्यात्वे कथमिव अर्थक्रियाकारिता भवेत् ? स्वप्नपदार्था अपि रेतस्खलनादिरूपार्थक्रियाकारिणो भवन्ति इति चेन्मैवं स्वप्नानुभूतस्त्र्यादिविषयकज्ञानादीनां सत्यत्वेन अर्थक्रियाकारित्वेऽपि स्वप्नानुभूतस्त्रीकृतनखदन्तक्षतादि स्वाप्नपदार्थानां अर्थक्रियाकारितायाः क्वाप्यदृष्टचरत्वात् । न च स्वप्नानुभूतपदार्थानां जाग्रद्दशायां अदृश्यमानत्वेन अर्थक्रियाकारित्वा-

संभवेपि स्वप्नदशायां तेषां अर्थक्रियाकारिता निरबाधैव । यदि स्वप्नपदार्थानां जाग्रद्दशायां अनुभूयमानत्वेन मिथ्यात्वं स्वीक्रियेत तदा जाग्रद्दशानुभूतपदार्थानां स्वप्नादिदशास्वननुभूयमानत्वेन तेषामपि मिथ्यात्वं युष्माभिरस्वीकरणीयं स्यादिति वाच्यं जाग्रद्दशानुभूतपदार्थानां मध्ये, स्वप्नसुषुप्त्याद्यनेकदशाव्यवधानेपि एकयैव रीत्या अनुभूयमानत्वेन तेषां सत्यतायाः अवश्यं स्वीकरणीयत्वात् स्वाप्नपदार्थानां जाग्रदादिदशाव्यवधाने सति स्वप्नान्तरेषु अननुभूयमानत्वेन तेषां सत्यतायाः वक्तुमशक्यत्वाच्चेति दिक् । एतदभिप्रायेणैव भगवान् सूत्रकारो व्यासमुनिः (नाभाव उपलब्धेः) (वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्) इत्यसूत्रयत् । गौडपादाचार्यैश्च माण्डूक्योपनिषदर्थविवरणकारिकासु सृष्टिप्रकरणे परपक्षोपन्यासदशायां (स्वप्नमयास्वरूपेति सृष्टिरन्यैर्विकल्पिता) इत्याद्युक्त्वा अनन्तरं "देवस्यैव स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा" इति सिद्धान्तितम् । अर्थक्रियाकारिप्रपञ्चज्ञानस्य कृत्स्नस्य भ्रमत्वे प्रमापदस्य निरर्थकता प्रसज्येत । अत्र केचित् तन्मतानुयायिनः स्वापमदमूर्छादिषु प्रपञ्चस्यानुपलभ्यमानत्वात् कादाचित्कानुभवविषयतया प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वं तज्ज्ञानस्य भ्रमत्वं च दुरपन्हवमिति वदन्ति तदपि न सत् । एकस्य स्वापमदमूर्छादिकाले तद्व्यतिरिक्तानां सर्वेषामपि स्वापो भवति इति नियमाभावेन तदात्वे जाग्रद्दशामनुभवतां इतरेषां अनुभवविषयतायाः प्रपञ्चे विद्यमानत्वेन कालविशेषे एकपुरुषसमवेतानुभवविषयत्वाभावमात्रस्य मिथ्यासम्भवत्वसाधकत्वात् जगतो मिथ्यात्वे गौतमादिमहर्षिभिः जगत्कर्तृत्वेन ईश्वरसाधनाया असङ्गतत्वापत्तेश्च, एतदेवाभिप्रेत्योक्तं अर्वाचीनैः ।

श्लोकः—जगन्मृषैवेति भवन्मतश्चेत्किं कल्प्यते ब्रह्मनिरर्थकन्तत् ।
आकारशून्येन गतक्रियेण कर्त्तव्यमेतेन किमस्ति लोके ॥ इति

अतएव भगवता गीताचार्येणापि उक्तं "असत्यमप्रतिष्ठन्ते जगदाहुरनीश्वरम्। अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ इत्यनेन तन्मतमनूद्य (एतान्दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः)॥ प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ इत्यनेन तन्मतं दूषितं प्रपञ्चज्ञानस्य भ्रमत्वे भ्रमस्य दोषजन्यतायाः आवश्यकत्वात् एतन्मतोक्तरीत्या सदेव सौम्येदमग्र आसीदित्यादि) छान्दोग्यश्रुतिप्रतिपादिता सृष्टिप्राक्काले उक्त दोषाभावाच्च (जीव ईशो विशुद्धा चित् तथा जीवेशयोर्भिदा। अविद्यातच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः) ॥ इति प्राचीन कारिकोक्ता अनादितापि षण्णां दुरुपपादितेति, अलंविस्तरेण ॥

भावार्थः—"मत त्रय में सर्वमत अवान्तर हैं" अनात्मा आत्मा परमात्मा मत इन तीनों में सब मत अन्तर्भूत हैं. सर्व मत में किञ्चित् २ विषयों का भेद दीख पड़ता है परन्तु समष्टि पर काष्ठा इन तीनों मत की है. एक अनात्मवादी दूसरा जीव ब्रह्म ऐक्यवादी. और तीसरा परमात्मवादी.

अनात्मवादिमतस्वरूप

स्वभाववादी (नास्तिक) लोग यह प्रपञ्चस्वभाव से ही होता करके बोलते हैं. जब ऐसा है. तो समस्त वस्तु स्वभाव प्रकट करने का रसवादशास्त्र तथा योगशास्त्र में लिखा है. इन रीतियों से अणिमादिक सिद्धि किसी ने प्राप्त की है. परकाया प्रवेश किया. मृतसञ्जीवनी औषधि से मरे को जिलाया. तथा आप जरा मरण विमुक्त होकर बहुकाल जीआ. इत्यादि बातें कहीं नहीं दीख पड़तीं. इन्हीं कारणों से इस प्रपञ्च को स्वभाव सिद्ध बोलना मिथ्या है. क्योंकि ? वस्तु. तद्गत स्वभाव जड़ पदार्थ है. इस लिये वस्तु हो. वा वस्तुगत स्वभाव हो. आप से आप नहीं बन सक्ता इस विषय में एक लौकिक दृष्टान्त लिखता हूं,—यथा अचेतन पदार्थों में कोई स्वभाव को समझ के उस २ द्रव्य को मिला के टेलीग्राम (तार) आग गाड़ी तथा घड़ी इत्यादि पदार्थों को बनाने के वास्ते एक ज्ञानवान् शिल्पि होना आवश्यक है. तथा हि चेतनाचेतन मिश्रित करके यह चित्र विचित्र प्रपञ्च सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमकर्त्ता के बिना आप से आप नहीं हो सक्ता. इस प्रकार प्रत्यक्षानुमान प्रमाण से तथा युक्ति से बतावे तो भी वे स्वभाववादी लोग इस बात को दुराग्रह से स्वीकार करते नहीं इस के ऊपर आस्तिकवादी लोगों ने आखिर एक युक्ति से खण्डन किया है.

(नास्ति चेन्नास्ति नो हानिरस्ति चेन्नास्तिको हतः)

भावार्थः—ईश्वर नहीं तो भी है करके मानने वाले को कुछ हानि नहीं परन्तु ईश्वर होगा तो नहीं करके मानने वाले को महाहानि होगी ।

आत्मवादिमतस्वरूप

जीव ब्रह्म की एकतावादी शांकर मतवाले अपना जीव ही ब्रह्म है और तमाम मिथ्या है, ऐसा कहते हैं इस का खण्डन ।

जीव अज्ञान दुःखादिक अनुभव करता है सो अपना आत्मा परमात्मा नहीं हो सकता इस बात को वे लोग बोलते हैं कि ब्रह्म भ्रम से अज्ञानोपाधि में मपड़ाकर गोता लगा के जो परमात्मा जीवात्मा हो कर अज्ञान दुःखादिक भोक्ता है इस वास्ते जीवात्मा ब्रह्म ही है । ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि ? भ्रम होने वाला एक भ्रमाधार रज्जु और पूर्व देखा भया सर्प इन तीनों के रहे शिवाय भ्रम होता ही नहीं, इतने पदार्थ रहें तो द्वैतापत्ति आगई इस वास्ते जगन्मिथ्यात्व निरसन हो गया परन्तु भ्रम किसको होता है ? ब्रह्म सर्वज्ञ सर्वोपाधिविनिर्मुक्त निर्गुण, निर्विकार, अव्यक्त, अतीन्द्रिय, अद्वितीय तथा सत्यज्ञानानन्दस्वरूप ऐसे ब्रह्म को भ्रम कैसा प्राप्त होता है और इस जगत् को मिथ्या करके जो लोग बोलते हैं यह बिलकुल असगत है । क्योंकि सत्य ब्रह्म की क्रिया कभी असत्य नहीं होती हां स्थूल कार्य की सूक्ष्मकारणरूप स्थिति होती है फिर ये लोग ऐसा कहते हैं कि भ्रम कहते हैं सो भी भ्रम है, ऐसी युक्ति लगाते हैं रज्जु सर्प भ्रान्ति स्थल में इन का भ्रम भ्रम हुआ तो सर्प ठीक ही रहता है इस युक्ति से प्रपञ्च सत्य ही मानना पड़ता है परन्तु मृषारूप मायोपाधि ब्रह्म को प्राप्त हो के ईश्वर बन जाता है तब सगुण हो जाता है, फिर आप बहुरूप होना करके संकल्प कर नाना प्रकार के अविद्योपाधियों को सृजन करके उन में आप भिन्न२ हो कर प्रवेश करके जीवात्मारूप बन अज्ञान दुःखाद्यनुभव करता है, ऐसा नवीन वेदान्ति लोग कहते हैं यह बात किस तरह से मानी जाय ? इस पक्ष में माया (अविद्या) को सत्यत्व प्राप्ति तथा ब्रह्म को निर्गुण निर्विकाराद्यनुपपत्ति आजाती है, परन्तु इस प्रपञ्च सृष्टि को मिथ्या कहने में स्वप्न का दृष्टान्त देते हैं आशंका—यदि प्रपञ्च स्वप्न सदृश मिथ्या हो तो प्रपञ्च पदार्थ अर्थक्रियाकारी कैसे हों गे ।

उत्तर स्वप्न में रेतस्खलनाद्यर्थक्रिया होती है ऐसा वे लोग कहते हैं यह बात झूठ है क्योंकि ? स्वप्न में स्वप्नानुभव करने वाले का ज्ञान अर्थक्रियाकारी हो के रेतस्खलन होता है, और स्वप्न पदार्थ स्त्री का नखदन्तक्षतादि अर्थक्रियारूप दीख पड़ता नहीं इस से स्वप्न विषय अर्थक्रियाकारी नहीं हुआ, वादी का प्रश्न—स्वप्न पदार्थ स्वप्न अर्थक्रियाकारी सदृश मालूम पड़ता नहीं क्या ? उत्तर—जो जो स्वप्न पदार्थ स्वप्नपर्यवसान में जाता है, वह जाग्रत् में अनुभूत पदार्थ सुषुप्ति स्वप्नाद्यवस्था

व्यवधान हुआ तो भी फिर जाग्रदवस्था में एकरूप ही मालूम पड़ता है, इस वास्ते इस प्रपञ्च को स्वप्न दृष्टान्त तुल्य कहा नहीं जाता, इस लिये व्यास सूत्र में द्वितीयाध्याय के द्वितीयपाद में (२६ २७) सूत्रों में लिखा है और मांडूक्योपनिषत् की गौडपादाचार्यकृत व्याख्या में सृष्टि प्रकरण में परपक्षोपन्यास में (स्वप्नमाया स्वरूपेति०) करके लिखा है--इसी श्लोक के उत्तरार्द्ध में "देवस्यैष०" करके सिद्धान्त किया है परन्तु चक्षुरादि विषय हो के अर्थक्रियाकारी होता है सो इस प्रपञ्च भ्रम हो के मिथ्या हुआ तो मनुष्य के किये शुभाशुभ कर्म जन्य पुण्य पाप भोगना ज़रूरत नहीं. और प्रमाज्ञान का विषय क्या रहा ? यदि प्रमाज्ञान का विषय नहीं मिला तो भ्रम शब्द की प्रवृत्ति कैसे होगी ? फिर नवीन वेदान्ति लोग प्रमाण देते हैं (ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या) और दृष्टान्त भी देते हैं कि निर्विकल्प समाधि में प्रपञ्च भान नहीं रहता है. इस लिये ये लोग प्रपञ्च मिथ्या करके बोलते हैं. इस का उत्तर--ऐसे ही निद्रा मूर्छादिक में प्रपञ्च भान नहीं होता है, क्या इस से प्रपञ्च मिथ्या होता है ? उस काल में इतरों की दृष्टि में क्या जगद्भान नहीं होता है ? और इस प्रपञ्च को देख कर इस का कर्त्ता जीव से जुदा रहना अवश्य ही है. इस अनुमान प्रमाण से ब्रह्म का अस्तित्व सिद्ध होता है. यदि प्रपञ्च मिथ्या हुआ तो अव्यक्त ब्रह्म है. करके सिद्धान्त करना क्या ज़रूरत है ? इस विषय में भी भोजप्रबन्धान्तर अद्वैतमतखण्डन में एक श्लोक लिखा है--जन्मृषैवेति०" तथा भगवद्गीता में भी कहा है. श्लोक "असत्यमप्रतिष्ठं ते इत्यादि" सुगमार्थः. इन श्लोकों से जगदसत्यत्वादिनिराकरण किया है. और "जीव ईशो विशुद्धाचित्०" करके अद्वैत मत वाले बोलते हैं इस का अर्थ-जीव ईश्वर विशुद्धाचित् (नाम परब्रह्म,) जीव ईश्वर का भेद, अविद्या तथा अविद्या का संयोग ये छः वस्तु अनादि हैं. फिर युक्ति सिद्ध होता है कि जिस का आदि नहीं उस का अन्त भी होता नहीं. अन्त होने के पक्ष में इन छः का भी अन्त होना चाहिये. इस से यह सिद्ध हुआ कि परब्रह्म का भी अन्त होना चाहिये. इन में से पांच पदार्थ अन्त वाले हैं. तथा परब्रह्म अन्तवान् नहीं है करके ये लोग कहते हैं, इस मिथ्या बात को इन के शिष्यगण कबूलेंगे इस श्लोक की शैली देख कर बुद्धिमान् जगन्मिथ्या है कबूल करेंही गे नहीं. इत्यादिक हेतु से जीवेश्वर को एक मानने वाले आत्मवादिओं का मत ठीक नहीं है. इस लिये जड़प्राय निर्गुण निष्क्रिय. आकाशवत् और अचिन्त्य ब्रह्म है. करके बोलते तो हैं. परन्तु ये लोग अनात्मवादी (नास्तिकों) के भाई हैं ॥

लल्लुराम इच्छाराम उपदेशक
ग्राम खरधाड़--जिला सूरत--देश गुजरात

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥

भाग १ } पौष संवत् १९४४ { अङ्क ७

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ॥

(आर्यसमाजीयरहस्य नामक पुस्तक का उत्तर)

समस्त आर्य महाशयों पर विदित है कि जगद्विख्यात विद्वन्मान्यवर श्री १०८ स्वामी श्रीमद्दयानन्द सरस्वती जी महाराज के जो सिद्धान्त हैं वे वेदप्रमाणपूर्वक दृढोपपत्ति आदि से विभूषित हैं जिन को स्ववितण्डारूप मिथ्या कुतर्कों से किसी ने खण्डन भी किया (क्योंकि कलम अपने हाथ में है जो चाहा वही घर घसीटा) परन्तु उक्त स्वामियों के द्वारा सभ्यतापूर्वक एक वार ही उत्तर पाकर दूसरी वार फेर उन को प्रश्न करने की भी इच्छा नहीं रही तथा काशिपुरी (जो-आज कल विद्या की खान मानी जाती है) में भी अनेक विज्ञापन दे दे कर शास्त्रार्थ करना चाहा परन्तु ये लोग एक ही वार पराक्रम देख के द्वितीयादि वार सन्मुख भी नहीं आये । एवंविध (ऐसे) देशोपकारप्रिय महात्माओं के सिद्धान्त में व्यर्थ हस्ताक्षेप करना ब्रह्मघ्न दोष में जानो एक भाग ग्रहण करना है । देखो ! महाभारत शान्तिपर्व —

यः प्रवृत्तां श्रुतिं सम्यक् शास्त्रं वा मुनिभिः कृतम् ।
दूषयत्यनभिज्ञाय तं विद्याद् ब्रह्मघातकम् ॥

अतस्सानुनय प्रार्थना पूर्वक अपना विचार सर्व महाशयों की सेवा में निवेदन करके उक्त स्वामी जी महाराज के सिद्धान्तों का खण्डनाभास असह्य मान कर मैं आर्यसमाजीयरहस्य नामक-पुस्तक जो वृन्दावन निवासी तोताराम गोस्वामी

के पुत्र धर्मप्रचारक आचार्य श्रीमन्मधुसूदनदास गोस्वामिरचित है उस का यथोचित (सत्य सत्य-मध्यनापूर्वक-शिष्ट ग्रन्थों में आक्षेप देना धर्म के नाश का मूल है इत्यादि पक्षपात छोड़ दोष दिखा कर) खण्डन करने को उद्युक्त (उद्योगी) हुआ हूं । यतः ॥

धर्मो विद्धो ह्यधर्मेण सभां यत्रोपतिष्ठते ।

शल्यश्चास्य न कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः ॥

इति मनुवाक्यमनुसृत्य धर्मरक्षणे सदैव सन्तः प्रवर्तन्ते।

अर्थात् जिस सभा में अधर्मरूप व्याध के कुतर्करूप वाण से वेधा धर्मरूप मृग (हरिण) अपनी रक्षा के लिये उपस्थित हो । और उस सभा के पुरुष उस के वाण निकालने का सामर्थ्य धारण करके भी वाण को न निकालें तो जानो वे भी मृतक के तुल्य हैं जीवते नहीं ऐसा मनु जी महाराज का वचन स्मरण करके धर्म की रक्षा अवश्य सज्जन करते ही हैं (यहां सज्जन शब्द से पूर्वशिष्ट महात्माओं का ग्रहण है कोई महाशय ऐसा न समझे कि मैं अपना ग्रहण कर्त्ता हूं)

प्रथम इस में पाठकगण विचार सकते हैं कि पिता जी का नाम तोताराम आप का नाम मधुसूदनदास तो महाशयो ! विचारलो ! कि भगवान् पतंजलि जी ने अपने व्याकरण महाभाष्य के पस्पशाह्निक में कहा * है कि तीन पुरुष तक नाम एक ही सा होना चाहिये जैसे देवदत्त का पुत्र यज्ञदत्त और विष्णुदत्त इत्यादि भला ! इस वाक्य से पिता के नाम के अन्त्य में राम आप के नाम के अन्त में दास वा सूदन क्या विरुद्ध † नहीं ? तथा यह भी धर्मशास्त्र के विचार में तत्पर जन जानते हैं प्रत्युत आज काल के साधारण पण्डित भी (जो शुद्ध संकल्पमात्र भी पढ़ सकते हैं) कि ब्राह्मण के अन्त्य में शर्मा पद आता है धन्य !! गोस्वामी जी की धर्मप्रचारकता में कि जिन को यह भी विचार नहीं (शूद्रस्य प्रेष्यसंयुतम्) अर्थात् शूद्रों के नाम के अन्त में दास होना चाहिये ।

गोस्वामी जी महाराज अपने ग्रन्थ के आदि में लिखते हैं कि "श्री श्रीराधारमणो जयति" यहां पर श्री गोस्वामी जी से हम प्रश्न करते हैं कि ॥

ओमित्युक्त्वा वृत्तान्ततः शमित्येवमादीञ्छब्दान् पठन्ति,

---

*घोषवदाद्यन्तरन्तस्थमवृद्धं त्रिपुरुषानूकमनरिप्रतिष्ठितन्तद्धि प्रतिष्ठिततमम्भवति ॥

† बस इन की पण्डिताई तो यहां ही समाप्त हो गई जैसे (ज्ञातं पितुश्च पाण्डित्यं तुइई नाम दर्शनात्) यदि आप विद्वत्ताभिमानी हैं तो प्रथम अपने घर के नाम शुद्ध करें तदनन्तर दूसरे घर की अशुद्धियां निकालें यह न्याय से सिद्ध है कि "स्वयमसिद्धः कथं परान् साधयतीति" ॥

इस प्रकार पतञ्जलि जी के वचन का अनादर करके मन्मता राधारमण शब्द का मङ्गलाचरण में लाना किस शास्त्र का मत है? उक्त आचार्य धर्मप्रचारक जी यदि भागवत का ही प्रमाण मानते (जो गोस्वामियों का परम इष्ट है) तो उस में भी किसी स्थान पर न तो राधा और न राधारमण शब्द का पता लगता है इस कारण सविनय सूचित किया जाता है कि उक्त गोस्वामियों को उचित है कि इस (राधारमण) शब्द का अवश्यमेव समाधान करेंगे और यदि कृष्णखण्ड आदि अगड बगड वाक्यों को धर घसीटेंगे तो भागवत के महापुराणत्व पर धब्बा लगावेंगे। (और कृष्णखण्ड वह तो परस्पर महाविरोध होने से अप्रमाण ही माना जा सक्ता है) अब और जो हुआ सो हुआ परन्तु जयति क्रिया के वर्त्तमान कालिक शक्तिग्रह से अभी तक राधारमण शब्द से यथाकथञ्चिदपि गृहीत स्वाभिप्रायानुकूल श्री कृष्ण ही की धात्वर्थ (जय) में वर्त्तमानता को अवश्यमेव दिखलावें अन्यथा समस्त स्वरचित (आर्यसमाजीयरहस्य) ग्रन्थ को आर्यसमाजीयरहस्य बनवावेंगे (दिखलावेंगे कहां से श्री कृष्ण जी को तो भागवत के एकादशस्कन्धानुसार परमपद को पहुंचा चुके) और एकदेशीय राधारमण शब्द का आश्रय करके जो कोई सर्वदेशीय परिपूर्ण परमात्मा के मानने वालों पर आक्षेप करें तो वही दृष्टान्त है कि सब प्रकारों से साक्षात् (हस्ती) के परीक्षक का निरादर कर कोई अन्धा जो मृत्तिका (मिट्टी) के हाथी का एक ही अङ्गस्पर्श करने वाला है वह उसको इयत्ता को (हाथी ऐसा ही होता अन्यथा कदापि नहीं) मान कर उक्त परीक्षकजनों में प्रतिष्ठा पाने की इच्छा करे तद्वत् ही है सत्य है !!! किसी कवि का वाक्य।

मन्दः कवियशःप्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम् ॥
प्रांशुलभ्ये फले मोहादुद्बाहुरिव वामनः ॥ १ ॥

सर्व महाशयों पर अवश्य यह वार्त्ता विदित होगी कि जो पुरुष महात्माओं के ऊपर निज महिमाभासन प्रकट किया चाहें तो उन के प्रति वही महिमा निज सच्चे स्वरूप को दिखला ही देती है (देखो भागवत* में भी लिखा है कि

तस्यां तमोवन्नैहारं खद्योतार्चिरिवाहनि ॥
महतीतरमायैश्यं निहन्त्यात्मनि युञ्जतः ॥ १ ॥

जैसे तुषार श्वेत होता है कृष्णपक्ष की रात्रि कृष्ण होती है ॥

* यहां भागवत के लेख से हमारा यह प्रयोजन है कि भागवत गोस्वामी जी का बालकपन ही से घोखा होगा और किसी शास्त्र में प्रवृत्ति न होने से शास्त्रीय वाक्य कम समझ में आवेगा ॥

कृष्ण वस्तु पर श्वेत के गिरने से प्रकाश होना सम्भव था परन्तु तुषार के रात्रि विषयिक गिरने से इस से विपरीत अधिक कृष्णता ही होती है तथा जुगनू रात्रि में चमकता है जो वस्तु रात्रि में चमकीली है उसकी चमक दिन में अधिक हो। यह न्याय से सिद्ध है परन्तु एतद्विपरीत जुगनू की चमक दिन में कैसी किसी प्रकार की भी नहीं होती ॥

अतः यह जाना गया कि परमेश्वरीशक्ति (परमेश्वर की शक्ति) ही इस प्रकार सूचना करती है कि जो पुरुष महात्माओं पर निज वैभव प्रकट करेगा उस की यही दशा होगी (अर्थात् महात्माओं से नम्र होना ही उचित है न कि पाण्डित्य व्यर्थ दिखलाना) ॥

पाठक गण विचार लेवें कि यह मेरा लेख किसी पक्षपात वा किसी के व्यर्थ खण्डनमात्र पर नहीं किन्तु निरर्थक दोष दृष्टि से महात्माओं के वाक्यों पर आक्षेप करने वालों पर है ॥

द्वितीय गोस्वामी जी लिखते हैं कि "आर्यसमाज और आर्यसमाजीयधर्म क्या है यह तो सभी जानते होंगे क्योंकि इन लोगों ने अपनी चमकीली दमकीली युक्तियों से (चाहे हो चाहे न हो) सब ही का खण्डन किया है" इति ।

विचारशीलो ! टुक दत्तचित्त होके धर्मप्रचारक आचार्य श्रीमन्मधुसूदनदास जी के लेख पर भी दृष्टि दीजिये ! कि ऐसा लेख मेरी अल्प बुद्धि में तो एक हिन्दी की प्रथम पुस्तक भी पढ़ा नवीन शिक्षित बालक भी न लिख सकेगा हा ! हन्त !! हन्त !!! ऐसे ही महाशयों ने हमारे सारे भारतवर्ष की धर्मप्रचारकता में धब्बा लगाया और धर्म का झगड़ा खड़ा कर महाअविद्या मोहजाल में फसा कर लोगों को बहकाया है कहिये ! उक्त लेख में एक भी पद पूर्वापर सम्बन्ध से युक्त है ? देखो ! आर्यसमाज और आर्यसमाजीयधर्म क्या है । महाभाष्य व्याकरण के अभिप्रायज्ञ (मतलब जानने वाले) तथा पुनरुक्ति दोष छोड़ने वाले कवि लोग (शायर) इस को अवश्य जान लेंगे कि आर्यसमाज और आर्यसमाजीयधर्म यह पुनरुक्ति दोष है वा नहीं देखो ! अक्षरों के पढ़ने का प्रयोजन महाभाष्य में कि लघ्वर्थमुपदिश्यते—इति अर्थात् बहुत बड़ी इबारत को थोड़े ही अक्षरों में पूरी कर देवें इस निमित्त हम लोग अक्षर पढ़ते हैं (और शायरी के भी यही अर्थ हैं) तो यहां पर पण्डित गोस्वामी जी को लिखना था आर्यसमाज और उस के धर्म इति ॥

दूसरा वाक्य गोस्वामी जी का है कि–यह तो सब ही जानते होंगे––इसमें सर्व शब्द पण्डित वा मूर्ख अतिसाधारण मनुष्यमात्र का वाचक है क्योंकि इस का शक्तिग्रह निश्शेष वाचक पर है तो ! अब कोई किसी ग्रामीण किसान वा

नट, कञ्जर आदि से पूछे कि तुम आर्य वा आर्यसमाज किस को कहते हो और उसका धर्म क्या है? यह हमारे प्रति बतला दो यह सुनते ही यही उत्तर देगा कि हम आरज समाज का नाम भी नहीं सुना द्वितीय गोस्वामी जी को अपने आप में भी शंका है कि जानते होंगे अर्थात् जानते नहीं यदि ऐसा ही है तो धर्म-प्रचारकता कहां! यतः गीता का वाक्य है कि "अज्ञश्चा श्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति" भागवत में भी कहा है कि—

यश्च मूढतमो लोके यश्च बुद्धेः परङ्गतः।
तावुभौ सुखमेधेते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः॥

अनेक वाक्य भर्तृहरि आदि के भी इस विषय में हैं (यथा—अज्ञः सुखमाराध्य इति) परन्तु ग्रन्थ बाहुल्य तथा स्वल्प प्रयोजनता से नहीं लिखे जाते यदि गोस्वामी जी का सिद्धान्त यही हो कि किसी प्रकार से अपना पाण्डित्य ग्रन्थ बनाने ही से सूचित हो तो लाचारी है! यहां पर हम को इतना पाण्डित्य श्रीगोस्वामी जी को और भी दिखलाना उचित ही है कि आर्यसमाज और आर्यसमाजीय धर्म क्या है यह तो सब ही जानते होंगे क्योंकि इन दो वाक्यों में वक्ता का पूर्ण अभिप्राय तो ज्ञात ही न हुआ और आगे उसको अधूरा ही छोड़ दिया क्योंकि यह हेतु वाक्य दे दिया (इसी नमूना से विद्वान् लोग कुल ग्रन्थ के आशय को भी इसी प्रकार जान लेंगे इस समय हम इतना ही कह सकते हैं कि (यदि वेत्ति षडक्षराणि चेदुपदेष्टुं स्वगुरूनपीहत इति) तदनन्तर आप लिखते हैं कि इन लोगों ने अपनी चमकीली दमकीली युक्तियों से (चाहें हो वा न हों) सब ही का खण्डन किया है। विचारिये विचक्षणो! सब का हम लोगों ने (आर्यों ने) किस ग्रन्थ में खण्डन किया है हां सब पाखण्ड का खण्डन तो किया है क्या पाखण्ड शब्द का नाम लेते श्री गोस्वामी जी को लज्जा आती थी क्योंकि सर्व शब्द अशेष वस्तु का वाचक है तो क्या ईश्वर, धर्म अग्निहोत्रादि यज्ञ —सन्ध्योपासन वैश्वदेव परस्त्रीगमननिषेध स्वस्त्री के साथ ऋतु समय गमन, विवाह, भोजन, शयन, युक्ताहार, विहार, षड्दर्शन, वेद, नियोग, अतिथिसत्कार, मातृ, पितृ, आचार्य शुश्रूषा आदि का भी निषेध वा खण्डन किया है? यदि किया है तो कहां किया है दिखलाइये! यह वार्त्ता आप श्री गोस्वामी जी से पूछें फेर चाहें न हो यह शब्द आप कैसे स्वीकार कर सकते हैं यदि युक्तियां हैं तो उक्त खण्डन (सब का हम ने उन युक्तियों के द्वारा नहीं किया यदि युक्तियां हैं हो नहीं तो खण्डन किस से होगा (सतो हि कार्यिणः कार्यण भवितव्यम्) मालूम होता है कि गोस्वामी जी

भी महम्मदि या ईसाइयों के तुल्य अभाव से भाव की उत्पत्ति तो नहीं मानते ! नहीं ! नहीं ! ! उन के तो भागवत ही में वेदस्तुति कथनावसर में कहा है कि (जनिमसतः सदिति चेन्नु तर्कहतमिति) फेर कैसे लिखा अजी लिखते समय भङ्ग पीली होगी । अतएव श्री गोस्वामी जी महाराज सब का खण्डन करते हैं यह बात भी अपने ग्रन्थों के श्लोक समय याद आगयी होगी कि–

सन्ध्यावन्दन भद्रमस्तु भवते भोस्नान तुभ्यं नमो
भो देवाः पितरश्च तर्पणविधौ नाहं क्षमः क्षम्यताम् ।
उचितमनुचितं वा कर्मकोयं विभागो
भगवति परमात्मां भक्तियोगो द्रढीयान् इत्यादि ॥

सर्वखण्डन पर तो जिन में इन के आचार्यों ने प्रकट की है नशे के वश होने से हमारे ग्रन्थों पर वही आक्षेप धर घसीटा–देव ! एवंविध ग्रन्थ तो आप ही के हैं हम आर्यजन तो जिस वस्तु का जिस ग्रन्थ का जैसा गुण कर्म स्वभाव है वैसा ही मानते हैं अन्यथा नहीं । अतः आप लिखते हैं कि–आश्चर्य तो यह है कि ये लोग जिस बुद्धि से औरों का खण्डन करते हैं उस बुद्धि को अपने धर्मपुस्तक विचारते समय जानें कहां रख देते हैं ? इसका उत्तर ये है कि सब सभ्यजनों पर विदित है कि हमारा धर्मपुस्तक प्रत्युत सारे जगत् का धर्मपुस्तक वेद के विना गोस्वामी जी महाराज क्या कोई और भी समझते हैं ? यद्यपि गोस्वामी जी के कथनानुकूल श्री स्वामी दयानन्दसरस्वती रचित ग्रन्थों पर धर्मपुस्तकता प्रतीत होती है तथापि उक्त स्वामीकृत ग्रन्थो में भी वेदानुकूलता ही धर्म शब्द वाच्यार्थ में सगृहीत है अतः गौण पक्ष में यावन्मात्र कुरान इञ्जील तौरेत नानक दादू तुलसीदास सूरदासादि के वाक्य जो २ वेदानुकूल मिलें गे वे सब धर्मप्रतिपादक समझे जायें गे न कि धर्मपुस्तक यदि धर्मप्रतिपादक पुस्तक धर्मपुस्तक माना जावे तो भी श्री १०८ सरस्वामी दयानन्दसरस्वती जी रचित पुस्तकों में तो दोष नहीं परन्तु जैसे लड़के खेलते समय चारों तरफ अपने शरीर को घुमाया करते हैं तदनन्तर उस घुमने का समावेश जब उन की दृष्टि में पूर्ण प्रकार से हो जाता है तो वे वस्तुतः नहीं घूमते भी वृक्ष गृहादि को घूमता ही बतलाते हैं इसी प्रकार श्री गोस्वामी जी महाराज ही जिस बुद्धि से औरों का खण्डन करते हैं तो अपने धर्मपुस्तक विचारते समय अपनी बुद्धि को केवल श्री राधिकारमण जी के राधिकारमणस्वरूप व्यापार ही में मग्न करके युवतिजनों प्रति (अहं कृष्णस्त्वं राधा) उपदेशरूप महासमुद्र ही में प्रविष्ट कर देते होंगे–गोस्वामी जी महाराज लिखते

हैं कि (बुद्धि को परिश्रम दें) भला बुद्धि भी परिश्रम करती है ! इस विषय में शिष्ट जनोक्त श्रुति स्मृति वा युक्ति कोई भी प्रमाण है कदापि नहीं-तो गो स्वामी जी के मन्तव्य को कैसे मान लें हां वाक्य कारण सकारण होने से परिश्रम हो सक्ते हैं परन्तु बुद्धि जो आत्मा का गुण है वह निराकार होने से परिश्रम को कैसे प्राप्त हो सकेगा और यदि हम कथञ्चित् परिश्रम बुद्धि को मान भी लें (तो थोड़ा सा विचारें) इस में और बुद्धि के परिश्रम में क्या भेद समझा जायगा कुछ भी नहीं किन्तु पुनरुक्त ही समझा जा सक्ता है-आप लिखते हैं कि आर्यसमाज के सिद्धान्त कर्म युक्तियों में कितना अन्तर है-यह केवल वितण्डामात्र गोस्वामिमात्र प्राप्त (जैसे जयदेव गोस्वामी-पद्मावतीचरणचारणचक्रवर्ती-इत्यादि) वत् नाटक के तौर लीला कुलाचारागत है ।

उस से कुछ हमारी हानि नहीं तथापि विश्व की हानि (अनर्थक धर्मवर्जितमार्ग के धनव्यय) देख के किसी कवि के इस श्लोक-

यद्यपि का नो हानिः परकीयाश्चरति रासभो द्राक्षाः ।
असमञ्जसमिति मत्वा तथापि नः खिद्यते चेतः ॥

को स्मरण कर अत्यन्त शोक आता है महाशयो ! इस के आगे जो २ गोस्वामी जी महाराज ने दोष सयपते पञ्चमहायज्ञविधि षोडशसंस्कारविधि—सत्यार्थप्रकाश वेदभाष्यभूमिका—में दिखलाये हैं वे आप लोगो के सामने रक्खे जाते हैं तथैव मैंने अपनी अल्पबुद्धि के अनुसार जो २ उत्तर दिये हैं वे भी आप की सेवा में निवेदित किये जाते हैं आप लोग पक्षपात छोड़ के अवश्यमेव विचारेंगे और उस से सारांश निकाल के ग्रहण करेंगे आशा है कि धर्माधर्म के विषय में विचारशील केवल मेरे श्री गोस्वामी जी के प्रमाणशून्य युक्तिशून्य प्रलाप पर दृष्टि न देंगे और निज सत्य धर्म को भी न छोड़ेंगे अन्य जो मेरे उक्त वा वक्ष्यमाण शब्दों में कोई असभ्यता होगी अवश्यमेव क्षमा करेंगे यतः क्षमाशीला हि साधवः । क्रमशः-

भवदीय
बलदेव शर्मा

(६ अंक के ८७ पृष्ठ से आगे धर्मदि० भाग ५ मयूख ५ पृ० ७१ से उत्तर)

पं० ध० दि० सं० जी द्वितीय समास में काशी और विश्व दोनों का ईश्वर इत्यादि लिखते हैं इस का उत्तर यह है कि " यादृशी शीतला देवी तादृशो वाहनः खरः" जैसा काशीविश्वेश्वर पद असङ्गत वैसा ही ब्राह्मण विशिष्टन्याय भी किसी सद्ग्रन्थ का माननीय नहीं । यह बात तो युक्त है कि अन्य स्थान को

अपेक्षा काशी में संस्कृतविद्या का आधिक्य है पर उस अधिकता का यह प्रयोजन नहीं होना चाहिये कि असम्बद्ध पदों को सिद्ध करें इस से तो उस के महत्त्व को हानि होना सम्भव है। "अथवा काशी नाम सूक्ष्म शरीर के अभिमानी पुरुष का और स्थूल शरीर के अभिमानी पुरुष का नाम विश्वेश्वर है इन दोनों का जो ईश्वर वह काशीविश्वेश्वर कहाता है" यदि सूक्ष्म शरीराभिमानी पुरुष को तैजसरूप कहो तो स्थूल शरीराभिमानी स्वयमेव अतैजस सिद्ध होगा। जब दो प्रकार के पुरुषों का ईश्वर कहा तो क्या वह जड़ पदार्थों का ईश्वर नहीं? ब्रह्म मीमांसा में तो सब ठीक २ लिखा है उस में कोई भ्रम नहीं भ्रम केवल आप की आग्रहरूप बुद्धि में है जो कपोलकल्पित प्रलाप के सत्य करने को चेष्टा करते हो।

तृतीय प्रकार के समास में काशी में वर्त्तमान जो विश्वेश्वर यहां "संज्ञायाम् अ० २। १। ४४" सूत्र से सप्तमीतत्पुरुषसमास माने इस पर पं० ध० दि० को ध्यान देना चाहिये कि जो संज्ञाशब्द सद्ग्रन्थों में मिलते हैं उन्हीं में समास होवे वा मन माने शब्दों में भी कर लिया जावे?। और यह भी लिखना था कि काशीविश्वेश्वर किसी व्याख्याकार ने इस सूत्र पर उदाहरण दिया है? वा किसी सद्ग्रन्थ में ऐसा प्रयोग लिखा है तो उस का प्रमाण देना चाहिये था। यह कोई आवश्यकता नहीं है कि हमारे मुख से निकल गया इस लिये उस का पक्ष करते ही जावें।

"विश्वेश्वरस्य काशीमात्रस्थितेरयोग्यत्वात्" इस से हमारा अभिप्राय यह है कि जो सब का ईश्वर सर्वत्र व्याप्त है ऐसा मानो तो उस की एक स्थान में स्थिति नहीं बन सकती परन्तु अब पं० ध० दि० सं० जी के लेख से ज्ञात हुआ कि काशी वाले वा पं० ध०दि०सं० जी आदि लोग विश्वेश्वर को सर्वव्यापक नहीं समझते किन्तु राजा रामचन्द्र जी तथा अन्य देहधारियों के तुल्य विश्वेश्वर भी एक देहधारी है कि जो बहुत नगरों वा देशों का राजा होकर भी एक नियत स्थान में रहता है यदि ऐसा मानना ठीक हो तो हम लोगों का आक्षेप वस्तुतः नहीं बनेगा। परन्तु इस पक्ष में द्वितीय प्रश्न उपस्थित होगा कि उस को विश्वेश्वर कैसे कहते हैं? क्या अन्धे का नाम नयनसुख के तुल्य विश्वेश्वर नाम रक्खोगे?

चौथा समास कि जिस में काशी नाम प्रकाशशील विश्वेश्वर मानते हो उस में विश्व के नियन्ता ईश्वर पर हमारा आक्षेप हो ही नहीं सकता किन्तु पाषाणमूर्त्ति पर है यदि कहो कि वह प्रत्यक्ष अप्रकाशरूप है तो आप का काशी (प्रकाशशील) विशेषण मूर्त्तिविषय में व्यर्थ होगया और मूर्त्ति को विश्वेश्वर न कहने की प्रतिज्ञा भी करो। यदि कहो कि सर्वनियन्ता ईश्वर का विशेषण प्रकाशशील है

तो उस को सर्वव्यापक मानो और एकस्थान विशेष में मानना छोड़ो तभी वैदिक सिद्धान्त पर आवोगे तब कोई आक्षेप आप पर न होगा। बड़े आश्चर्य की बात है कि जिस की जड़ पुराणाभास ही बिगड़े हुए हैं ऐसे काशीविश्वेश्वर आदि पदों को हठ कर ठीक करना चाहते हैं नीचे से जड़ में घुन लगा है मतमतान्तर की प्रवृत्तिरूप वृक्ष गिरा चाहता है तब उस की शाखाओं के रक्षक महाशयों को क्या कहा जावे ॥

(अं० ६ पृ० ९० से आगे महाराज वेंकटगिरिकृत प्रश्नों के उत्तर)

५ वेद भगवत्प्रणीत ठहरा तो भगवत् को मुख से कहना पड़ा होगा. तब ईश्वर को एक परिछिन्नरूप ठहराया है, ऐसी स्वामी जी आशङ्का करके शङ्का परिहार करने में कहते हैं कि, ईश्वर आप के मुख से वेद बोला नही. परन्तु महर्षि के हृदय में प्रेरणा करके उन के मुख द्वारा प्रकट किये हैं. और चारों वेद फलाना फलाना बोला है. ऐसा शतपथब्राह्मण में लिखा है, ऐसा स्वामी जी लिखते हैं. इस कारण से वेद अनादि नहीं. ऐसा स्वामी जी के लेख पर से ज्ञात होता है. ईश्वर प्रेरणा से ऋषियों ने वेद को प्रकट किया. इस से वेद ईश्वरप्रणीत हैं. ऐसा कहें तो अन्य मत वाले भी अपने धर्म ग्रन्थों को ईश्वरप्रणीत कह सके हैं. क्योंकि ? उन के शास्त्र ग्रन्थ ईश्वर ने उन के आचार्यों के द्वारा प्रकट किये हैं, ऐसा वे कहते हैं, और अपना वेद सत्य ही है, और ईश्वरप्रणीत करने चाहते भी हैं. और वे कहते हैं कि. ईश्वर ने भेजा है. इस का दृष्टान्त खिस्तियन लोगों ने अपने बैबल को "सत्य वेद" कर के नाम भी रक्खा है. ऐसा दयानन्द स्वामी ने भी अपने ग्रन्थ का " सत्यार्थप्रकाश " नाम दिया है. इस हेतु से कोई वेद ईश्वरप्रणीत नहीं है. ऐसा ज्ञात होता है.

५--(उत्तर) ईश्वर ने ऋषियों के द्वारा वेद प्रकट किये तो अनादि नहीं ऐसा स्वामी के लेख से ज्ञात होता है यह बात ठीक नहीं क्योंकि ऋषियों के द्वारा प्रकट होने से वेद अनित्य नहीं हो सकते हैं ऐसा हो तब तो जब न्यून प्रवृत्ति हो जाती है कालवश से वेद लुप्तप्राय हो जाते हैं तब जो २ महात्मा प्रचारक हों जिन के द्वारा वेद का प्रचार हो उन्हीं महात्माओं को उस का कर्त्ता मान लिया जाया करे तो प्रतिदिन वेद बना करें इस प्रचार विशेष से वे कर्त्ता नहीं हो सकते ऐसे ही ऋषि लोग भी वेद के द्रष्टा प्रवक्ता प्रचारकर्त्ता कहाते हैं किन्तु निर्माता नहीं कहाते तो उन के देखने पढ़ाने और प्रचार करने से पहिले भी वेद का होना सिद्ध हो गया और प्रलयावस्था में वेद ईश्वर के ज्ञान में रहते हैं इसी से अनादि हैं ॥

ईश्वर प्रेरणा से ऋषियों ने वेद प्रकट किया इस से वेद ईश्वरप्रणीत हैं ऐसा कहें तो अन्य मत वाले भी अपने ग्रन्थों को ईश्वरप्रणीत कह सकते हैं क्योंकि उन के ग्रन्थ ईश्वर ने उन २ के आचार्यों के द्वारा प्रकट किये हैं इत्यादिः—

इस का उत्तर यह है कि जब किसी बात में सन्देह पड़ जाता है तब उस सन्देह की निवृत्ति के जो २ साधन होते हैं उन से सन्देह छुड़ाये जाते हैं ऐसा कोई संदेह नहीं कि जिस की निवृत्ति का कोई उपाय न हो जैसे सब रोगों की ओषधि है पर असाध्य की नहीं ऐसे ही असाध्य अज्ञान जो पश्वादि में है उस की तो ओषधि होना कठिन है पर मनुष्य के सन्देह तो निवृत्त हो सकते हैं। ईश्वरप्रणीत पुस्तक कई हो सकते हैं इस में वस्तुतः कौन ईश्वरप्रणीत है ?। इस के साधन चार प्रमाण विशेष कर हैं प्रथम प्रत्यक्ष से सब को मिला कर देखना चाहिये कि कौन पुस्तक किस का बनाया हो सकता है किस में निष्पक्ष और ईश्वर के गुण कर्म स्वभावानुकूल लेख है और किस में विरुद्ध है। कौन पुस्तक कितने दिनों का बना है सृष्टि के साथ का बना कौन है ?। दो हज़ार तीन हज़ार वा १३ तेरहसौ वर्ष से जो पुस्तक बने हैं वे ईश्वर की ओर से कैसे हो सकते हैं ? भूगर्भ विद्या वाले सृष्टि को लाखों वर्ष की हुई सिद्ध करते हैं तो दो या ३ हज़ार वर्षों से पहिले मनुष्यों के लिये कोई कानून नहीं था ?। पुनः ईश्वरीय पुस्तक में संसारी मनुष्यों के इतिहास क्योंकर हो सकते हैं क्या जिन का इतिहास लिखा उन का ईश्वर पक्षपाती था ?। और यदि पहिला पिछला दोनों पुस्तक ईश्वरकृत अनादि मानें तो क्या ईश्वर अंगरेज़ों के तुल्य थोड़े काल में अपना क़ानून बदला करता है ? बदला करता है तो पहिले क़ानून में भूल रह जाना सिद्ध हो गया जिस के काम में भूल रह गई वह सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ ईश्वर कदापि नहीं कहा जा सकता। मुहम्मदी लोग कृस्तानों के बाईबल को मंसूख हुआ कहते हैं ईश्वर का काम ऐसा क्यों कर हो सकता है ?। ऐसे तो ईसाई आदि के तुल्य सभी कूंजड़ी अपने २ बेरों को मीठा बतलाती हैं ग्राहकों को परीक्षा करनी चाहिये जो वस्तुतः ठीक हो उस को ग्रहण करें। हम लोग वेद को उन २ आचार्यों के द्वारा प्रकट होने मात्र से ईश्वरकृत नही मानते अर्थात् ईश्वर प्रेरणा से ऋषियों ने वेद को प्रकट किया इसी प्रमाण से ईश्वर की विद्या वेद है ऐसा हम सिद्ध नहीं करते। किन्तु वेद किस के द्वारा और कैसे प्रकट हुए इस बात को निकाल देने से केवल इतना प्रश्न रह जाता है कि वेद किस की ओर से हैं इस प्रश्न का उत्तर जब ईश्वर के गुण कर्म स्वभावानुकूल वेद के होने मनुष्य की रचना से व्यतिरिक्त होने तथा अतिप्राचीन परम्परा की साक्षिता सृष्टिक्रम

की अनुकूलता आदि से वेद ईश्वर की अनादि विद्या सिद्ध हुई तो यह अपेक्षा हुई कि संसार में वेद प्रकट कैसे हुए ? तो अति प्राचीन परम्परा से सिद्ध हुआ कि ऋषियों के द्वारा प्रकट हुए। हम लोग जब अनेक कारणों से सिद्ध कर सकते हैं कि वेद ईश्वर की अनादि अपौरुषेय विद्या है तब किस के द्वारा और कैसे प्रकट हुए इस बात पर अधिक बल देने की कुछ आवश्यकता नहीं क्योंकि ईश्वर की विद्या सिद्ध हो जाने मात्र से यह सिद्ध हो जायगा कि संसार में भी किसी प्रकार अवश्य आया। जैसे कि श्रीमती विकटोरिया महाराणी का चिह्नरूप कोई वस्तु आर्यावर्त्त में मिले और सिद्ध हो जावे कि यह वस्तु अमुक की है तो किसी प्रकार यहां आना न्याय से सिद्ध है फिर इस पर झगड़ा खड़ा करना कि यहां कैसे आया यह बुद्धिमानों का काम नहीं। वेद ईश्वर की अनादि विद्या है इस की सिद्धि के लिये जैसे हमारे पास बहुत सामग्री है वैसे ईसाई मुसाइयों के पास सामान नहीं ॥

ब्राह्मसमाज के मानने वाले महाशय गण अपने शुद्धान्तःकरण में जो अच्छा विषय भासित होता है उसी को ईश्वरीय वेद मानते हैं इस पर हमारा प्रश्न यह है कि शुद्धान्तःकरण कि जिन के हृदय में किसी प्रकार का कल्मष न हो ऐसे मनुष्य बहुत हो सकते हैं वा अल्प ?। तो यही कहना पड़ेगा कि ऐसे जन बहुत कम होंगे। तब यह प्रश्न है कि ऋषि महर्षि तपस्वि लोग पहिले हो गये उन के हृदय शुद्ध थे या नहीं उन के विचारों से अपना विचार प्रबल मानते हो वा सम वा न्यून यदि ऋषियों को शुद्धान्तःकरण न होना कहो तो आप के शुद्धान्तःकरण होने में क्या प्रमाण है ?। यदि शुद्धान्तःकरण आप वे दोनों हुए तो उन के और आप के बतलाये वेद में क्या भेद है ?। और अन्य मत के मनुष्यों में कोई शुद्धान्तःकरण नहीं ब्राह्म लोग ही हैं इस में क्या प्रमाण है ?। यदि अन्य भी हैं तो वैष्णवाचार्यादि के अनुभव से लिखे गये पुस्तक वेद क्यों नहीं ?। यदि आप को और ऋषियों को ईश्वर ने एक सा उपदेश किया तो वार २ पिष्टपेषण हुआ इस लिये यदि धर्मसम्बन्धी नियत उपदेश का पुस्तक बना देवे तो निर्बुद्धि के समान वार २ वही काम न करना पड़े ! और ऋषियों को तथा आप लोगों को पृथक् २ उपदेश किया तो क्या जो विषय ऋषियों को उपदेश किया था उस से भिन्न आप को उपदेश किया वा वही धर्मविषय कहा यदि ऋषियों से भिन्न उपदेश किया तो पहिले उपदेश से आप वञ्चित रहे। और अब के उपदेश से ऋषि लोग रहित हुए। यदि समयोपयोगी मानो तो समय के साथ धर्म का परिवर्त्तन नहीं होता किन्तु लोकव्यवहार बदल जाता है यदि ऋषियों और आप को एक ही उपदेश रहा तो ईश्वर की भूल है पूर्ववत्। कोई धर्म-

सम्बन्धी विषय जो ब्राह्मसमाजी के हृदय में भासित हो हम लोग प्रतिज्ञा करते हैं कि हम वेद से उस का मूल निकाल देवेंगे परन्तु वेद को मान लेने की प्रतिज्ञा ब्राह्म लोग भी करें और अपने बनावटी वेद को मानना छोड़ें । इति ॥

श्रीयुत पण्डित नरसिंह शर्मा मंगलपुर ने किये श्रीमती आर्यप्रतिनिधि सभा मेरठ द्वारा आये प्रश्नों के उत्तर

श्रीयुत आर्यसिद्धान्त सम्पादक समीपेषु नमस्ते—बड़ी आनन्द की बात है कि तत्त्वबोधकों के उपकारार्थ सर्वसन्देह दूर करने के लिये आप ने यह आर्यसिद्धान्त पत्र निकाला है इस महोपकारक पत्र की जितनी प्रशंसा करें उतनी थोड़ी ही है जैसे उस का नाम गंभीर और श्रेष्ठ है वैसा ही उस में लिखा भी करते हैं ऐसे २ पत्र इस भारतखण्ड का सुधार करने वाले हैं. आप लोगों का परिश्रम सारा आर्यावर्त्त में प्रशंसनीय है ऐसे २ देशोन्नतिकारक कामों के अवलोकन करने से "प्रसादचिह्नानि पुरःफलानि" ऐसे महाकविकालिदासोक्ति के अनुसार हमारे भावी भाग्योदय का यही एक सुचिह्न है ऐसा ज्ञात होता है अस्तु प्रस्तुत विषय को देखें ।

बहुत काल से मेरे मन में अनेक संशय उत्पन्न हुए हैं परन्तु उन का समाधान कराने के लिये कोई उपाय नहीं दीख पड़ता था और यथातथ्य उत्तर देने वाला पण्डित भी नहीं मिला था आप का आर्यसिद्धान्त पत्र देख कर बड़ा आनन्द हुआ शङ्कासमाधान के लिये यही उचित समय समझ कर आगे प्रश्न करता हूं उस का यथावत् उत्तर देकर संशय तरङ्गों से पूरित तरङ्गिणी से उतारण कीजिये ।

(१) वेद किस प्रकार उत्पन्न हुए अर्थात् एक ही साथ प्रकट किये गये वा अंश अंश से । संहिताओं को अग्नि वायु आदि ऋषि लोग मरणान्त तक जानते थे अर्थात् मरणान्त तक कण्ठस्थ जानते थे वा नहीं । आप कह सकेंगे कि प्रथम किस समय किस ने किस पर (अर्थात् पत्र उस समय थे वा नहीं) कहां वेद को लिखाया वेद जैसे ईश्वर से प्रकट हुए वैसे ही आज तक हैं वा उस में कुछ तब्दीली (अंतर) हुआ है अर्थात् अक्षरों में होय वा स्वरों में होय कुछ अन्तर हुआ है वा नहीं ? अन्तर हुआ तो हम कैसे जान सकते हैं ? क्योंकि कई जगहों में वेद में पाठान्तर है. तब किस पाठान्तर को हम ईश्वर प्रणीत मानें ? और अमुक पाठान्तर ईश्वरकृत करके समझने का क्या साधन है ? । वेद भाषा सब भाषाओं की मातृभाषा है करके सिद्ध करने को आप के पास क्या आधार है ? ।

(१) उत्तर—वेद किस प्रकार उत्पन्न हुए अर्थात् एक ही साथ वा पृथक् २ समय में इस का उत्तर आर्यसिद्धान्त के तृतीय अङ्क में ४३ पृष्ठ से लेकर दिया है वहां

देख लेना अन्यथा पिष्टपेषण दोष आवे गा। यद्यपि यह प्रश्नावलि बहुत लम्बी-भूत और कुछ विलक्षण २ भी है क्योंकि अधिकरण सिद्धान्त वही कहाता है कि जिस एक मुख्य विषय के सिद्ध करने में उस के सम्बन्धी कि जो उस के होने से हैं उस के न होने से नहीं रहते जैसे अग्नि के सिद्ध करने से उस की उष्णता साथ ही सिद्ध हो गई क्योंकि उष्णता का अग्नि के साथ नित्य सम्बन्ध है और जैसे किसी ने जीवात्मा का होना सिद्ध कर दिया तो मन, बुद्धि, इन्द्रिय, विषय, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेषादि अनेक बातें सिद्ध हो गई क्योंकि मन आदि आत्मा के साथ ही रह सकते हैं यदि आत्मा नहीं रहा तो मन आदि का स्वयमेव न रहना भी सिद्ध है। इस प्रकार यदि कोई आत्मास्तित्व के साथ मन आदि की सिद्धि का भी प्रश्न करे तो विद्वानों में प्रशंसा न होगी क्योंकि एक आत्मास्तित्व सिद्धि के साथ मन आदि का अस्तित्व स्वयमेव सिद्ध हो जाय गा। ऐसे ही वेद विषय में भी सूक्ष्मता से एक वा दो प्रश्न कर देने से उन की सिद्धि में सब की सिद्धि आ जाती जैसे वेदों के सर्वोपरि माननीय होने में क्या प्रमाण है? इत्यादि प्रकार से प्रश्न होना उचित था। तथापि जैसे विस्तारपूर्वक बहुत प्रश्नावयव किये हैं हम वैसे ही क्रम पूर्वक उत्तर दें गे। अब द्वितीय प्रश्न यह है कि "अग्नि वायु आदि ऋषि लोग मरणान्त तक वेदों को जानते थे अर्थात् मरणान्त तक कण्ठस्थ जानते थे वा नहीं?" इस का उत्तर यह है कि जिस विद्या को जो पढ़ता है वह यदि अभ्यास और पढ़ाना आदि करता रहे तो अवश्य उस विद्या को शरीरान्त तक जानता रहता है। यदि कदाचित् अभ्यास न्यून भी करे तो पढ़ी वा जानी हुई विद्या का सर्वथा संस्कार जन्मान्तर* में भी नष्ट नहीं होता तो एक शरीर में सर्वथा भूल जाना असम्भव है और उन दिनों में तो विद्या की परम्परा का प्रचार चला ही न था तो बहुतों को पढ़ाना उन्हीं ऋषियों का काम था फिर उन का भूल जाना कभी सिद्ध नहीं हो सकता। इस पूर्वोक्त लेख से प्रश्न कर्त्ता का तात्पर्य यथावत् प्रकट नहीं होता। जिन ऋषि लोगों को ईश्वर ने वेद का उपदेश किया वे जन्म भर जानते रहे वा न जानते रहे इस से हमारी क्या हानि हुई?। कदाचित् इस से यह अभिप्राय हो कि वे ऋषि लोग भूल गये तो वेद वहीं समाप्त हो गये फिर अब कहां से आये? इस पर यही उत्तर है कि प्रथम तो भूल जाना नित्याभ्यास करने वालों को नहीं बन

* जैसे एक पाठशाला में अनेक विद्यार्थी पढ़ते हैं उन में किसी २ को थोड़े परिश्रम से बहुत विद्या थोड़े दिनों में आ जाती है और बहुतों को बड़े परिश्रम से बहुत दिन में थोड़ी विद्या आती है तथा बहुतेरों को बहुत दिनों में बड़े परिश्रम से भी कुछ नहीं आता इस का कारण पूर्वजन्म के विद्याजन्य संस्कार हैं। जिस ने पूर्वजन्म में विद्याभ्यास किया है उस को शीघ्र आ जाती है ॥

सकता द्वितीय जिन को पढ़ाते रहे वे गुरुशिष्य दोनों भूल जावें यह नहीं बन सकता तृतीय जब वेद उपस्थित हैं तो उन का न भूलना स्वयमेव सिद्ध है प्रत्यक्ष से शेष का अनुमान करना युक्त ही है ॥

"आप कह सकें गे कि प्रथम किस समय किसने किस पर अर्थात् (पत्र उस समय थे वा नहीं) कहां वेद को लिखाया"

इस का उत्तर यह है कि सृष्टि उत्पन्न हुये पश्चात् थोड़े ही काल में उन्हीं ऋषियों ने (जिन के द्वारा वेद प्रकट हुए थे) पत्रों पर वेद लिखवाये । यदि समय के पूछने से यह अभिप्राय हो कि प्रातः सायं वा मध्याह्न आदि किस समय लिखाये तो यह प्रश्न करना ठीक नहीं क्योंकि ऐसे प्रश्न पर हम भी ऐसे ही प्रश्न कर सकते हैं कि जिन पुस्तकों को (चाहे वे किसी भाषा के हों) आप ठीक समझते हों और उन का वही कर्त्ता मानते हो जो प्रसिद्ध है परन्तु वह आप के जन्म से पहिले हो गया है ऐसी अवस्था में यदि आप से कोई प्रश्न करे कि वह पुस्तक किस समय किस ने किस पर लिखा तो क्या उत्तर दोगे ? । जितने पुस्तक अब मनुष्यों के बनाये हैं उन में भी बहुधा समयादि नहीं लिखा पर समयादि के न लिखने से किसी को सन्देह नहीं होता कि अमुक रचित यह पुस्तक नहीं है यदि कदाचित् महिने और वर्ष संवत् से तात्पर्य है तो यह ठीक है कि संवत् आदि का ज्ञान होना अच्छा है पर संवत् वा महिने का ज्ञान कदाचित् किसी कारण विशेष से न हो सके तो भी उस पुस्तक में सन्देह नहीं हो सकता कि वह उस का बनाया नहीं है क्योंकि जो वस्तु जिस का बनाया होता है उस के साथ उस के कर्त्ता के गुणकर्म स्वभावो का सम्बन्ध प्रकट रहता है यही निश्चय उस के बनाये होने में हो सकता है कुछ समयादि कारण नहीं । क्योंकि समय को नियत करके भी अन्य के नाम से अन्य कोई पुस्तकादि बना सकता है । यदि कोई महाशय कहैं कि सृष्टि के आदि में उन्ही ऋषियों ने वेद लिखवाये इस में आप के पास क्या प्रमाण है ? । तो हम पूछें गे कि किसी समय किसी ने लिखवाये वा बिना लिखाये लिख गये ? । जब बिना लिखे लिखाये लिख जाना सम्भव नहीं तो अवश्य किसी समय किसी ने लिखाये यह सिद्ध हो गया तो लिखे जाने के जिस समय को आप निश्चित करें गे वही ठीक है इस में क्या प्रमाण है ? । यदि कहो कि किसी समय लिखा ही नहीं तो भी ठीक नहीं क्योंकि जैसे बने हुए घट को देख के कोई भी यह सिद्ध नहीं कर सकता कि यह किसी समय बना ही नहीं क्योंकि उस की बनावट को देखने से बनना ठीक निश्चित है ऐसे ही वेद की लिखावट को देख के उस का किसी समय विशेष में लिखा जाना स्वय सिद्ध है । पत्र उस समय अवश्य विद्यमान थे क्योंकि

पत्र शब्द से लिखने के अवसर में उस वस्तु का ग्रहण होगा जिस पर अकारादि वर्णों की आकृति (मूर्त्ति) लिखी जावें वह वस्तु चाहे किसी से किसी प्रकार की बनी हो वा वृक्षादि के पत्तेरूप हों । इस से हम लोगों की कुछ भी हानि नहीं कि जैसे कागज आदि पर इस समय पुस्तक लिखे वा छापे जाते हैं वैसे ही पहिले नहीं लिखे वा छापे जाते थे । क्योंकि हमारा प्रयोजन केवल लिखने छापने के अभिप्राय पर है कि जिस प्रयोजन के लिये लिखे छापे जाते थे वह प्रयोजन सिद्ध होता था वा नहीं तो कदापि सिद्ध नहीं हो सकता कि नहीं होता था । और जैसे कागज आदि पदार्थ अब उत्पन्न होते हैं वैसे पहिले होने सम्भव हैं क्योंकि जिन वस्तुओं से कागज आदि बनते हैं वे कारणरूप पदार्थ पहिले से ही सृष्टि के साथ चले आते हैं जहां कारण है वहां कार्य का अवश्य होना न्याय से सिद्ध है। आज कल के बहुतेरे लोगों को ऐसी शङ्का है कि बहुतेरे पदार्थ हमारे देश में पहिले से कभी नही हुए केवल अंग्रेज़ों ने निकाले हैं। यह भ्रममात्र प्रतीत होता है । क्योंकि जो पदार्थ नवीन बनाये उन के कारण इस देश में न होते किन्तु कारण को भी नवीन बना लेते तो अवश्य अभाव से भाव मानने की आवश्यकता पड़ती। सो तो हुआ नही फिर कैसे निश्चय करें कि कारण के रहते भी पहिले कभी कार्य न हुआ हो ? । हां इतना कह सकते हैं कि जिस समय वे २ पदार्थ अंगरेज़ादि ने बनाये इस समय से कुछ पहिले कार्यरूप नही थे बहुत पहिले कार्य रूप रहना भी सिद्ध ही है ॥

"वेद" जैसे ईश्वर से प्रकट हुए वैसे ही आज तक हैं वा उन में कुछ तब्दीली (अन्तर) हुआ है इत्यादि ॥

वेद जैसे ईश्वर से प्रकट हुए वैसे ही आज तक वर्त्तमान हैं उन में कुछ भी अन्तर नही हुआ इस का कारण यह है कि सृष्टि के आरम्भ से ही जो २ ऋषि मुनि लोग होते आये हैं वे सब मूल संहिता वेदों के ऊपर पुस्तक बनाते आये हैं । जैसे आरम्भ ही में पाणिनीय व्याकरण बना तो इस व्याकरण और प्रातिशाख्य आदि पुस्तकों से स्वरों का नियम कर दिया कि ऐसे २ अमुक २ पदों में ऐसा ही स्वर लगाना ठीक है इस से यदि लेखक आदि के भ्रम से उदात्तादि स्वर अशुद्ध हो जावें तो पाणिनीय व्याकरण और प्रातिशाख्यादि के ज्ञाता पण्डित लोग तत्काल देखते ही जान लेंगे कि यह अशुद्ध है और जान के ठीक स्वर लगा देवें गे । इसी लिये व्याकरण महाभाष्य में कहा है:—

रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणं, लोपागमवर्णविकारज्ञो हि सम्यग्वेदान् परिपालयतीति ॥

वेदों की रक्षा के लिये व्याकरण पढ़ना चाहिये अन्यथा लेखकादि दोष से बिगड़ जाना सम्भव है । और कल्पसूत्र जो कि गर्भाधानादि कर्म विधायक आश्वलायनादि गृह्यसूत्र वा अग्निष्टोमादि यज्ञों के विधायक श्रौतसूत्र हैं उन में संहिता के सभी मन्त्रों का विनियोग प्रतीक धर २ के किया है इस से अन्तर वा न्यूनाधिक होना सम्भव नहीं और उपक्रमणिका पुस्तकें जो प्रत्येक संहिताओं पर ऋषियों ने बनाये हैं जिन में प्रत्येक मन्त्र के ऋषि देवता छन्द दर्शाये हैं। इस से भी अन्तर हो जाना नहीं बन सकता और कदाचित् कहीं अक्षर वा पदों का पाठान्तर पुस्तकान्तरों में मिले भी तो इन्हीं पूर्वोक्त आर्ष ग्रन्थों की परिपाटी से विद्वान् लोग ठीक निश्चय कर सकते हैं कि यही पाठ निश्चित है । क्योंकि जहां २ सन्देह होता है वहां २ व्याख्यान से ही विशेष का निश्चय करना होता है। तथा जैसे पृथिवी सप्तद्वीपा है इत्यादि बातें प्रत्यक्ष किये विना भी शब्द प्रमाण से ठीक मानी जाती हैं तथा लौकिक बहुत सी बातों में सन्देह पड़ता है तब श्रेष्ठ पुरुषों के कहने से निश्चय होता है वैसे ही पाठान्तर का निश्चय भी विद्वानों तथा शास्त्रों से ठीक हो सकता है कि यही पाठान्तर ईश्वरीय है ॥

"वेद भाषा सब भाषाओं की मातृ भाषा है" ऐसा लेख नहीं करना चाहिये क्योंकि सब भाषाओं की माता की भाषा वेद भाषा है ऐसा कहना असम्बद्ध है किन्तु वेदभाषा सब भाषाओं की माता है ऐसा कहना किसी प्रकार ठीक है । परन्तु मुख्य सिद्धान्त यही है कि संस्कृत भाषा सब भाषाओं की माता है ऐसा ही कहना चाहिये । यदि वेद को अन्य भाषाओं की माता कहें तो भी संस्कृत से प्रयोजन रहे गा क्योंकि संस्कृत भाषा का मूल वेद है । संस्कृत सब भाषाओं की माता है यह वार्त्ता बहुत ठीक है क्योंकि संस्कृत से पहिले कोई भाषा सिद्ध नहीं होती यही सब से बहुत पुरानी अर्थात् सृष्टि के आरम्भ से है इस से यह सिद्ध ही है कि जो जिस से पहिले होती है वही कारणरूप माता हो सकती है क्योंकि कार्य से कारण पहिले रहता है । यह बात भी उन्हीं २ लोगों के इतिहासों से सिद्ध है कि आदम से सृष्टि हुई और आदम ३ वा ४ हजार वर्षों से पैदा हुए इस से पहिले जब सृष्टि ही न थी तो उन २ लोगों की भाषा कहां से आई और हमारे इतिहासों से लाखों वर्ष पहिले का पता लगता है तो जिस पुस्तक की वर्त्तमानता में अन्य पुस्तक बनाया जावे तो पहिला पुस्तक अवश्य कारणरूप माना हुआ । ऐसे ही अंग्रेजी आदि भाषाओं की कल्पना संस्कृत भाषा को बिगाड़ के मनमानी की है इस से संस्कृत सब भाषाओं की माता है यह सिद्ध हो गया ॥

भवन्मित्रो—भीमसेन शर्म्मा

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥

भाग १ } माघ संवत् १९४४ { अङ्क ८

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ॥

(महामोहविद्रावण का उत्तर अं० ५ पृ० ६३ से आगे)

"कात्यायनभिन्नैर्ऋषिभिर्वेदसंज्ञायामस्वीकृतत्वात्" इति तु देवानाम्प्रियस्य साहसोक्तिः "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेय" मित्यापस्तम्बेन यज्ञपरिभाषासूत्रेषु ब्राह्मणानां वेदत्वस्य सुस्पष्टमुक्तत्वात् । किञ्च सर्ववैदिकशिरोभाग्यैः पूर्वमीमांसादर्शने द्वितीयेऽध्याये प्रथमपादे द्वात्रिंशत्तमे सूत्रे मन्त्रं लिलक्षयिषुराचार्यः प्राहस्म "तच्चोदकेषु मन्त्राख्या" "शेषे ब्राह्मणशब्दः" इति च, अत्र हि "शेषे ब्राह्मणशब्दः" इति द्वितीयसूत्रोक्त्या शेषे मन्त्रभागादवशिष्टे मन्त्रैकदेशे ब्राह्मणशब्द इत्यर्थाद्वेदस्य मन्त्रब्राह्मणात्मकप्रभेदद्वयवत्त्वसिद्धिः । यद्याचार्यो वेदैकभागत्वन्नावगमिष्यत्कथमसौ व्यधास्यत "शेषे ब्राह्मणशब्दः" इति, नहि महाभारतस्य रामायणं शेष इत्यनुन्मत्त आचष्टीत तदवश्यं शेषशब्दमहिम्नाऽऽचार्यस्य ब्राह्मणे वेदभागत्वमभिमतमित्यवगम्यते । अतएव ब्राह्मणनिर्वचनाऽधिकरणे " अथ किं लक्षणं ब्राह्मणम् मन्त्राश्च ब्राह्मणाश्च वेदः तत्र मन्त्रलक्षण उक्ते परिशेषसिद्धत्वाद्ब्राह्मणलक्षणमवचनीयम् । मन्त्रलक्षणवचनेनैव सिद्धं यस्यैतल्लक्षणं न सम्भवति तद्ब्राह्मणम् इति परिशेषसिद्धं ब्राह्मणम्" इति व्याचख्युराचार्याः शबरस्वामिनः । अत एव च भगवान्

जैमिनिर्निरुक्तसूत्रद्वयेन मन्त्रब्राह्मणात्मकं कृत्स्नं वेदं लक्षयित्वा तदेकदेशभूता ऋचः " तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था " इति सूत्रेण पञ्चत्रिंशत्तमेन ऋचः "गीतिषु समाख्या" इति षट्त्रिंशत्तमेन सामानि "शेषे यजुःशब्दः" इति सप्तत्रिंशत्तमेन यजूंषि लक्षयामास । ततश्च यजुषोप्येकदेश "निगदो वा चतुर्थं स्याद्धर्मविशेषात्" इत्यष्टत्रिंशत्तमेन यजुर्विशेषं निगदमलक्षयत् यद्ययमाचार्यो ब्राह्मणानां वेदपदार्थतां नाभिमन्येत ततः "तच्चोदकेषु मन्त्राख्या" इत्येतन्मन्त्रलक्षणानन्तरमेव ऋगादींल्लक्षयेत् । लक्षयति चायम्मन्त्रानन्तरं "शेषे ब्राह्मणशब्द" इति ब्राह्मणमेव ततोऽस्यावश्यमेव ब्राह्मणानां वेदपदार्थत्वमभिमतमति प्रेक्षावता जैमिनेरभिप्रायो वक्तव्यः ॥

(भाषार्थ)-ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में ब्राह्मणग्रन्थों के वेद न होने में पांचवां हेतु (कात्यायनभिन्नै०) कह दिया है सो यह मूर्ख (दयानन्द) का सहसा (बे विचार) कहना है क्योंकि (मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्) इस आपस्तम्ब ऋषि के वचन से ब्राह्मण ग्रन्थों को स्पष्ट कर वेद कहा है तथा सब वेदानुयायियों के शिरोमणि पूर्वमीमांसादर्शन में अध्याय दो पाद पहिले के बत्तीशवें सूत्र में मन्त्र के लक्षण की इच्छा से महर्षि जैमिनि ने कहा है कि (तच्चोदकेषु०) यहां (शेषे ब्राह्मण शब्दः) इस द्वितीय सूत्र के कहने से शेष नाम मन्त्र के भाग में ब्राह्मण शब्द की प्रवृत्ति है इस अर्थ से वेद के मन्त्र और ब्राह्मणरूप दो भेद सिद्ध हैं। यदि जैमिनि आचार्य ब्राह्मण पुस्तक को वेद का एक भाग नहीं मानते तो मन्त्र का शेष ब्राह्मण भाग को क्यों कहते ?। क्योंकि महाभारत का शेष रामायण है ऐसा कोई नहीं कह सकता । इस से यह निश्चय है कि आचार्य को ब्राह्मण ग्रन्थों का वेद होना अभीष्ट है । इसी लिये ब्राह्मण निर्वचनाधिकरण में (अथ किं लक्षणम्०) इत्यादि व्याख्या से शबरस्वामि ने ब्राह्मणभाग को वेद कहा है। इसी लिये जैमिनि आचार्य ने दो सूत्रों से मन्त्रों से मन्त्र ब्राह्मणरूप सम्पूर्ण वेद का लक्षण कर के उस के अवयव ऋग्, यजुः, साम आदि का लक्षण पृथक् २ सूत्रों से किया है यदि आचार्य ब्राह्मण ग्रन्थों को वेद नहीं मानते तो मन्त्र के लक्षण के पश्चात् ऋगादि का लक्षण करते सो न कर के मन्त्र लक्षण के पश्चात् ब्राह्मणग्रन्थ का लक्षण किया इस से अवश्य जैमिनि को ब्राह्मण पुस्तकों का वेदत्व अभीष्ट है यह विद्वानों को जैमिनि का अभिप्राय कहना चाहिये ॥

अत्रोच्यते-मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयमित्यापस्तम्बवचनेन

तावदेव वेदत्वं प्रतिपाद्यते यावद् व्याख्येयेन वेदेन सह व्याख्यानस्य ब्राह्मणस्य तादात्म्यं भवितुं युक्तम् । तच्च वेदव्याख्यानादिति हेतोः समाधाने पूर्वमेवार्यसिद्धान्ते नृगिरा मया प्रतिपादितम् । यद्यपि लक्ष्यं लक्षणं भवितुं नार्हति तथापि "लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम्" इतिवद् व्याख्यानरूपस्यापि ब्राह्मणग्रन्थस्य वेदत्वमुपपादितम् । तत्र श्रीमद्दयादिस्वामिनोक्तं यथा लक्ष्यं लक्षणं भवितुमयुक्तं तथैव व्याख्यानरूपा ब्राह्मणग्रन्था व्याख्येय वेदरूपा भवितुं नार्हन्ति । यत्र वेदस्यानादित्वमपौरुषेयत्वं च प्रतिपाद्यते तदंशे न ब्राह्मणानां वेदत्वं सम्भवति किन्तु व्याख्यानव्याख्येययोः सम्बन्धेन कथञ्चित् सम्भाव्यते । यथा कश्चित्प्रधानामात्यमेव राजानं ब्रूयात्तत्कर्मकारित्वात् तथैवात्रापि विज्ञेयमिति ॥

यच्च पूर्वमीमांसाकर्तुर्जैमिनेराचार्यस्य प्रमाणं दीयते तत्रापि भवदनुमतं न सिध्यति कुतो मन्त्रभागस्यांशांशिभावेन ब्राह्मणभागः शेषो भवितुं नार्हति । यदि मन्त्रभागैकदेशो ब्राह्मणभागः स्यात्तर्हि ब्राह्मणभागं गृहीत्वैव मन्त्रभागः प्रपूर्येत नतु वेदः । वेदैकदेशो ब्राह्मणभाग इत्यभिप्रायस्तु जैमिनीयसूत्राभ्यां निःसारयितुमशक्यः । तत्र वेदनिर्वचनाधिकरणाभावात् मन्त्रनिर्वचनाधिकरणं ब्राह्मणनिर्वचनाधिकरणं चेति तत्र पठ्यते । एवंच भवतां यदिष्टं वेदैकदेशो ब्राह्मणभाग इति तन्न सिध्यति विपरीतं मन्त्रभागैकदेशो ब्राह्मणभाग इत्यपि न सिध्यति तत्राप्यंशांशिभावेन मन्त्रैकदेशो ब्राह्मणभागो नास्ति किन्तु मन्त्रेण यत्कर्तुं चोद्यते तत्र ब्राह्मणभागः सहायकोऽस्तीति मत्वा ब्राह्मणभागस्य वेदत्वं न प्रतिपादनीयम् । एवं चेद् ब्राह्मणभागस्य वेदत्वं स्यात्तदा तु गृह्यश्रौतादिसूत्राणां तत्तद्भाष्याणां मन्त्रादिभाष्याणां च वेदत्वं प्राप्नोति तत्र को वारयिता । कुतस्तेषां साहाय्यमन्तरेणापि मन्त्रब्राह्मणभागमात्रेण कार्य्यं साद्धुमशक्यम् । एवं च यस्य यस्य

सहायता मन्त्रभागे स्यात्तस्य तस्य सर्वस्यैव वेदत्वं प्राप्नोतीत्यति-व्याप्तिरवारणीया । यच्च मीमांसाभाष्यकर्त्रा शवरस्वामिनोक्तं मन्त्राश्च ब्राह्मणं च वेद इति तन्न संगच्छते पूर्व्वमीमांसायां वेदनिर्वचनाधिकरणाभावात् । शवर इत्यमरकोशे म्लेच्छनामसु गणितं तत्पण्डितेन स्वं नाम कथं रचितम् ? किमन्यार्थमेव शवरस्वामिनः पाण्डित्यमासीत् ? यच्चोक्तं "नहि महाभारतस्य रामायणं शेष इति स्वकीयो वचनम् । शेषत्वं शब्दपूरकभावेनार्थपूरकभावेन चोभयथा भवितुमर्हति । यदि कश्चिद्विषयो महाभारते प्रतिपादितस्तस्मिन्नेव विषयेऽवशिष्टं व्याख्यानं रामायणे स्यात्तदा रामायणं महाभारतस्य शेषइति वक्तुं शक्येत । यस्य शेषत्वं वक्तव्यं तेन स्वसमुदायात् (यस्यासौ शेषः) पश्चाद्भवितव्यम् । रामायणं च महाभारतात्पूर्वमेवासीदतएव तस्य शेषो भवितुं नार्हति । इत्यनेनैतदायाति शब्दसमुदायस्यार्थसमुदायस्य च पूरकत्वमेव ग्रन्थेषु शेषत्वं तत्र मन्त्रभागः स्वनाम्ना समुदायत्वेनैव पूर्णः । यदि ब्राह्मणभागेन सहैव शब्दसमुदायस्य मन्त्रभागस्य पूर्त्तिः स्यात्तदा मन्त्रभागएवस्याद् ब्राह्मणभागत्वमेव निवर्त्तेत यदि चार्थसमुदायपूरकत्वं ब्राह्मणानां शेषत्वं तदा चातिव्याप्तिदोषइत्युक्तमेव यच्चोच्यते—मन्त्रलक्षणानन्तरमेव ब्राह्मणलक्षणं कृतं पश्चाच्च ऋगादीनां यदि ब्राह्मणभागस्य वेदत्वं न स्यात्तर्हि ब्राह्मणलक्षणात्पूर्वमेव ऋगादींल्लक्षयेत् । नैषदोषः । मन्त्रभागेन सहैव ब्राह्मणभागस्य मुख्यसम्बन्ध इति त्वस्माभिः स्वीक्रियते । अतएव मन्त्रलक्षणानन्तरं ब्राह्मणलक्षणं घटते । यदि भवन्मते ब्राह्मणभागस्य वेदत्वं स्यात्तदा मन्त्रब्राह्मणयोर्द्वयोरपि मध्ये ऋगादीनां प्रवेशः स्यात्सतु न दृश्यते किन्तु मन्त्रभागस्यैव ऋगादीनि विशेषनामानीति प्रसिद्धमेव । न तु ब्राह्मणभागेऽर्थवशेन क्वापि पादव्यवस्था वक्तुं शक्यते । अतः सिद्धं मन्त्रभागस्य मुख्यं व्याख्यानं

ब्राह्मणभागस्तत्सम्बन्धित्वान्मन्त्रानन्तरं ब्राह्मणलक्षणमिति शम् ॥

भावार्थः-श्री स्वामी जी महाराज ने ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका में ब्राह्मणभागों के मूलवेद न होने में पांचवां हेतु यह (कात्यायनभिन्नैः०) दिया है कि कात्यायन भिन्न ऋषियों ने ब्राह्मणग्रन्थों को वेद नहीं माना इस से ब्राह्मण वेद नहीं हैं इस पर बनारस के पं० महाशय कहते हैं कि आपस्तम्ब ऋषि ने भी ब्राह्मणों को वेद कहा है इस पर हमारा कहना यह है कि व्याख्यान व्याख्येय के मुख्य सम्बन्ध को लेके किसी ने व्याख्यान को भी व्याख्येय के नाम से कह दिया तो वक्ता का यही अभिप्राय होगा कि जैसा महाभाष्यकार ने कहा है " सूत्रमेव विगृहीतं व्याख्यानं भवति, वृद्धिः आत्, ऐच् इति। अर्थात् व्याख्यान में उन्हीं मूल के पदों वा अभिप्रायों पर विचार होता है इस सम्बन्ध को लेकर व्याख्यान को भी मूल के नाम से कह देना विशेष हानिकारक नहीं है किन्तु समझने में भेद होना चाहिये कि मूल को मूल और व्याख्यान को व्याख्यान समझें और जैसे मनुष्यकृत ग्रन्थों में मूल और व्याख्यान दोनों को व्याकरणादिपदवाच्य कह सकते हैं वैसे ईश्वर की अनादि विद्या वेद में यह वार्त्ता नहीं घट सकती क्योंकि व्याख्या करना ईश्वर का काम नहीं है किन्तु मनुष्यों का है यदि व्याख्या को वेद कहें तो अनेकों की अनेक व्याख्याओं को वेद मानना पड़े यह अतिव्याप्ति दोष आवे पूर्वमीमांसाकार जैमिनि महर्षि ने जो मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का लक्षण किया है उस में (तच्चोदकेषु मन्त्राख्या) इस सूत्र का आशय यह है कि कर्मों में प्रेरणा करने वाले अर्थात् ऐसा करना और ऐसा न करना चाहिये इस प्रकार आज्ञा के मूल मन्त्र कहाते हैं।

(शेषे ब्राह्मणशब्दः) इस द्वितीय सूत्र का अभिप्राय महामोहविद्रावणकर्त्ता यह बतलाते हैं कि मन्त्रभाग का शेष अर्थात् बाकी भाग ब्राह्मण है। सो यह अभिप्राय ठीक नहीं है क्योंकि जैसे व्याकरण सूत्रों का शेष वार्त्तिकादि व्याकरण ही कहाता है इसी प्रकार यदि अंगाङ्गिभाव से ब्राह्मणभाग को मन्त्रभाग का शेष मानें तो ब्राह्मणभाग भी मन्त्रों के टुकड़े होने से मन्त्र ही कहावेंगे इस लिये जैसे मूल का शेष व्याख्यान होता है वैसे ही मन्त्र का शेष ब्राह्मण भाग है। और मीमांसाकार ने मन्त्र निर्वचनाधिकरण और ब्राह्मण निर्वचनाधिकरण कहा है अर्थात् मन्त्र और ब्राह्मण के लक्षण का प्रकरण बांधा है किन्तु यह नहीं कहा कि मन्त्र और ब्राह्मणभागों का नाम वेद है। इस स्थल में पूर्वमीमांसा के भाष्यकर्त्ता शबरस्वामी ने कहा है कि "ब्राह्मण का लक्षण क्या है इस का उत्तर दिया कि मन्त्र और ब्राह्मण वेद हैं" भला विचारिये कि प्रश्न और उत्तर से क्या सम्बन्ध है?। अमरकोश में शबरनाम म्लेच्छ वा राक्षस का है शबर स्वामी को पण्डित होकर ऐसा नाम न रखना चाहिये था। ऐसों का प्रमाण देने वाले अर्थात्

उन के अनुयायी महामोहविद्रावणकर्त्ता हैं । और मन्त्र लक्षक सूत्र के आगे जो ब्राह्मण का लक्षण किया और मन्त्र के विशेष वाचक ऋग्वेदादि का लक्षण ब्राह्मण के पश्चात् किया इस का यही तात्पर्य है कि सामान्य विशेष दोनों मन्त्र और ऋगादि के साथ ब्राह्मणभाग का समान एकसा सम्बन्ध समझा जावे अर्थात् समुदाय मन्त्र और अवयव ऋगादि के साथ एक ही सा सम्बन्ध माना जावे । यदि मन्त्र और ऋगादि के लक्षण के पश्चात् ब्राह्मणभाग का लक्षण करते तो ऋगादि प्रत्येक अवयव के साथ सम्बन्ध होने से प्रत्येक ब्राह्मणपुस्तक का मन्त्रभाग मात्र के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता इस से यह हानि होगी कि शतपथब्राह्मण की साक्षी ऋग्वेद के मन्त्रों में देना न बनेगा इसलिये मध्य में ब्राह्मण का लक्षण करने से दोनों समुदाय मन्त्र और ऋगादि अवयव के साथ एक सा सम्बन्ध समझा जाता है । जैसे दो घर के बीच में दीपक रखने से दोनों में एकसा प्रकाश पहुंचता है और एक में रखने से एक ही में प्रकाश रहता है । इस से यह सिद्ध हुआ कि महामोहविद्रावणकर्त्ता का यह "मंत्र के पश्चात् ब्राह्मण का लक्षण करने से ब्राह्मणभाग भी वेद है" कथन ठीक नहीं किन्तु वेद का मुख्य सम्बन्धी ब्राह्मणभाग है इस से उस का लक्षण मन्त्र भाग के पश्चात् ही करना उचित था । यद्यपि पूर्वमीमांसा जैमिनीय शास्त्र में अनेक स्थलों में ब्राह्मण ग्रन्थों के वाक्यों पर विचार और उन के उदाहरण दिये हैं तथापि उन को अनादि अपौरुषेय करके नहीं कहा और जब ब्राह्मण ग्रन्थों में निज २ मनुष्यों के इतिहास हैं तो क्योंकर उन को अनादि कहें ॥ क्रमशः ॥ ह० भी० श०

अं० ७ पृ० ११२ से आगे पं० नरसिंह शर्मा मंगलपुरनिवासीकृत आये प्रश्नों के उत्तर

किसी ईश्वरकृत कार्य को मनुष्य नहीं कर सकता जैसे सूर्य चन्द्रमा पहाड़ आदि ईश्वरकृत होने से उन को मनुष्य नहीं बना सकते वैसा ही यदि वेद ईश्वरकृत है तो उन के सदृश वेदमन्त्र मनुष्यों से बनाने को नहीं होना चाहिये । वेदमन्त्र मनुष्यकृत न होने में उस में क्या ऐसा असाध्य विषय है ? अगर वेदमन्त्र मनुष्य बना सकते हैं तो वेदों का महत्व कहां ? अब देखिये किसी पण्डित ने एक वेदमन्त्र रच कर संहिता का मन्त्र कहा तो वह सच्चा वा कपोलकल्पित करके समझने को क्या आधार है ? जैसे सर्कारी अदालत है तो उस पर न्यायाधीश का हस्ताक्षर वा मोहर रहने से वह सच्चा है करके समझा जाता है वैसा ही वेद ईश्वरकृत होने पर उन के ऊपर क्या छापा है अर्थात् ईश्वरकृत करके समझने को कौन से चिह्न हैं ? निम्नलिखित मन्त्र वेदमन्त्र है वा नहीं है करके

कैसा समझना ? इस को वेद मन्त्र के बीच में घुसेड़ देवे तो यह वेद मन्त्र है वा नहीं कर के कैसे जानना ? वह वेद मन्त्र यह है ॥

पतंनन्तेस्तुरंदना चिकुराणांश्च शौकल्यमुत्तमम् ।
सुलोचनमकंपाय यष्टिस्ते प्रियकृत्तंत्र यष्टिस्ते प्रियकृत्तंवेति ॥

उत्तर–किसी ईश्वरकृत कार्य को मनुष्य नहीं कर सकता जैसे कि सूर्य चन्द्रादि को नहीं बना सकता यह वार्त्ता मुख्य कर ठीक ही है पर इतना भेद है कि ईश्वर के किये हुए कार्यों की सहायता से अनेक कार्य अपनी योग्यतानुसार कर सकता है जैसे विद्युत् अग्नि को वश में ला के सूर्य तुल्य उस का प्रकाश करना वा अग्नि आदि से विमानादि यान चलाना इत्यादि काम ईश्वरकृत वस्तुओं की सहायता से मनुष्य कर सकता है यदि विद्युत् अग्नि व्याप्त न होवे तो उस को अभाव से उत्पन्न कोई नहीं कर सकता किन्तु अप्रकट को प्रकट कर के कार्य लेते हैं। जैसे ईश्वरकृत अन्य वस्तुओं की सहायता से मनुष्य बड़े २ अद्भुत आश्चर्यरूप वस्तु बना लेते हैं जिन को देख के साधारण बुद्धि वाले (जिन्हों ने वह गूढ़ पदार्थ विद्या और उस के मर्मों को नहीं जाना है) मनुष्य यही कहते जानते और मानते हैं कि यह काम ईश्वर का ही है। इसी प्रकार ईश्वरकृत वेद मन्त्रों की सहायता से वेद मन्त्रों के समान मन्त्र बना सकता है उस के तुल्य कहने से यह प्रयोजन कभी न समझना चाहिये कि सर्वांश में ठीक २ एक दूसरे से मिल जावे क्योंकि तुल्यता का प्रचार वहीं होता है जहां कोई २ बातें मिलती हों। यदि सर्वांश में एक दूसरे से ठीक २ गुण कर्म स्वभाव मिल जावें तो वह पदार्थ भी एक ही होगा पृथक् २ नहीं रह सकेगा। इस से ईश्वरकृत पदार्थों के तुल्य बना लेता है इस से यह न समझना कि ईश्वर और मनुष्य के काम सर्वथा बराबर हो गये। जैसे सच्चे हाथी की आकृति देख के रंगरूप आकृति वाला हाथी किसी ने बनाया इस से मुख्य पदार्थ वही रहा जिस को देख के बनाया है। जैसे सोने चांदी आदि में विशेष बुद्धिमानी के साथ उस के सदृश अन्य धातु कोई मिला देवे तो अन्य लोग उस की परीक्षा साधारण प्रयत्न से नहीं कर सकते और सुवर्णकार शीघ्र ही निश्चय कर लेता है कि इस में इतना सुवर्ण तथा इतना अन्य धातु मिला है तथा जैसे सच्चे झूठे हीरा मोती की परीक्षा जौंहरी लोग ही शीघ्र कर सकते हैं अन्य नहीं। वैसे वेद मन्त्रों के समान मन्त्र बना के यदि कोई वेद में मिला देवे तो प्रथम मिला सकना ही कठिन है क्योंकि वेदरूप कोश के रक्षक पहरे वाले सदैव जागते हैं कि जो मिलाने वाले को तत्काल पकड़ लेवें। अर्थात् सैकड़ों वेदपाठी पण्डित महाशयों को अपने २ वेद की शाखा के मन्त्र पद और अक्षर तक कंठस्थ

हैं कि अमुक संहिता में इतने पद हैं वे लोग अपनी पीढ़ी परपीढ़ी शिक्षाप्रणाली की परम्परा से सदा वेद को पढ़ते पढ़ाते चले आते हैं यदि उन नियत मन्त्र और पदों में कुछ भी न्यूनाधिक देखें गे तो तत्काल कोलाहल मचावें गे और चोर पकड़ा जावे गा यदि कदाचित् किसी पुस्तक में कोई कुछ बना के मिला भी देवे तो सब पुस्तकों में मिला सकना कठिन है फिर वह पुस्तक अवश्य पकड़ा जावे गा। क्योंकि जितने पुस्तक रक्षकों की परिपाटी में प्रचरित होंगे उन में कोई कुछ न मिला सकेंगे। और जिस में मिलावे गा उस न्यून का प्रमाण भी न होगा। तथा कोई मिलावट न कर सके इस लिये ऋषि लोगों ने वेद के चारो ओर ऐसी परिखा (खाई) बांध दी है कि जिस का उल्लंघन कर कोई दस्यु वेदरूप वन में नहीं जा सकता किन्तु जाने वालों के लिये छः अङ्गरूप द्वार बने हैं तथा जैसे उपक्रमणिका, चरणव्यूह, ब्राह्मण पुस्तक चार, गृह्य तथा श्रौत अनेक सूत्र हैं। उपक्रमणिका पुस्तकों में प्रतीकें धर २ के अध्याय आदि के क्रम से प्रत्येक मन्त्र के ऋषि देवता छन्द कहे हैं और प्रत्येक अनुवाक वा सूक्त आदि के मन्त्रों की संख्या कर दी है कि अमुक सूक्त में इतने मन्त्र हैं। चरणव्यूह पुस्तक में वेद की सब शाखाओं के नाम और मूलरूप संहिताओं के मन्त्रों की संख्या कर दी है कि जिस से न्यूनाधिक हो सकना बहुत कठिन है। तथा ब्राह्मण पुस्तकों में प्रत्येक मंत्र भाग की प्रतीक धर २ व्याख्या की है। तथा सभी वेदों के गृह्य और श्रौत सूत्रों में प्रत्येक मन्त्र की प्रतीक धर २ के अनेक गृह्य श्रौत कर्मों का विधान किया है जिन के अनुसार सभी प्रकार के कर्मों की पद्धतियां बन गई हैं जिन में प्रायः सभी मन्त्र आगये हैं तथा ऋषियों के पश्चात् भी वेदविषय में जो २ पं० महाशय पुस्तक बनाते आये हैं वे सब वेद की रक्षा के लिये प्रबन्ध करते आये हैं जैसे आर्यसिद्धान्त के अं० ३। पृ० ४६—४७ में लिखा है वैसे प्राचीन और आधुनिक अनेक प्रमाण मिल सकते हैं जिन का निर्धारण भी कठिन है कि वेद की रक्षा के लिये इतने पुस्तकरूप चौकीदार हैं ऐसा होते भी यदि कोई मन्त्र बना के मिला ही देवे तो सुवर्णादि के तुल्य असली और कम असली की परीक्षा विद्वान् लोग कर सकते हैं और मिलावट को असली सोने में से निकाल दे सकते हैं। वेद की रक्षा के लिये इतने पुस्तक इसी लिये बनाये हैं कि कोई धूर्त इन में कुछ न मिला सके यदि कदाचित् मिला भी देवे तो पकड़ा जावे। यदि विद्वान् लोग निश्चय भी कर देवें कि यह वेदमन्त्र नहीं और कोई न माने तो उस को वेद मन्त्र होने के प्रमाण देने अवश्य पड़ेंगे। यदि किसी विशेष चतुराई से कोई वेद मन्त्र बना के मिला देवे और उस को कोई पं० जान ही न सके तो वेद में मिलावट हो सकती है इस पर हम कहते हैं कि यदि पं० इस बात को न जान सके कि इस में मिलावट है

तो इतर साधारण मनुष्य क्योंकर मिलावट को जान सकता है ? । यह कथन ऐसा हुआ कि सुवर्ण का परीक्षक तो न जान सके पर अपरीक्षक जान लेवे अर्थात् नेत्र वाला न देख सके और अन्धा देख लेवे ? । यह कभी सम्भव है ? । जैसे हम लोगों के पास यदि इस समय वेद में कुछ मिलावट है इस का प्रमाण नहीं तो मिलावट कहने वालों के पास भी कुछ प्रमाण नहीं हो सकता । यदि मिलावट कहने वालों के निकट कुछ प्रमाण है तो हमारे पास उस से भी अधिक है कि उस में मिलावट नहीं । अब जो बनावटी मन्त्र परीक्षा के लिये लिखा है वह वेद मन्त्र नहीं है क्योंकि इस की बनावट वैदिक परिपाटी की सी नहीं है । बनाने वाले इस से भी अच्छा और शुद्ध मन्त्र और वैदिक परिपाटी से मिलता हुआ सा बना सकते हैं । अन्य अशुद्धियों को छोड़ के इस में स्वर बहुत अशुद्ध हैं । जिन पं० महाशय ने यह मन्त्र बनाया है उन को स्वरज्ञान यथार्थ नहीं है जैसे "चिकुराणां" में दो उदात्त किये हैं एक पद में दो उदात्त कभी नहीं हो सकते केवल वनस्पत्यादि समस्त पदों में दो उदात्त रहते हैं । जिन पदों में प्रकृति प्रत्यय का निश्चय होना दुस्तर है वहां "प्रातिपदिकमन्तोदात्तम्" करके अन्तोदात्त होना चाहिये (उत्तम) पद सर्वत्र अन्तोदात्त है उस को आद्युदात्त लिखना अशुद्ध है (अकम्पाय) और (सुलोचनं) पदों में भी स्वर सर्वथा अशुद्ध हैं । केवल (यष्टिस्ते प्रियकृत्तव) यह पाठ किसी पुस्तक का जान पड़ता है पर इस में भी एक पुनरुक्तरूप अशुद्धि प्रसिद्ध है अर्थात् ते और तव दोनों पद एकार्थ एकवाक्य में नहीं आने चाहिये । इस से यह वेद मन्त्र तो नहीं किन्तु इस में "कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा भानमती ने कुनबा जोड़ा" के समान किया है सो श्रेष्ठग्रन्थों के पद भी नहीं अर्थात् "स्वरदाना" आदि पद सद्ग्रन्थ के भी नहीं हैं । कदाचित् कोई महाशय इस को वेद मन्त्र बतलावें तो वे इस में प्रमाण और स्थल बतावें कि किस संहिता के किस स्थल में है तब अन्य प्रमाणों से निश्चय हो सकेगा कि यह वेद मन्त्र है वा नहीं । और कर्मकाण्ड में उस का विनियोग भी निश्चय किया जायगा । इति शम्—क्रमशः ॥

(अंक ७ के पृ० १०८ से आगे महाराजा वेंकटगिरि के उत्तर)

(प्रश्न)–६ ईश्वर को दयालु, और न्यायकारी, कहते हैं सो यह दोनों परस्पर विरुद्ध है, क्योंकि ? दंड से छुड़ावे तो दयालु होता है, परन्तु न्यायकारी होता नहीं, ऐसी स्वामी ने आशङ्का करके इन दोनों का सम्मेलन करने के लिये लिखा है कि जो कोई पाप करता है, उस को दण्ड करना यही दया है तात्पर्य एक बार दंड भया, तो फिर दुष्कर्म करने को मनुष्य डरता है, यही उस पर दया है इस

पर मेरी आशङ्का है कि, पूर्वजन्म में पाप किया और प्रस्तुत जन्म में उस मनुष्य को ईश्वर दंड करे, तो उस को पूर्वजन्म की स्मृति भगवान् दे, तो उस के ऊपर भगवत् ने दंड करके दया प्रकट किई ऐसा होगा, परन्तु उस को पूर्वजन्म का ज्ञान होने से वह दण्ड दया हो सकता नहीं क्योंकि अपराध करने वाला एक और दण्ड पाया सो ए कैसा होता है इस लिये भगवान् पूर्ण अन्यायकारी है ऐसा दीख पड़ता है भगवान् क्षमा करने वाला नहीं होता तो उस की स्तुति प्रार्थना करने में क्या फायदा है ? ॥

उत्तर—दया शब्द का अभिप्राय यह है कि चित्त में दूसरों का शुभचिन्तक रहना दूसरों के दुःख मेटने के उपाय शोचना और करना कभी किसी को दुःख देने की इच्छा न करना अन्य के दुःख में सहायक होना इत्यादि प्रकार के आन्तर्य्य विचार का नाम दया है । और जो जैसा कर्म करे उस को वैसा ही फल देना यह न्याय कहाता है इस से न्याय और दया में परस्पर विरोध नहीं कहा जा सकता क्योंकि इन का विषय अलग २ है ।

अब जन्मान्तर में जो फल भोगने को मिलते हैं उन पूर्वजन्म के कर्मों का स्मरण नहीं रहता इस से दया न रही यह कहना ठीक नहीं क्योंकि पूर्वजन्मकृत कर्मों का स्मरण नहीं रहना इस में तो कुछ आश्चर्य नहीं क्योंकि शरीर और भौतिक इन्द्रिय भी बदल जाते हैं । इस एक ही जन्म में उसी शरीर और इन्द्रियों से किये कर्मों का स्मरण इसी शरीर में नहीं रहता इस का क्या कारण है ? । तो यही कहना पड़ता है कि अन्तःकरण की शुद्धिरूप ज्ञान का न्यून होना इन्द्रियों की चञ्चलता के साथ चित्त का स्थिर न रहना यही स्मरण शक्ति का प्रतिबन्धक विशेष कर है । सो इस प्रतिबन्ध को जब योगाभ्यास से निर्बल करते हैं तब पूर्वजन्म की जाति और कर्मों का ज्ञान हो ही जाता है "संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम्" संस्कारों के साक्षात् करने से पूर्वजन्म संबन्धी जाति और कर्मों का ज्ञान हो जाता है इस में ईश्वर का कोई दोष नहीं है क्योंकि ईश्वर ने उपदेश कर दिया है कि ऐसा करने से ऐसा होता है जो जैसा करेगा वैसा फल पावेगा । दण्ड देने को हम लोग दया नहीं कहते किन्तु यथायोग्य कर्मफल भुगाने को न्याय कहते हैं परन्तु वह न्याय दया का विरोधी नहीं किन्तु उस न्याय के साथ भी यही दया है कि वह दण्ड दाता यही मानता हो कि इस को दण्ड दिया जायगा तो दण्डभय से फिर न करेगा । यही अभिप्राय स्वामी जी महाराज का है । जैसे पिता वा गुरु अपने पुत्र वा शिष्यों को अन्तःकरण से सुखी रखना चाहता है । पर उन के सुखी रहने में खोटे चालचलन रूप जो बाधा

देखता है उस के छुड़ाने के लिये ताड़ना करता है यहां न्याय और दया दोनों प्रकट हैं वैसे ही ईश्वर सब का भला चाहता और बुराई छुड़ाने के लिये यथायोग्य ताड़ना भी देता है इस कारण ईश्वर का कोई दोष नहीं है और पूर्वजन्मकृत वा इस जन्म के किये कर्मों का स्मरण न रहने से किसी को यह विश्वास नहीं हो सकता कि हम को विना कर्म किये यह दुःख भोगने को मिल गया। यदि कदाचित् कोई कहे कि अज्ञानियों को ऐसा विश्वास रहता है तो यह ठीक है क्योंकि उन का अज्ञान ही ऐसे विश्वास का कारण है। इस से कोई दोष नहीं आता क्योंकि अज्ञानियों को ऐसे बहुत अज्ञान होते हैं तो क्या ज्ञानी लोगों को भी ऐसा होना चाहिये ?। ज्ञानी लोग न्यायदृष्टि से (विद्यारूप नेत्र से) देख लेते हैं कि विना कारण के कोई कार्य जगत् में होता नहीं अर्थात् जैसे धातुओं के वैषम्यरूप कुपथ्य के विना कोई रोग नहीं होता कुपथ्य भी एक बुरा काम है उस का फल भी दुःखरूप रोग है। वैसे जो २ शुभाशुभ फलभोग दीख पड़ते हैं उन का कारण अवश्य है। जो कोई कहे कि कारण के विना है उस को उचित है कि अपने पक्ष की सिद्धि के लिये कारण के विना हुए किसी कार्य का दृष्टान्त जगत् में देवे। जब दृष्टान्त न मिले गा तो वह पक्ष अवश्य त्याज्य है। इत्यादि प्रकार से विद्वानों को निश्चय हो सकता है कि हम जो फल भोग रहे वा अन्य प्राणी जो २ फल भोगते हैं वह अपने २ पूर्वकृत कर्मों का है। यदि-पूर्वकृत कर्मों का ज्ञान ईश्वर की कृपा से सब प्राणियों को होता तो और भी महाक्लेश रहता। क्योंकि इस जन्म में अति बुरा कर्म बन पड़ता है और उस का जब २ स्मरण आता है तब २ महाभय उत्पन्न होता है कि जाने इस का क्या फल होगा। यदि ऐसे जन्मजन्मान्तरों के किये कर्मों का स्मरण रहे तो सब प्राणी इसी शोच विचार में पड़े २ मर जावें किसी को कुछ भी उत्साह न रहे इस लिये ईश्वर ने अच्छी दया करी कि हम लोगों को पहिले जन्मो के कर्मों का स्मरण नहीं रक्खा। और यदि पूर्वजन्म के कर्मों का ज्ञान सब प्राणियो को एक सा रहे तो विद्वान् और अविद्वान् का भेद न रहना चाहिये क्योंकि पूर्वजन्मकृत का ज्ञान है तो इस जन्म के कर्मों का स्मरण अवश्य ही रहे गा तो अज्ञानी कौन कहावें गे ! जब अज्ञानी कोई न हो तो ज्ञानी भी कोई न रहे गा क्योंकि ये दोनों सापेक्ष हैं।

परमेश्वर क्षमा करने वाला नहीं अर्थात् विना भुगाये नहीं छोड़ता। अर्थात् कर्मों के यथायोग्य फल देता है इसी लोभ से स्तुति प्रार्थना करनी चाहिये क्योंकि कर्म तीन प्रकार के हैं मानस, वाचिक, कायिक, स्तुति प्रार्थना भी मानस वा वाचिक कर्म है इस का भी यथासम्भव फल अवश्य देगा क्योंकि कर्मों का यथा-

योग्य फल देता है । पर जिस पदार्थ की प्रार्थना करे उस को चित्त से चाहता हो और चाहनानुकूल उस के मिलने का अन्य उपाय भी करता हो । यदि कहो कि उपाय करने से शारीरक कर्म का फल होगा तो प्रार्थना करना व्यर्थ रहा तो यह विचारना चाहिये कि शारीरक कर्म का फल हो और मानस वाचिक का न हो इस में क्या प्रमाण है ? यदि अलग २ फल चाहो कि उपाय और प्रार्थना का पृथक् २ फल हो तो यह ठीक नहीं क्योंकि जैसे लोक में अनेक क्रियाओं का एक फल होता है कि एक घर बनाने लगो तो अनेक क्रिया करने पड़ती हैं पर फल वही एक मकान निर्माणरूप होता है । यदि कहो कि उपाय से हो वह फल हो जायगा प्रार्थना निष्प्रयोजन है तो उत्तर यह है कि क्या प्रार्थना उपाय नहीं है लोक में क्या बहुतेरे काम मांग कर नहीं सिद्ध होते हैं? और एक प्रार्थना का बड़ा फल यह है कि अभिमान अहङ्कार को न्यून कर हृदय में कोमलता उत्पन्न करना । लोक में जब कोई पदार्थ किसी से मांगने की इच्छामात्र करता है उसी समय अभिमान छूट जाता है तो ईश्वर के सामने तो अवश्य अभिमान छोड़ने का यत्न करना चाहिये । अहङ्कारी पुरुष में श्रद्धा भी नहीं रहती और प्रार्थना के विना अहङ्कार का टूटना बहुत ही दुस्तर है और प्रार्थना से जब श्रद्धा उत्पन्न होगी तभी सत्य धर्म और ईश्वर को प्राप्त हो सकता है अन्यथा नहीं इसी लिये यजुर्वेद में कहा है कि:-

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाऽऽप्नोति दक्षिणाम् ।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥

इत्यादि प्रकार प्रार्थना के अनेक प्रयोजन है इस लिये ईश्वर की स्तुति प्रार्थना सब को अवश्य करनी चाहिये ॥

(प्रश्न) ७ उपासना से जीव परब्रह्म से मेल न हो कर और साक्षात्कार भी होता है ऐसे स्वामी लिखते हैं इस पर मेरी शङ्का है कि मेल कहैं तो जीव और ईश्वर यह दोनों पानी में पानी मिलता है उस प्रकार से मिलजाना साक्षात्कार कहैं तो जीव और ईश्वर फिर जुदा न पड़े ऐसा एक हो जाना ऐसी मोक्षप्राप्ति भई पीछे जीव ईश्वर से जुदा हो के फिर जन्म लेता है ऐसा एक जगह पर स्वामी लिखते हैं यह कैसी बात है ? ॥

उत्तर-७-उपासना विषय में जो शङ्का आप ने की है वह यथार्थ नहीं क्योंकि मुक्ति अवस्था में जीव ईश्वर का मेल जैसे पानी में पानी मिल जाता है वैसे नहीं बनता क्योंकि जिन पदार्थों में संयोगरूप मेल और वियोगरूप पृथक् भाव होता है वे सब पदार्थ परिच्छिन्न भौतिक माने जाते हैं इसी से उन की लम्बाई

चौड़ाई आदि भी माननी पड़ती है ईश्वर कोई भौतिक पदार्थ नहीं है किन्तु सर्वव्यापक आकाश के तुल्य विभु है तो यह कहना नहीं बन सकता कि अमुक वस्तु आकाश में मिल गया वा उस से अलग होगया इसी प्रकार ईश्वर के साथ किसी पदार्थ का मिल जाना वा पृथक् हो जाना नहीं बन सकता। साक्षात्कार का तात्पर्य यह है कि उस पदार्थ के वास्तविक स्वरूप को पहचान लेना इसी को ज्ञान भी कहते हैं इस का यह भी अभिप्राय कदापि नहीं हो सकता कि जिस को साक्षात् कर लेवें उस से पृथक् कभी न हो सकें। क्योंकि लोक में भी हम लोग अनेक विषयों वा सुखों का प्रतिदिन साक्षात् अनुभव करते हैं तो क्या उन से मिल जाते हैं? वा फिर कभी अलग नहीं होते? किन्तु जिनको साक्षात् करते हैं प्रतिदिन अलग होना प्रत्यक्ष सिद्ध है तो ईश्वर को साक्षात् जान के फिर जन्म लेना क्या असम्भव है?। इस से यह सिद्ध हुआ कि उपासना कर्त्ता जीव मुक्ति अवस्था में ईश्वर से मिलता नहीं किन्तु पृथक् बना रहता है और साक्षात् करके भी पीछे जन्म लेता है और समाधिद्वारा जीवन में भी जीव ईश्वर को साक्षात् करता है तब क्या एक हो जाता है। जब शरीर धारण अवस्था में भी साक्षात् करता है तो वहां पृथक् है फिर मुक्ति अवस्था में साक्षात् करने में क्यों कर मिल जावेगा। इसलिये जीव ईश्वर से सदा मिला और सदा पृथक् है।

(भारतधर्ममहामण्डल के उत्तर अंक ४ पृष्ठ ६१ से आगे)

(प्रश्न)–१२–स्मृतियां कितनी हैं और उन के नाम क्या २ हैं?।

उत्तर–स्मृतियां वीश २० हैं उन के नाम ये आगे लिखते हैं–

मन्वत्रिविष्णुहारीतयाज्ञवल्क्योशनोऽङ्गिराः।
यमापस्तम्बसंवर्त्ताः कात्यायनबृहस्पती ॥ १ ॥
पाराशरव्यासशङ्खलिखिता दक्षगौतमौ।
शातातपो वसिष्ठश्च धर्मशास्त्रप्रवर्त्तकाः ॥२॥ याज्ञवल्क्ये।

मनु, अत्रि, विष्णु, हारीत, याज्ञवल्क्य, उशना, अङ्गिराः, यम, आपस्तम्ब, संवर्त्त, कात्यायन, बृहस्पति, पराशर, व्यास, शंख, लिखित, दक्ष, गौतम, शातातप और वसिष्ठ ये धर्मशास्त्र अर्थात् स्मृतियों के प्रवर्त्तक अर्थात् चलाने वाले हैं। मनु आदि सब ऋषियों के नाम हैं उन के साथ स्मृति वा धर्मशास्त्र शब्द लगाने से पुस्तकों के नाम हो जाते हैं। यद्यपि धर्मशास्त्र वा स्मृतियों की इयत्ता करना ठीक नहीं बनता क्योंकि जो २ निष्पक्ष धर्म के प्रतिपादक वचन इतिहासादि में मिलें वे भी स्मृति (वेदार्थ स्मरण के यौगिक तात्पर्य को लेके) कहाती हैं इसी

लिये श्री शङ्कुरस्वामी जी आदि ने महाभारतादि के अनेक वचनों को स्मृति कहा है तथापि विशेष कर उपरि लिखित मनु आदि स्मृति हैं सामान्य प्रकार से अन्यों को भी स्मृतित्व रहा । ये सब स्मृतियां उन २ ऋषियों की ही बनाई हैं वा उन के नाम से किसी अन्य ने बना दी हैं इस विषय के आन्दोलन की आवश्यकता इसलिये नहीं प्रतीत होती कि यदि निश्चय कर लेवें कि उन्हीं २ ऋषियों की बनाई हैं तब भी यह विचार अवश्य करना पड़ेगा कि सर्वसम्मत सामान्य विशेष धर्म के लक्षणों से वा वेद के सिद्धान्त से विरुद्ध तो नहीं ? यदि विरुद्ध होंगी तो अवश्य ही उपेक्षा वृत्ति करनी पड़ेगी । और यदि ऋषियों के नाम से किसी अन्य की बनाई भी ठहर जावें और वेद से तथा सर्वसम्मत धर्म के लक्षणों से विरुद्ध न हों तो अवश्य अपेक्षा रखनी चाहिये तो वेदानुकूल और निष्पक्ष धर्म से युक्त होना ही मान्य होने का कारण रहा इस लिये उन के कर्त्ताओं का विचार करना निष्फल है ॥

इस में यह शङ्का उत्पन्न हो सकती है कि जो पुस्तक निष्पक्ष धर्म के लक्षणों वा वेद के सिद्धान्तों से विरुद्ध होंगे उन का नाम स्मृति वा धर्मशास्त्र क्यों कर होगा ? । तो यही उत्तर है कि जैसे लोक में किसी ने अन्धे का नाम नयनसुख रख लिया हो । यद्यपि उस को नेत्रों का कुछ सुख नहीं तथापि सब कोई उस को नयनसुख कहने लगते हैं वैसे ही कोई पुस्तक बना के उस का नाम स्मृति वा धर्मशास्त्र रख देवे तो उस प्रसिद्धि के अनुसार सभी उस को स्मृति कहने लगते हैं यह लौकिक व्यवहार है । सर्वसाधारण में रूढिपक्ष बलवान् रहता है पर विद्वानों में अर्थ विचारपूर्वक यौगिक पक्ष ही चलता है अर्थात् विद्वान् लोग ऐसी स्मृतियों को स्मृतिपदवाच्य नहीं मानते हैं तद्यथा मनुः—

या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः ।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥१॥

जो वेदविरुद्ध वा अधर्म का उपदेश देने वाली स्मृतियां हैं उन के अनुसार आचरण करने से जन्मान्तर में बुरा फल होता है इस लिये उन के अनुसार चलना ठीक नहीं । इस उक्त श्लोक से यह भी सिद्ध हो गया कि मनुस्मृति के बनते समय भी ऐसी कोई स्मृतियां बनगई थीं वा बन जाना सम्भव था इसी लिये उन को वेदबाह्य किया है ॥

(प्रश्न)-१३—उन (स्मृतियों) के बनने का समय और बनाने वालों के नाम बताओ ? ॥

उत्तर—यह सब को प्रकट है कि काल की महिमा से विदेशीय राज्य के होने और विद्या प्रचार के न्यून होने से आर्यों के अनेक विद्या ग्रन्थ नष्ट भ्रष्ट और लुप्त

प्राय हो गये । अब जो कुछ ग्रन्थ उपस्थित हैं उन में विक्रमीय संवत् से भिन्न पहिले संवत् का पता नहीं लगता और किसी पुस्तक में उन के बनने का समय लिखा भी नहीं कि यह पुस्तक अमुक संवत् के अमुक वर्ष में बना है तो वर्ष मास और दिन आदि का निश्चय हो सकना दुस्तर है पर स्मृतियों के बनने का समय निश्चय न होने से हम लोगों के कर्त्तव्याकर्त्तव्य में कुछ भी हानि नहीं है तथापि जिन२ ऋषियों के नाम से स्मृतियां प्रसिद्ध हैं उन २ के और जिस २ के आगे पीछे वा समक्ष में वे ऋषि लोग हुए हैं उन२ के इतिहासों की संगति लगाने से अनुमान कर के कुछ समय का निश्चय हो सकता है कि अमुक ऋषि अमुक द्वापर वा त्रेता में हुए तो अपने जीवन भर में ही ये पुस्तक बनाये यह सिद्ध है । और उन ऋषियो के (जिन्हों ने स्मृतियां बनाई हैं) नाम १२ प्रश्न के उत्तर में ऊपर आचुके हैं।

(प्रश्न)--१४-सब से पहिली और सब से पिछली स्मृति कौन है ? ।

उत्तर-सब से पहिली मनुस्मृति है सब से पिछली नियत करना यद्यपि कठिन है तथापि पराशर स्मृति समझी जाती है। कठिन इस लिये है कि पराशर के पुत्र व्यास और व्यास जी के शिष्य वैशम्पायन आदि और वैशम्पायन के शिष्य वा परशिष्यों में कात्यायन हैं इस विचार से कात्यायन स्मृति पिछली हो सकती है पर एक २ नाम के ऋषि आदि देहधारी अनेक होते आये हैं यह सिद्ध है । तो कदाचित् इस विचारानुसार कोई पराशर ही पीछे हुए हो तो पाराशरी स्मृति पीछे हो सकती है। जहां तक इन स्मृतियों की बनावट और विषय वर्णन पर दृष्टि दी जाती है तो यही निश्चय होता है कि ये स्मृतियां चाहें तो ऋषियों के नाम से किसी पण्डित ने बनाई हों वा उन २ नामों वाले ऋषियों की बनाई हों उभयथा एक मनुस्मृति को छोड़ के शेष सब इसी वर्त्तमान कलियुग में बनी हैं । यद्यपि स्मृतियां २० हैं तथापि-

सद्युगे मानवा धर्मास्त्रेतायां गौतमा मताः ।
द्वापरे शङ्खलिखिताः कलौ पाराशराः स्मृताः ॥

इस वचन के अनुसार चार युग के लिये चार ही स्मृतियां होनी चाहिये पर कोई यह समाधान दे सकता है कि इन्ही चार के साथ गौणभाव से सब लग जावेंगी तो भी यह समाधान निर्बल होता है क्योंकि मनुस्मृति आदि का प्रमाण आज कल किसी को न देना चाहिये इस लिये यह श्लोक विचारणीय पक्ष में रहना चाहिये ॥

(प्र०)-१५—यदि स्मृतियों में वस्तुतः विरोध होवे तो क्या कारण समझें और परस्पर विरोध आवे तो किस की आज्ञा मानें ? ॥

उ०—कहीं तो ऐसा भी हो सकता है कि वस्तुतः विरोध नहीं पर किसी प्रकार अभिप्राय न समझ के वा पूर्वापर ग्रन्थ की संगति न लगा सकने से विरोध

प्रतीत हो जावे ऐसे विरोध में तो विरोध समझने वाले का ही दोष होगा। और यदि सर्वथा परीक्षा करने पर भी विरोध प्रतीत हो तो एक कारण सम्मति-भेद हो सकता है इस में देश काल वस्तुभेद से अनेक प्रकार का परस्पर विरुद्ध कथन भी ठीक माना जा सकता है। जैसे एक औषधि एक मनुष्य को गुण करती और द्वितीय को पहिले की औषधि अवगुण करती और अन्य गुण करती है यह वस्तुभेद है और एक समय वा देश में एक वस्तु गुणकारी है वही भिन्न देश काल में अवगुणकारी तथा अन्य वस्तु गुणकारी हो जाता है। इसी प्रकार अनेक ऋषियों की अनेक अनेक सम्मतियें देश काल वस्तु भेद से गुण अवगुणकारी हो जाती हैं। यदि जिस समय उस सम्मति के अनुसार क्रिया करना उपयोगी नहीं है और कोई करे तथा उस का काम बिगड़े तो सम्मति दाता ऋषि का दोष नहीं होगा किन्तु देश काल वस्तुभेद का विचार न करने वाले का दोष है। जैसे एक रोग अनेक औषधियां वैद्यक शास्त्र में कहीं तो सब एक को उपयोगी नहीं होती कोई किसी को कोई किसी देश वा काल में उपयुक्त होती हैं ऐसे ही एक धर्मविषय में ऋषियों के अनेक भिन्न २ वचन भी किसी को किसी देश काल में यथायोग्य उपयोगी होते हैं। ऐसे वचन परस्पर विरुद्ध नहीं कहाते किन्तु सम्मतिभेद कहाता है। और विरोध मुख्य कर यह है कि जहां एक पूर्व को जाना कहे तो दूसरा पश्चिम को कहे। ऐसे विरोध का कारण सिद्धान्त भेद ही कहा जा सकता है क्योंकि "सत्सु सिद्धान्तभेदेषु वादजल्पवितण्डाः प्रवर्त्तन्ते।" सिद्धान्त के भेद से ही वाद आदि होते हैं यदि सब का सिद्धान्त एक ही हो तो किसी प्रकार का विरोध वा खण्डन मण्डन न चल सके। यदि परस्पर वस्तुतः विरोध आवे तो सब स्मृतियों में मनु की आज्ञा माननी चाहिये क्योंकि "यद्वै किंचन मनुरवदत्तद्भेषजं भेषजतायाः" यह सामवेद के छान्दोग्य उपनिषद् की श्रुति है कि जो कुछ धर्मशास्त्र वक्ता मनु जी ने कहा है वह औषधियों की भी औषधि हैं उस के अनुकूल आचरण करने से कोई दुःखरूप रोग नहीं रह सकता। तथा च बृहस्पतिस्मृतिः-

वेदार्थोपनिबन्धृत्वात्प्राधान्यं हि मनोः स्मृतम्।
मन्वर्थविपरीता या सा स्मृतिर्नैव शस्यते॥

वेद के अर्थ के अनुकूल होने से मनु जी की स्मृति सब से मुख्य है इसी लिये मनु के अभिप्राय से विरुद्ध जो पद्धति हैं उस की प्रशंसा नहीं हो सकती किन्तु त्याज्य हैं। यदि वेद और स्मृतियों में परस्पर विरोध आवे तो वहां स्मृतियां सब उपेक्षणीय हैं केवल वेद की आज्ञा माननी चाहिये और स्मृतियों के परस्पर विरोध में मनुस्मृति की आज्ञा माननी चाहिये अन्य की नहीं। इत्यलमत्युक्त्या॥

भवद्भिरनुकम्प्यो—भीमसेन शर्मा

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त !!

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥

भाग १ } फाल्गुन संवत् १९४४ { अङ्क ९

यत्र॑ ब्रह्मवि॒दो यान्ति॑ दी॒क्षया॒ तप॑सा स॒ह ।
ब्र॒ह्मा मा॒ तत्र॑ नयतु ब्र॒ह्मा ब्रह्म॑ दधातु मे ॥

(गत ८ अंक के पृ० ११८ से आगे महामोहविद्रावण का उत्तर)

न केवलम्महर्षिणा जैमिनिनैव ब्राह्मणानां वेदत्वमुच्यते परन्तु धर्माधर्म्मयोः "स्वर्गकामो यजेत" "न कलञ्जम्भक्षये" दित्यादिविधिनिषेधबलकल्पनीयतया आवश्यकन्तत्र विधिनिषेधवाक्ययोः प्रामाण्यम्, तत्प्रामाण्यञ्च वक्तुर्यथार्थवाक्यार्थज्ञान-लक्षणगुणपूर्वकमेव वक्तव्यम्। तार्किकैः स्वतः प्रामाण्यस्यानङ्गीकारात्। अतः प्रथमं वेदप्रामाण्यप्रयोजकगुणसाधनमुपक्रममाणः कणादाचार्य्यः प्राहस्म षष्ठाध्यायादावेव " बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे*" इति, अस्यायमर्थः वाक्यकृतिर्वाक्यरचना बुद्धिपूर्वा नाम वक्तृयथार्थवाक्यार्थज्ञानपूर्वा वाक्यरचनात्वात् काञ्च्यां त्रिभुवनतिलको भूपतिरित्यस्मदीयवाक्यरचनावत्। ततश्चेह वक्तृयथार्थवाक्यार्थज्ञानपूर्वकत्वरूपसाध्यसिद्धिः स्वान्यथानुपपत्त्या वक्तुर्यथार्थज्ञानमनुमापयति। न चास्मदादिज्ञानपूर्वकत्वेनाऽन्यथा सिद्धिः शङ्क्या "स्वर्गकामो यजेत" इत्यादाविष्टसाधनतायाः कार्य्यतायाश्चाऽस्मदादिबुद्धिगोचरत्वेन स्वतन्त्रपुरुषपूर्वकत्वस्य सिद्धेः। स चायं स्वतन्त्रो वेदपुरुष इति संहितासु भ्रमप्रमादादिदोषशून्यस्वतन्त्रपुरुषप्रणीतत्वसिद्धिः ॥

* वेदत्वञ्च शब्दतदुपजीविप्रमाणातिरिक्तप्रमाणजन्यप्रमित्यविषयार्थकत्वे सति शब्दजन्यवाक्यार्थज्ञानजन्यप्रमाणशब्दत्वम्।

महामोहविद्रावण की भाषा

केवल महर्षि जैमिनि ने ही ब्राह्मण पुस्तकों को वेद कहा हो सो नहीं किन्तु ब्राह्मणग्रन्थों में कहे धर्म अधर्म के विषय "स्वर्गकामो यजेत, न कलञ्जंभक्षयेत्" इत्यादि विधि निषेध की कल्पना से अवश्य ब्राह्मण पुस्तकस्य विधि निषेध वाक्यों का प्रमाण मानना चाहिये और वह प्रामाण्य इसी लिये मानना पड़ता है कि तत २ विधि निषेध वाक्यों के अर्थानुष्ठान से कल्याण अकल्याण यथावत् होता है क्योंकि नैयायिक लोग स्वतः प्रमाण किसी का नहीं मानते इसी से वेद के प्रमाण के साधक गुणों का आरम्भ करते हुए वैशेषिक शास्त्रकार कणादाचार्य्य जी ने षष्ठाध्याय में कहा है "बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे" इस का अभिप्राय यह है कि वेद की वाक्य रचना बुद्धिपूर्वक है अर्थात् ईश्वर का वाक्यार्थ ज्ञान यथावत् है उस ने पूर्वापर सब विचार के वाक्यरचना की है इसी से प्रामाणिक है। जैसे "काञ्चीपुर में तीन लोक का तिलकरूप राजा है" इत्यादि हमारी वाक्यरचना विचारपूर्वक होती है वैसे ही वेद की है। इस से ईश्वर का वाक्यार्थज्ञान यथावत् होनारूप पक्ष की जो सिद्धि है अपने से अन्यथा सिद्ध न होने से वह उस के अव्याहत यथार्थ त्रैकाल्याबाध्य ज्ञान का अनुमान कराती है। अस्मदादि के ज्ञान पूर्वक न होने से वेद अन्यथा नहीं हो सकता क्योंकि "स्वर्ग कामो यजेत" इत्यादि वाक्यों से कहा विषय हम लोगों की बुद्धि के प्रत्यक्ष न होने से स्वतन्त्र ईश्वर के प्रामाण्य से वेद सिद्ध है। सो यह वेद पुरुष स्वतन्त्र है इस प्रकार भ्रम प्रमादादि दोषरहित स्वतन्त्र ईश्वरनिर्मित वेद हैं यह सिद्ध हुआ ॥

अत्र पूर्वं देवगिरैवोच्यते—विधिनिषेधपराणि धर्माधर्मप्रतिपादकानि ब्राह्मणपुस्तकस्थवाक्यान्यस्मदादिभिरास्तिकैरप्यविकलतया मन्यन्त एव। यथाऽन्यधर्मशास्त्रीयं वचनं वेदमूलकतया प्रमाणीक्रियते। तद्विरोधेन चानपेक्षा क्रियते ततोऽप्यधिकतरं ब्राह्मणपुस्तकेषु निरूपितं धर्माधर्मप्रतिपादकं विधिनिषेधपरमग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम इत्यादिवाक्यमस्माभिर्मन्यत एव। यदि प्रमाणीभूतत्वाद्ब्राह्मणग्रन्थप्रतिपादितं वाक्यं वेद इति तर्हि प्रमाणीभूतसाधर्म्याद्धर्मशास्त्राणामपि वेदत्वं प्राप्नोति। एवं च यद्यत्प्रमाणं स स वेद इत्यतिव्याप्तिरायाति। यदि ब्राह्मणग्रन्थवन्मूलमन्त्राणामपि प्रमाणीभूतत्वादवेदत्वं प्राप्नोतीत्युच्यते तन्न ब्राह्मणग्रन्थस्थवाक्यानां मूलमन्त्राधीनत्वात्। दृश्यन्ते च ब्राह्मण-

वाक्यानि मन्त्राधीनानि तद्यथा "अस्मिन् हव्या जुहोतन" इत्यादि मन्त्रविहितस्यैव विषयस्य फलवादेन ब्राह्मणग्रन्थे "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" इत्यनुवादः सद्भिः स्वीक्रियते न च ब्राह्मणवाक्यानां मन्त्रवाक्येष्वनुवादो दृश्यते ब्राह्मणानि मन्त्रभागमाश्रयन्तीति प्रत्यक्षतयैव दृश्यते यथा "इषेत्वेति, इडित्यन्नम् ऊर्ग्वैरसः इत्यादि। यदि चाग्निहोत्रादिकर्मणः परोक्षं फलं स्वर्गादिरूपं ब्राह्मणे प्रतिपादितमतएव परोक्षे भाव्यर्थस्य प्रतिपादनाद्ब्राह्मणानां वेदत्वमस्तीति मन्यसे तन्न एवं च साम्प्रतिकशरीरानुष्ठेयकर्म्मणामनागतजन्मनि फलं भविष्यतीति बहुशो धर्मशास्त्रेषु प्रतिपादितम्। यथा "सुवर्णचौरः कौनख्यं सुरापः श्यावदन्तताम्" इत्यादि तर्हि तथाविधानां धर्मशास्त्रीयवचनानामपि वेदत्वं प्राप्नोति। अत इदं सिद्धं परोक्षार्थप्रतिपादकत्वेपि ब्राह्मणग्रन्थानां वेदत्वं नास्ति किन्तु सर्वथा स्वाधीनप्रामाण्यादेव वेदत्वं भवति तच्च मुख्यतया मन्त्रभागस्यैव मूलवेदत्वमङ्गीक्रियते। ब्राह्मणानि च मन्त्रभागाधीनानि व्याख्यानस्य मूलाश्रयत्वान्मूलाविरोधेन च प्रामाण्यमिति शम् ॥

भाषार्थ–इस लेख से महामोहविद्रावणकर्त्ता का अभिप्राय यह है कि "अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः" इत्यादि ब्राह्मणग्रन्थ के वाक्य श्रुति करके प्रसिद्ध हैं और उन श्रुतिवाक्यों को सभी आस्तिक लोग निर्भ्रम प्रमाण मानते हैं। और वह प्रमाण इसी लिये माना जाता है कि जिस को अच्छा कहा है उस से सुख और जिस को बुरा कहा है उस से दुःख होना युक्ति से भी सिद्ध है ॥

इस पर हम लोग यह कहते हैं कि "अग्निहोत्रं०" इत्यादि विधि निषेध करने अर्थात् धर्म अधर्म को बताने वाले ब्राह्मणवाक्य हम लोगो को भी माननीय हैं परन्तु प्रामाणिक होने मात्र से यदि वेद हैं तो मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्र के वचन भी प्रामाणिक कक्षा में हैं ही इसलिये वे भी वेद हो जावें ?। ऐसे ही अन्य भी जो २ पुस्तक प्रमाण पक्ष में आवे वह भी वेद हो जावे ?। तो अतिव्याप्ति दोष आता है। यदि कहो कि प्रमाण पक्ष में आने से भी जब ब्रा-

ह्मणग्रन्थ वेद नहीं वैसे प्रमाण साधर्म्य से मन्त्रभाग भी वेद न हो तो उत्तर यह है कि वेदत्व के न होने में प्रामाणिक होने को हम लोग प्रयोजक नहीं मानते किन्तु यह कहते हैं कि प्रामाणिक होने मात्र से वेद नहीं हो सकते किन्तु स्वाधीन प्रमाण होने से वेद हो सकते हैं ब्राह्मणग्रन्थ मन्त्रभाग के आधीन हैं और ब्राह्मणग्रन्थों के आधीन मन्त्रभाग नहीं। ब्राह्मणभागों में जो वर्णन है वह मन्त्रभागपर है किन्तु मन्त्रभागस्थ वर्णन ब्राह्मणभागपर नहीं है। ब्राह्मणभाग मन्त्रभाग का आश्रय रखता है यह "इषेत्वेति छिनत्ति" इत्यादि से प्रसिद्ध ही है। यदि कहो कि अग्निहोत्रादि कर्म का स्वर्गादिरूप जन्मान्तर में भोग्य परोक्षफल ब्राह्मणग्रन्थों में कहा है इस से ब्राह्मणग्रन्थ वेद हैं तो उत्तर यह है कि यदि ऐसा मानो तो वर्त्तमान शरीर से करने योग्य कर्मों का फल आगामी जन्म में होगा इस प्रकार बहुत व्याख्यान मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रों में कहा है जैसे सुवर्ण चुराने वाले के नख बिगड़ते और मद्य पीने वाले के दांत स्वाभाविक काले होते हैं इत्यादि। तो इस प्रकार के धर्मशास्त्रों के वाक्य भी वेद हो जावें ?। इस से यह सिद्ध हुआ कि ब्राह्मणग्रन्थ परोक्षार्थ विषय के प्रतिपादक हैं भी पर मन्त्रभाग के आधीन होने से मूल वेद नहीं हो सकते। वेद वही हो सकता है जो सर्वथा स्वाधीन हो सो यह मन्त्रभाग में ही संघटित है इस से मन्त्रभाग ही मुख्यकर मूलवेद और ब्राह्मणग्रन्थ व्याख्यान होने से मूल मन्त्रभाग की अनुकूलता से प्रमाणभूत हैं ॥ क्रमशः ॥

अंक ८ के पृष्ठ १२१ से आगे पं० नरसिंह शर्मा मंगलपुर निवासोक्त प्रश्नों के उत्तर

वेद में सबविद्या अंकुरवत् हैं तो उस में इसी विषय की बार बार पुनरुक्ति न होना चाहिये। अब पुरुषसूक्त इत्यादि अनेक मन्त्र ऋग्वेद और यजुर्वेद में भी है और अनेक मन्त्र चारो वेदों में भी हैं यह क्या निष्प्रयोजन और पिष्टपेषण नहीं है. ? एतद्भिन्ना ईश्वर की सब सृष्टि में नियम और क्रम पाया जाता है परन्तु वेद में क्रम नहीं है जैसे राजप्रजा धर्म के मन्त्र एक ही जगह में नहीं लिखे गये हैं वैसे ही वैद्यक विषय के मन्त्र एक ही जगह में नही लिखे गये हैं. एक मन्त्र उपासना का एक मन्त्र राजप्रजा धर्म का और एक मन्त्र पदार्थविद्या का ऐसा वेदों में कुछ क्रम नहीं दीख पड़ता इस से क्या भान होता है कि वेद मनुष्यकृत हैं और वे मनुष्यों को जैसा एक एक विषय का अनुभव होगया उस उस को लिख डाले. जैसे कि निम्नलिखित मन्त्रों से मालूम हो जाता है. ऋग्वेद मण्डल १ सूक्त ६१ मन्त्र १६ और मण्डल २ सूक्त ३६ मन्त्र आठ. इत्यादि.

उत्तर—यह बात ठीक है और सब आर्य्य लोग पहिले से ही मानते आये हैं कि वेद में सब विद्या अङ्कुरवत् हैं । और यह भी सिद्ध है कि कितने ही मन्त्र वा सूक्त कुछ २ भेद से दूसरी संहिताओं में वा उसी संहिता में बार २ आये हैं परन्तु इस को पुनरुक्त दोष नहीं कह सकते किन्तु अनुवाद कह सकते हैं और अनुवाद एक दो आदि बार प्रयोजन के अनुसार किया जाता है । अनुवाद उस को कहते हैं कि कहे हुए विषय को किसी प्रयोजन के लिये ज्यों का त्यों वा कुछ न्यूनाधिक करके पुनर्वार कहना जैसे किसी ने अपनी ओर से पूर्व पक्ष किया तो उत्तर देने वाले ने प्रश्न वाले के पक्ष को कहा कि आप का यह पक्ष है अर्थात् मैं ने जो समझा है सो ठीक है वा नहीं इस लिये तथा अन्य लोगों को समझा देने के लिये एक विषय को एक दो आदि बार कहते हैं । वह बार २ कहना निरर्थक नहीं समझा जाता । और कोई २ वाक्य वा श्लोकादि ऐसे भी होते हैं कि अन्य अनेक वाक्यो के साथ उन का संबन्ध होता है और बार २ बोलने वा लिखने से और भी अच्छे लगते हैं किन्तु वे २ वाक्यादि न लगाये जावें तो वह विषय अधूरा रह जावे । इस को लोक रीति पर काव्यश स्त्र में समस्या भी कहते हैं कि जो प्रत्येक श्लोक के अन्त में बराबर ज्यों का त्यो आता है जैसे भागवत में "प्रसीदतां नः स महाविभूतिः" इत्यादि पाठ है । वाक्यों में पदों का अनुवाद होता है जैसे "देवदत्तो गुरु सेवते । यज्ञदत्तोऽपि तथैव सेवते" यहां सेवते क्रिया का अनुवाद हुआ ऐसे बार २ हो सकता है । ऐसे ही वाक्यों श्लोकों और प्रकरणों का भी यथासाध्य अनुवाद होता है इस अनुवाद को पुनरुक्त नही कह सकते । जैसे एक वस्तु से लोक में बहुत काम निकलते हैं तो उन सब कामो के साथ उस वस्तु का अवश्य नाम लेना पड़ेगा इसी प्रकार वेद में भी जो २ मन्त्र वाक्य वा सूक्तादि प्रकरण बार २ आते हैं उन के अनुवाद की आवश्यकता उस २ प्रकरण मन्त्र वा वाक्य आगे के अवश्य है जिस २ के आगे वह पढ़ा है ।

यदि कहो कि लौकिक विचार के अनुसार वेद रहा तो लोक वेद में भेद क्या होगा ? । तो उत्तर यह है कि वेद के सनातन होने से यह क्रम भी लोक में वेद से ही आया है लोक का दृष्टान्त इस लिये दिया जाता है कि लौकिक दृष्टान्त को बहुधा लोग समझते है प्रसिद्ध का ही दृष्टान्त हो सकता है "बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे" इस कणाद ऋषि के सूत्र से वेद की रचना बुद्धिपूर्वक अर्थात् शब्दार्थ संबन्ध के विचार पूर्वक है तो ऐसी ही वाक्य रचना लोक में भी होती है इस प्रकार लोक वेद से बहुत साधर्म्य मिलता है तथापि वेद में नित्य पदार्थों का वर्णन और लोक में नित्यानित्य दोनों का वर्णन होता है । यही बड़ा भेद लोक वेद में है । जैसे पुरुषसूक्त कई वेदों में है तो जिन २ प्रकरणों के साथ उन २ वेदों में है उन २ सब के साथ सम्बन्ध रखता है ।

इस से यह सिद्ध हुआ कि मंत्रादि का वार २ पाठ आना निष्प्रोजन वा पिष्टपेषणवत् नहीं हो सकता अब नियम और क्रम के ऊपर विचार करें तो नियम और क्रम का समझना ही कठिन है । जैसे ईश्वर की सब सृष्टि के नियम और क्रमों को सब लोग नहीं समझते किन्तु जो समझते हैं वे ही समझते हैं । वैसे वेद के नियम क्रम को भी सब नहीं जान सकते । आप अन्य सृष्टि के नियम क्रमों को समझते हों तो यह बताइये कि वृक्षां की जड़ नीचे और शाखा आदि ऊपर को ईश्वर ने बनाई है और मनुष्य के शरीर का जड़रूप शिर ऊपर और बाहु तथा गोड़े रूप शाखा नीचे को रचा हैं इस में मनुष्य की अपेक्षा वृक्ष और वृक्ष की अपेक्षा मनुष्य शरीर उलटा है । मनुष्य मुख से जल पीता है और वृक्ष अपने पगों से जल पीते हैं इस से पादप कहाते हैं । यहां एक प्रकार का नियम क्रम क्यों नहीं रक्खा ? मेरा प्रयोजन यह नहीं है कि ईश्वर की अन्य सृष्टि में भी नियम वा क्रम नहीं किन्तु उस का समझना कठिन है । आप कहते हैं कि राजप्रजा धर्म के सब मंत्र एक ही स्थल में क्यों न लिख दिये ? तथा वैद्यकविषय के अनेक मन्त्र हैं वे बीच २ कहीं २ लिखे हैं । ऐसी शङ्का करने वाले यह भी कह सकते हैं कि जो २ पदार्थ एक ही प्रकार के हैं वे एक ही स्थल में रहें तो हम पूछते हैं कि एक गोजाति है वह एक ही स्थल में जहां तक आ सके रहे पीछे महिषी आदि रहें अर्थात् एक द्वीप भर में जितनी गौ हैं वे सब एक ही स्थल में क्यों नहीं रक्खी जावें ? ऐसा क्यों नहीं किया जाता ? तो कदाचित् यही उत्तर दोगे कि सब स्थलों में बीच २ गौ तथा आगे पीछे अन्य के रहने से जो २ काम उन २ गौ आदि से उन २ पृथक् २ स्थलों में निकलते हैं वे एक स्थल में नहीं निकल सकते और यह हो सकना भी कठिन है कि वे सब एक ही स्थल में आ जावें तो इसी के समान वेद में भी उत्तर समझ लीजिये । राजप्रजा धर्ममात्र कहा जावे तो एक ही के कहने में सब विषय आ सकता है औषधि करना यह भी राजा प्रजा का धर्म है अर्थात् मनुष्यमात्र का कर्त्तव्य राजप्रजा धर्म करके लिया जा सकता है । सामान्य विशेष आदि रीति से सब विद्याओं का उपदेश वेद में है जैसे विसूचिका रोग के ऊपर औषधि कही तो उस से बचने के उपायों में जितनी २ बातें उस से संबन्ध रखतीं हैं सब का उपदेश किया पीछे अन्य रोग की औषधि कही तो यह अप्रकरण की बात नहीं है । तथा व्याकरण में आज कल के सिद्धान्तकौमुदी पाठी वैयाकरण यह समझते हैं कि अष्टाध्यायी में प्रकरण नहीं बंधे हैं किन्तु भट्टोजि-दीक्षित ने प्रकरण बांधे हैं यह केवल भूल है क्योंकि अष्टाध्यायी में जो प्रकरण पाणिनि ने बांधे हैं वैसे कोई बांध ही नहीं सकता जैसे संज्ञाप्रकरण, प्रत्ययवि-धिप्रकरण, प्रत्ययादेश, प्रकृत्यादेश, दीर्घादेश, ह्रस्वादेश प्रकरण, इत्यादि प्रकरण

बंधे हैं इस में भट्टोजिदीक्षित ने समास सम्बन्धी प्रत्यय विधि को समास में तिङन्त आदि सम्बन्धी को तिङन्त आदि में लिखा है इस प्रकार एक२ प्रकरण सम्बन्धी सूत्रों को अनेक स्थलो में कर दिया है। जो कोई अपनी बुद्धि पर अधिक बल देगा उस को निश्चय हो जायगा कि महर्षि पाणिनि ने बहुत अच्छे प्रकरण बांधे हैं। इसी प्रकार वेद में भी सब बातें प्रकरणबद्ध हैं केवल समझने वालों का भेद है। यदि आप को वेद में कुछ क्रम नहीं दीख पड़ता इस से वेद मनुष्यकृत हैं ऐसी शङ्का हुई तो जिन मनुष्यकृत पुस्तकों में यथावत् क्रम दीख पड़े वे ईश्वरकृत हैं ऐसी भी शङ्का होगी ? कुछ क्रम न होने से वेद मनुष्यकृत हुए तो मनुष्यकृत पुस्तकों में भी क्रम न होना चाहिये क्योंकि आप का अभिप्राय यह निकला कि मनुष्यकृत में प्रकरणादि ठीक २ नहीं होते ये दोष आप के पक्ष में आवेंगे और जिस मन्त्र का आप ने पता लिखा है उस में मण्डल १ सूक्त ६१ मन्त्र १६ तो यह है कि (एवा ते हारियोजना सुवृक्तीन्द्र०) और मण्डल २ सूक्त ३६ मन्त्र ८ का पता लिखना ठीक नहीं है क्योंकि मं० २ के सूक्त ३६ में केवल ६ मन्त्र हैं तो आठ का पता लिखना भूल है। इन मन्त्रों के पते लिखने से अभिप्राय न मालूम हुआ कि पुनरुक्त दोष दिखाया वा इन मन्त्रों की रचना मनुष्यकृत ज्ञात होती है क्या बात है ? कुछ भी हो वेद का ईश्वर निःश्वसित होना युक्ति और प्रमाण दोनों से सिद्ध है सो शंकाओं का निराकरण हो जाने से स्वयमेव सिद्ध है ॥ क्रमशः

(अं०८ के पृष्ट १२५से आगे महाराजा वेंकटगिरि के उत्तर)

८—अपना गुणकर्म को शुद्ध करके ईश्वरस्तुति करे तो प्रयोजन है. ऐसी शुद्धि नहीं करके स्तोत्र करे तो प्रयोजन नहीं ऐसा स्वामी लिखते हैं. इस पर मेराप्रश्न है कि, अपना गुणकर्मों की शुद्धि करने को, किसी मनुष्य को भी साध्य नहीं होगा, तो प्रार्थना करने की क्या जरूर है ? ।

उत्तर ८—यद्यपि इस प्रश्न का उत्तर विशेष कर आ चुका है तथापि पुनः दिया जाता है। अपने गुणकर्म को सुधारना और ईश्वर की स्तुति प्रार्थना करना दोनों ही मनुष्य को करना चाहिये क्योंकि यदि कदाचित् अपने गुणकर्म न सुधारे अर्थात् दुराचरण करता रहे और ईश्वर की प्रार्थनामात्र से अच्छे फलों को प्राप्त हो जावे तो जो कोई अपने आचरण सुधार के ईश्वर की स्तुति करे उस को भी वही फल मिले तो शुभाचरण कर्त्ता का परिश्रम व्यर्थ गया। प्रथम तो यही सिद्ध हो सकना कठिन होगा कि दुराचरण छूटे विना कोई शुभ फल को प्राप्त हो सके ? । यदि कहो कि शुभाचरण नहीं कर सकता और ईश्वर की भक्ति करता है तो उस को क्या शुभ फल न प्राप्त होगा ? । तो उत्तर यह है कि

अधर्मी मनुष्य ईश्वरभक्त कभी नहीं हो सकता। भक्ति एक चित्त का धर्म है चित्त की शुद्धि होना ही धर्मात्मा का लक्षण और उस की मलिनता अधर्मी का लक्षण है और चित्त की शुद्धि और मलिनता संस्कारों के आधीन है जैसे संस्कार होते हैं वैसा ही चित्त रहता है और संस्कार पदार्थों के सम्बन्ध से होते हैं इसी को सांसर्गिक गुण दोष कहते हैं अर्थात् इन्द्रियों द्वारा जैसे विषय के साथ चित्त का संबन्ध होता है वैसे ही संस्कार होते हैं। यह बात लोक में प्रसिद्ध है कि जो अच्छे महात्मा पुरुषों का थोड़ा भी संग करे उस का चित्त और संस्कार शुद्ध होते हैं तो अनन्त तेजोमय ज्ञानस्वरूप सर्वनियन्ता जगदीश्वर की ओर जिस का चित्त झुके गा फिर भी क्या उस में अशुद्धि रह सकती है?। सभी पदार्थों में संग से गुण दोष लगते हैं यह सर्वतन्त्रसिद्धान्त की वार्त्ता है जैसे कवि ने कहा है—

संतप्तायसि संस्थितस्य पयसो नामापि न ज्ञायते,
मुक्ताकारतया तदेव नलिनीपत्रस्थितं राजते।
स्वात्यां सागरशुक्तिमध्यपतितं तन्मौक्तिकं जायते,
प्रायेणाधममध्यमोत्तमगुणः संसर्गतो जायते॥ भर्तृहरिः।

अच्छे प्रकार तचे हुए लोहे पर गिरे जल का नाम निशान भी नहीं रहता वही जल कमल के पत्ते में पड़ने से मोती के तुल्य शोभित होता है। तथा वही जल स्वाति नक्षत्र* में वर्षा द्वारा समुद्र की सीपी में पड़ने से सच्चा मोती बन जाता है इस प्रकार उत्तम, मध्यम और अधम गुण सब पदार्थों में प्रायः संग से ही होते हैं। इसी प्रकार जब ईश्वर नित्य शुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव है तो उस के संग करने वाले में वैसे गुण आना न्याय से सिद्ध है। यदि कोई कहे कि जिस पदार्थ को चाहता है उस की प्राप्ति के लिये ईश्वर की स्तुति प्रार्थना ही किया करे अन्य उपाय न करे तो यह सम्भव नहीं कि जिस पदार्थ को मनुष्य चित्त से चाहे उस के लिये उपाय न करे। चित्त से चाहने से तात्पर्य यह है कि जिस विषय के उपार्जन में मनुष्य लगा होता है उस में अधिक प्रीति होने से उस को दिन रात नहीं भूलता। जिस विषय का दिन रात विचार रहेगा उसी के प्राप्त होने के लिये स्वयमेव वैसे उपाय करेगा क्योंकि बाह्यकर्म चित्त के विचारानुसार होते हैं सो इसी से सिद्ध है कि जब मनुष्य का चित्त किसी अन्य विषय में

* स्वाति नक्षत्र ज्योतिःशास्त्र के अनुसार वर्षा ऋतु की समाप्ति में आता है उस समय वर्षा जल के अत्यन्त निर्मल होजाने से सीपी और सामयिक वर्षा जल के संयोग से मोती का उत्पन्न होना सम्भव है यह समय और पदार्थों के संयोग का प्रभाव है अर्थात् पदार्थविद्या है॥

लगा होता है तब नेत्रादि इन्द्रियों के होते समय जागने में भी कुछ नहीं देखता सुनता और जब कुछ देखता सुनता है तब जैसा विचार भीतर से होता है वैसा ही देखता सुनता है । "यादृशी भावना यस्य बुद्धिर्भवति तादृशी । तथा अन्यत्र उपनिषद् में भी कहा है कि:-

यन्मनसा मनुते तद्वाचा वदति यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति यत्कर्मणा करोति तदभिसंपद्यते ।

जो मन से विचारता वही वाणी से कहता जो वाणी से कहता वैसा कर्म करता और जैसा कर्म करता है वैसा ही मनुष्य को फल होता है इस से यह सिद्ध हुआ कि जिस पदार्थ को मन से चाहे गा उसी को स्तुति प्रार्थना द्वारा कहे गा और उस के लिये शरीर से भी अवश्य उपाय करेगा और गुणकर्म का शुद्ध होना ही उस काम का सफल होना है क्योंकि सब सुखों का मूल चित्त की शुद्धि और प्रसन्नता है और सुख का प्राप्त होना ही सब शुभकर्मों का मुख्य फल है इस से यह सिद्ध हुआ कि जो जिस पदार्थ के लिये स्तुति प्रार्थना करे गा उस के लिये उपाय भी अवश्य करे गा यदि चित्त से न चाहे और ऊपर से नाममात्र स्तुति प्रार्थना करे गा तो फल प्राप्त [illegible] ा दुस्तर है । इसलिये गुण कर्मों का सुधार और स्तुति प्रार्थना दोनों हो[illegible] चाहिये ॥

९ सगुण निर्गुण प्रार्थना का विवरण कर[illegible] स्वामी लिखते हैं कि, हे भगवन् हम को मृत्युरूपी रोग से अलग करके, मोक्षरूपी अमृत को दिया करो इस पर मेरा कहना है कि, मृत्यु से छूट जाना यहि मोक्ष शब्द का अर्थ है. ऐसी मोक्ष प्राप्ति हुई पीछे उस का परिमित काल तक आनन्द पा के फिर जन्म ले के मृत्यु प्राप्ति उस को होती है, यह बात क्या संभवित है ? ।

९ उत्तर-स्वामी जी महाराज ने महाकल्प के पश्चात् मुक्ति से पुनरागमन माना अन्य लोग बहुधा पुनरावृत्ति नहीं मानते हैं जैसे व्यास जी का सूत्र है "अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्" न च पुनरावर्त्तते न च पुनरावर्त्तते" यह छान्दोग्य का वचन मिलता है इसी प्रकार अनेक वचन हैं। मुक्ति से पुनरावृत्ति न मानने वालों का तो कहना आप के ही सदृश है कि जब बन्धनरूप जन्म मरण से छूटनारूप मुक्ति हो जावे गी तब उस के संसार में फिर आने के लिये क्या हेतु है ? इत्यादि । इस विषय में स्वामी जी महाराज का पक्ष यह है कि कोई पदार्थ अनादि सान्त नहीं हो सकता पुनरावृत्ति न मानने वाले जन्म मरण को अनादि सान्त मानते हैं जैसे कि इस जीव का जन्म मरण अनादिकाल से चला आता है पर मुक्ति होने पश्चात् न रहे गा । इस में स्वामी जी का पक्ष है कि जब अनादि है तो सान्त नहीं हो सकता जो अनादि है वह अनन्त

मानना चाहिये क्योंकि जो पदार्थ अन्त वाले हैं वे सब सादि अर्थात् कर्मो से आरम्भ हुए हैं इस लिये ऐसा कोई दृष्टान्त नहीं मिल सकता कि जो अनादि नित्य है वह अन्त वाला नाशवान् हो जावे। यदि जन्म मरण प्रबन्ध को सादि मानो तो पहिला जन्म कर्मों के न होने से किस कारण हुआ ? क्योंकि बिना कारण के कोई कार्य्य होता नहीं। यदि कहो कि मुक्तिदशा में जीव ईश्वर में मिल जाता है तो उसी से निकलना भी स्वयमेव सिद्ध हो गया अर्थात् जो जिस में मिलेगा वह उस का सजातीय होगा और जो पदार्थ जिस में मिला तो उस में उस से पृथक् होने की शक्ति अवश्य है क्योंकि उस से पृथक् नहीं हो तो मिलना कैसे कह सकें ? जो पृथक् २ पदार्थ हैं उन्हीं का मिलना कह सकते हैं और उन का जल के तुल्य सजातीय सम्बन्ध भी मानना पड़ेगा कि जैसे दो स्थलों का जल इकट्ठा हो गया यही कहना बन सकता है और यह नहीं बन सकता कि जल और लकड़ी एक हो गई। इस प्रकार यदि जीव ईश्वर का चेतन सजातीय सम्बन्ध मानें तो एक अंशांशिभाव का बड़ा झगड़ा पड़ता है जब ईश्वर को अखण्डैकरस सर्वगत मानते हैं तो उस में मिल जाना वा पृथक् हो जाना कैसा कह सकते हैं ?। क्या आकाश जो विभु पदार्थ है वह भी किसी से मिल सकता वा पृथक् हो सकता है ?। जब मिलना वा पृथक् होना जीव का ईश्वर के साथ नहीं बन सकता तो जीव एक स्वतन्त्र पदार्थ है जो अपने कर्मों के अनुसार संसार में भ्रमता है। और यह भी मानना पड़ता है कि जीव कभी नया नहीं बनता किन्तु अनादि है सो यदि मुक्ति से पुनरावृत्ति न हो तो कल्प कल्पान्त सृष्टि में से बीच २ मुक्ति होती जावेगी और नवीन उत्पत्ति होगी नहीं तो कभी न कभी सब जीवों की मुक्ति हो जाना सम्भव है फिर जीवों के बिना संसार की उत्पत्ति भी न हो सकेगी। वेदान्तिलोग कार्य्यकारणरूप जगत् को माया कहते हैं. उस का स्वरूप ऐसा वर्णन करते हैं कि:-

नासद्रूपा न सद्रूपा माया नैवोभयात्मिका।
सदसद्भ्यामनिर्वाच्या मिथ्याभूता सनातनी ॥

माया को न तो यह कह सकें कि यह कोई वस्तु है न वस्तु का निषेध कर सकें तथा न सत् असत् दोनों रूप कह सकें किन्तु सत् असत् से विलक्षण मिथ्या स्वरूप और सनातन है। इस में परस्पर बहुत विरोध आता है। संसार में सत् असत् से भिन्न तृतीय पदार्थ कोई है ही नहीं तो माया क्या वस्तु है?। यदि मिथ्या कहें तो सनातन कहना नहीं बन सकता क्योंकि जो वस्तुतः मिथ्या है

वह सनातन क्या होगा ? । पहिले तो असत् का भी निषेध किया पर मिथ्या कहने से भी असत् आगया तो असत् का निषेध करना व्यर्थ हुआ यदि सनातन कहा तो सत् हो गई इत्यादि परस्पर विरोध है । तात्पर्य्य यह है कि संसाररूप माया को मिथ्या सनातन मानते हैं सो सब जीवों के मुक्त हो जाने से सनातनत्व न रहेगा । और जीव को मुक्ति से पुनरावृत्ति मानने में उक्त दोष नहीं आता इस लिये स्वामी जी महाराज ने पुनरावृत्ति मानी है । जो पदार्थ पहिले जिस दशा में रहा है उस को वही दशा फिर होना न्याय से सिद्ध है क्योंकि जब मुक्ति होने से पहिले बद्ध रहा तो बद्ध दशा में मुक्ति का अभाव मानना अवश्य है यदि बद्ध दशा में मुक्ति का अभाव न मानो गे तो बद्ध दशा में भी मुक्ति होने से बद्ध दशा के अभाव से मुक्त दशा भी न रहे गी । क्योंकि दोनों सापेक्ष सिद्ध हैं । जब बद्ध दशा में मुक्ति नहीं है तभी मुक्ति होना कह सकते हैं यदि पहिले भी है तो फिर होना क्या ? । इस से बद्ध दशा में जब मुक्ति का अभाव हुआ तो मुक्ति नित्य न रही । तो उस की साथी बद्ध दशा भी नित्य नहीं हो सकती तो बद्ध से मुक्त और मुक्त से बद्ध, सुख के पश्चात् दुःख दुःख के पश्चात् सुख होता ही रहता है । जो पदार्थ पहिले जिस दशा में रहे गा वह अवस्थान्तर में जा कर भी फिर उसी अवस्था में आ सकता है यह न्याय से सिद्ध है इस न्यायानुसार जन्म मरण से छूट के फिर जन्म मरण में आना असम्भव नहीं है । क्योंकि जो पदार्थ एकरस है उसी की अवस्था एकरस रहती है अन्य की नहीं जब मनुष्य की बद्ध दशा बदल के मुक्त दशा हुई तो अवस्यान्तर हो गया फिर एकरस न रहा इस पर वेदान्ति लोग कहते हैं कि:—

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥

उक्त दोष की निवृत्ति के लिये कि यदि बद्ध मानें गे तो बद्ध से मुक्त हो कर फिर बद्ध होगा । इस लिये बद्ध, मुक्त, आदि भी सब मिथ्या हैं । सो यदि सब मिथ्या कहने के साथ सब करके "बद्ध मुक्त मिथ्या कहना" रूप वाक्य भी मिथ्या हो जावे तो बद्ध मोक्ष दोनों सत्य हैं । यदि वाक्य सत्य है तो सब मिथ्या न हुआ ।

यह विषय अनेक शाखाओं वाला है यदि इस पर व्याख्या बढ़ाई जावे तो बहुत कुछ बढ़ सकती है पर अब विराम करता हूं ॥

(१२८ पृ० से आगे भारतधर्ममहामण्डल के उत्तर)

प्रश्न-(१६) अठारह पुराण, उन के कर्त्ताओं के नाम और बनने का समय बताओ?

उत्तर—अठारह पुराण करके जो आज कल प्रसिद्ध हैं उन के नाम ये हैं ब्रह्मवैवर्तपुराण, विष्णुपुराण, शिवपुराण, पद्मपुराण, स्कन्दपुराण, लिङ्गपुराण, अग्निपुराण, वायुपुराण, आदित्यपुराण, मार्कण्डेयपुराण, गरुड़पुराण, वाराहपुराण, भागवत, मत्स्यपुराण, नृसिंहपुराण, कूर्मपुराण, भविष्यपुराण, कल्किपुराण, ये अठारह पुराण कहाते हैं इन के बनाने वाले व्यासजी को लोग बोलते हैं और उस में यह प्रमाण कहते हैं कि "अष्टादशपुराणानां कर्त्ता सत्यवती सुतः" इस वचन के अनुसार व्यासजी कर्त्ता हो सकते हैं पर इन पुस्तकों में मतमतान्तर सम्बन्धी विषय परस्पर विरुद्ध हैं इस से व्यासदेव के बनाये कहने में संकोच पड़ता है क्योंकि व्यास जैसे विद्वान् महर्षि कैसे विरुद्ध लिखेंगे ? तथा व्यासदेव के बनाये मानें तो व्यासजी से पहिले पुराण नहीं रह सकते और पुराणों की साक्षी पहिले से मिल सकती है जैसे-पुराणमधीते पौराणिकः। इस लिये वस्तुतः ये पुराण ही नहीं हैं और न व्यास जी के बनाये हैं किन्तु मतवादियों के बनाये हैं। इस विषय पर महामोहविद्रावण के उत्तर में बहुत लिखा गया है। ये उक्त पुराण सब चार पांच हजार वर्ष के अन्तर में बने हैं संवत् निश्चय होना दुस्तर है॥

भवदीय भीमसेन शर्मा-सम्पादक-आर्यसिद्धान्त

(१७३ पृष्ठ से आगे आर्यसमाजीयरहस्य के उत्तर विषय में)

विज्ञजनो ! देखिये जब श्रीस्वामी जी महाराज ने "अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति" यह श्लोक मनुजी का प्रमाण विषय में तथा ईश्वर के ध्यान में आलस्य न आवे यह उपपत्ति अर्थात् उसी को युक्ति से भी पुष्ट किया है यह वार्त्ता पठितन्याय शास्त्र (नैयायिकवर) विद्वान् अच्छे प्रकार जान सक्ते हैं कि उक्त शास्त्र में एक पदार्थ को प्रमाण से दृढ़ करके पश्चात् उसी को उपपत्ति अर्थात् लौकिक युक्ति से भी पुष्ट करते हैं एवम् स्वामी जी ने भी प्रथम "अद्भिर्गात्रा०" इस श्लोक से प्रमाण पूर्वक दृढ़ किया पश्चात् लौकिक युक्ति से कि (आलस्य न आवे) इत्यादि उपपत्ति से भी पुष्ट किया देखिये "एतदन्यथापि सिद्धम् कया युक्त्या" एवंविध पाठ श्री वात्स्यायन महर्षि का न्याय भाष्य में पाया जाता है परन्तु कहैं किस से जो कोई उस का परीक्षक भी तो हो ! यहां हमारे श्रीमान् श्री गोस्वामी जी केवल मत्सराश्वारूढ़ हो रहे हैं और केवल नाटक शास्त्र में तथा स्त्री जनों को (नथ की झुलन और भौहों की चलन), आदि अनेक प्रकार के वाक्यों से रिझाने में अतीव चतुर हैं भाई ! शास्त्र का क्रम वा उस की शैली तो शास्त्राध्ययन ही से

लब्ध होती है घर बैठे (स्त्रियों का मुख पङ्कज देखने से) नहीं। गो स्वामी जी ने पूर्वापर तो ग्रन्थ का देखा नहीं चट लिख मारा कि (देखिये यह युक्ति कितनी निर्बल है यदि मार्जन का प्रयोजन आलस्य का दूर करना ही होय तो एक चुटकी हुलास को सूङ्घ लिया करें—अथवा चाह वा काफी पीलें जो पहरों को काफी हो नहीं सर्वोत्तम उपाय यह है कि "एमोनियां की" सीसी सूङ्घलें जिस से मूर्छातक भङ्ग हो जाय आलस्य की क्या बात है। भला ऐसी युक्तियों से कहीं बुद्धिमानों को विश्वास होता है इति)

इस का उत्तर यह है कि—हम श्री गो स्वामी जी से सविनय निवेदन करते हैं कि यह नाटक तो आप का हुआ परन्तु इस में कोई शास्त्रीयप्रमाण भी आपने दिया कि केवल खण्डन श्री स्वामिदयानन्दसरस्वती जी का युक्ति ही युक्ति से करते हो महाराज ! जैसे स्वामीदयानन्दसरस्वती जी ने प्रथम शास्त्रीयप्रमाण (अद्भिर्गात्राणि०) इत्यादि लिख के युक्ति लिखी अतः शास्त्रीय वाक्यानुसृतयुक्ति श्री कपिल जी महाराज के वाक्य—

"नायौक्तिकस्य सङ्ग्रहोन्यथा बालोन्मत्तादिसमत्वम्" के अनुसार शोभित मालूम होती है केवल २ युक्ति ही युक्ति प्रलाप वाक्य समझी जाती है और वह प्रलापीभूत युक्ति भी आप की अत्यन्त दुर्बल है। यह वही दृष्टान्त है कि (एक तो सिंहिनि दूजे भंग पीनी) हम इस बात को प्रथम निर्णीत कर चुके हैं कि तब तक शास्त्रों की शैली नहीं आती जब तक केवल पुरुष विषय संसर्ग न छोड़े (मैं हां वा कोई अन्य) आलस्य दूर करने का ही होय—यह आप का वाक्य तब सुशोभित लगे जब केवल युक्ति मात्र हो परन्तु यहां वह बात नहीं किन्तु पूर्व प्रमाण का युक्ति से भी दृढ़ाया है आप कहते हैं कि एक चुटकी हुलास की इत्यादि का उत्तर—यह तो लोक ही से विरुद्ध है कि हम देखते हैं जब कोई छात्रादि गाढ़निद्रा से अभियुक्त होता है तो एक चुटकी क्या प्रत्युत दश चुटकी हुलास वह सूङ्घता है तथापि अन्त में जब तक जल से मुख न धोया जाता है निद्रांश कदापि नहीं जाता।

जिस समय जल का एक छींटा भी मुख पर वा शिर पर मारा जाता है उसी समय निद्रा भङ्ग होती है (अनुभूत वार्त्ता यह है) आलस्य भी एक निद्रा का प्रथम भाग है स्वल्प निद्रा जिस को तन्द्रा कहते हैं उसी का सहयोगी आलस्य कहाता है यह वैद्यकशास्त्र का मत है। हमारे गोस्वामी जी (काफी हो) ऐसा लिख कर आप को संस्कृताभिमानी मानते हैं। बड़ा आश्चर्य है कि पंडित ही जब ऐसे अपशब्द अपने श्री मुख से कहने लगे तभी तो इस देश को अविद्या ने

आ दवाया शोक ! शोक !! महाशोक !!! पुनः श्री गोस्वामी जी कहते हैं कि "नहीं सर्वोत्तम उपाय यह है कि एमोनिया की सीसी सूङ्घले जिस से मूर्छा तक भङ्ग हो आलस्य की क्या बात है" अब विचार का स्थल है कि मूर्छाभङ्गकारक द्रव्यों से आलस्य नहीं जाता है क्योंकि आलस्य मूर्छा का सधर्मी नहीं यदि सधर्मी नहीं तो वैधर्म्य से आलस्य का नाशक द्रव्य मूर्छा को वा मूर्छानाशक द्रव्य आलस्य को नाश कब करेगा—आलस्य नाम शरीरगौरव "आलस्यङ्कायस्य चित्तस्य च गुरुत्वादप्रवृत्तिः" इस व्यास जी के वाक्यानुसार शरीर का गौरव आलस्य है। और मूर्च्छा एक प्रकार मृत्यु का सधर्मी है परन्तु आलस्य का नहीं। वैद्यकशास्त्र पाठी तो अवश्य धैर्ययुक्त होने से और विचारपूर्वक वाक्य के पूर्वापर विचार से वस्तुओं का साधर्म्य वैधर्म्य जान सक्ते हैं अन्य ग्रन्थज्ञ नहीं हमारे गोस्वामी जी तो केवल भागवतपाठी ही तो हैं यतः एक ग्रन्थ को बहुत अच्छे प्रकार भी साङ्ग पढ़े तो भी सर्वशास्त्रों के सिद्धान्त का जानना बहुत कठिन है यथाः—

एकं शास्त्रमधीयानो न विद्याच्छास्त्रनिश्चयम् ।
तस्माद्बहुश्रुतः शास्त्रं विजानीयाच्चिकित्सकः ॥

अतः यदि गोस्वामी जी ने वैद्यकशास्त्र देखा होता तो बहुत जल्दी निर्विचार पूर्वक ऐसा लेख न घसीटते कि मूर्छानाशकद्रव्य आलस्य को दूर करे। इति॥

" सहसाविदधीत न क्रिया" हम गोस्वामी जी से बहुशः सानुनयनिवेदन करते हैं कि इस का यथोचित सप्रमाण लेख देंगे कि एमोनिया की सीसी मूर्छानाशक आलस्य को किस प्रकार नाश कर सकती है॥

तदनन्तर श्री गोस्वामी जी महाराज लिखते हैं कि (फिर इसी पंच म० य० पृष्ठ ५ प० ७ में प्राणायाम की दुर्दशा की है फिर कम से कम तीन प्राणायाम करे इस से आत्मा और मन की स्थिति संपादन करे भला कहीं प्राणायाम से मन की स्थिति होती है ?। प्राणायाम से तो मनमूर्छित होता है जो प्राणायाम से मन स्थिर होता तो वह पागलों के लिये एक अव्यर्थ औषधि होती) इस का उत्तर समग्र विद्वानों की सेवा में निवेदन करता हूं कि प्राणायाम की दुर्दशा की इस में यह शङ्का उत्पन्न हो सकती है कि किस ने की ?—यदि श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने की—ऐसा कथन कोई करे तब तो महाअयुक्त है क्योंकि श्री स्वामिदयानन्द जी ने एक अक्षर भी शास्त्रप्रमाण वा वेदादि श्रुतिस्मृतिप्रमाणरहित कहीं नहीं लिखा—जो कोई इन ऋषियों ने प्राणायाम की दुर्दशा की ऐसा कहे तब तो ठीक है परन्तु श्री स्वामी दयानन्द जी के ऊपर आक्षेप करना विना

मूर्खता के अन्य क्या कहा जावे ! देखिये—पतञ्जलि महाराज के सूत्र ३४ समाधि पाद १ योगदर्शन में ॥

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥

इस सूत्र में पूर्व ३३ सूत्र में से चित्तप्रसादनम् इस पद की अनुवृत्ति आती है—यथा मैत्री क० " भावनातश्चित्तप्रसादनम् " अतएव वा शब्द की सार्थकता हो सकती है ३३ सूत्र के भाष्य में भगवान् व्यास जी का कथन है कि—"प्रसन्नमेकाग्रं स्थितिपदं लभते" अर्थात् चित्त जब प्राणायाम क्रिया से प्रसन्न होगा तभी स्थिर एक स्थान में होगा—अब कहिये विद्वज्जनो ! यह प्राणायाम की दुर्दशा व्यास जी ने की वा दयानन्दसरस्वती जी ने ? । अथवा इन मिथ्या पौराणिकों ने की (जो शास्त्रविरुद्ध नाक दबा के प्राणायाम की प्रवृत्ति सर्वत्र चला दी) इन तीनों में से किस ने दुर्दशा की ? । तथा चौथे मिथ्याभूत वार्त्ता में प्रमाणदाता (केवल आर्यसमाजीय रहस्य पुस्तकमात्र से) हमारे श्रीमान् गोस्वामी मधुसूदनदास जी ने प्राणायाम की तो क्या मेरी अल्पबुद्धि में समस्त विश्व की दुर्दशा की वा नहीं ? अवश्य पक्षपात रहित हो कर विचारिये कि प्राणायाम से मनमूर्च्छित होता है इस में कोई प्रमाण किसी शास्त्र का दिया वा हम लोग—बाबा वाक्य म्प्रमाणम्-इसी के तुल्य उक्त गोस्वामी जी का वाक्य ही शास्त्ररूप मान लें । ऐसे ग्रन्थकर्त्ताओं को मैं धन्यवाद देता हूं और प्रार्थना करता हूं कि अस्तु इस ग्रन्थ से तो आपने जगत् को कृतार्थ किया परन्तु अब ऐसे प्रमाणशून्य ग्रन्थों के बनाने से उपरत हूजिये अन्यथा सच्छास्त्रपाठी विद्वानो की सभा में बड़ाभारी आप का उपहास होगा (कथनमात्र तो हमारा काम है परन्तु मानना न मानना दूसरे के आधीन है) हां—नाक के दबानारूप प्राणायाम से तो अवश्य मूर्छित चित्त होता है । परन्तु शास्त्रविहित प्राणायाम से नहीं । देखो मनु० । "प्राणायामैर्दहेद्दोषान् " इत्यादि—अर्थात् प्राणायाम के द्वारा यावच्छारीरिक दोष हैं वे समस्त दूर हो जाते हैं क्योंकि पतञ्जलि जी ने प्राणायाम से ज्ञानप्राप्ति वर्णन की है देखो ! साधन निर्देश २ पाद २८ वां सूत्र ।

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ॥

अर्थात् योग के आठ अङ्ग जो यम १ नियम २ आसन ३ प्राणायाम ४ प्रत्याहार ५ ध्यान ६ धारणा ७ समाधि ८ रूप हैं इन के करने से (जैसा कुछ लक्षण योगशास्त्र में कहा है) अपवित्रता (मालिन्य) का नाश और ज्ञान की प्राप्ति होती है और जीवात्मा परमात्मा के जानने का बोध जिस को विवेक कहते हैं वहां

तक लाभ उक्त यम आदि अङ्ग जो योग के हैं उन से होता है-दृढ़चित्त हो के मनन करना चाहिये कि जब इतना लाभ प्राणायाम (जो योगाङ्ग ही में गिनाया है) से होता है कि ज्ञान की प्राप्ति हो गई तब शारीरिक आत्मिक (जीव से आत्मा लिये गये) दोष कैसे रहें गे । बड़ा आश्चर्य तो यह है कि पुस्तक तो श्री दयानन्द स्वामि का खण्डन किया जावे-और प्राणायाम माना जावे गपलीला का । महाराज स्वामी जी ने नाक दबाना कब प्राणायाम का लक्षण लिखा है जो आप लिखते हैं कि (यहां एक चरित्र मुझे याद आगया कि अदालत में इज़हार हो रहा था जिरह चल रहा था मुद्दई वास्तव * में झूठा था । सवालों के जवाब में घबड़ाता था जज साहब बोले घबड़ाओ मत मन को स्थिर करो वकील साहब ताज़ा आर्य थे धर्म का अभिनव ज़ोर था चट मुवक्किल की नाक दबाई जज साहब बोले यह क्या गुस्ताख़ी ! वकील साहब हाज़िरजवाब थे कहा कि अदालत के फ़र्माने के मुताबिक़ इस का मन स्थिर करता हूं । हमारे धर्मपुस्तक में लिखा है " अनेनात्मनसः स्थितिं संपादयेत् " सब के सब हँस पड़े इत्यादि) भला इस दृष्टान्त को सत्य कोई भी मानेगा जिस ने एक बार भी पञ्चमहायज्ञ विधि कथित प्राणायाम की रीति देखी होगी कि प्रथम श्वास को बाहर फेंक देना १ फेर वहां ही यथाशक्ति रोकना २ फेर भीतर ले जाना ३ और वहां भी रोकना चार ४ चेष्टाओं का एक प्राणायाम होता है यह श्री स्वामी जी महाराज ने पञ्च० म० तथा सत्यार्थप्रकाश भूमिकादि में सर्वत्र निज ग्रन्थों में लिख रक्खा है । यह दृष्टान्त मुख्य करके तो ऐसा था कि वकील साहब पुराने पोप थे नाक दबा के प्राणायाम की रीति जानते थे उन्हों ने श्रीस्वामिमधुसूदनदास जी के तुल्य स्वामिकृत पुस्तक पञ्चम० देखा होगा उन्हों ने भी प्राणायाम की रीति तो अपनी मनमानी जैसी कुछ आप जानते थे वैसी ही मानी और " अनेनात्म० स्वामिदया० कृत पञ्च म० के पाठ की भाषा देख कर नाक मुवक्किल की दबा दी हो तो कुछ आश्चर्य भी नहीं । अनुमान होता है कि आप उस मिथ्याकारी वादी के साक्षी बन कर न्यायालय (कचहरी) में गये होंगे ? क्रमशः ॥

विचारशीलानुगृहीतो बलदेव शर्मा

निवासस्थान-क़ायमगञ्ज

ज़िला फ़र्रुख़ाबाद

---

* वास्तव में झूठा यह व्याकरण की रीति पर जो अर्थ इस का है कि वस्तु में हो अथवा वस्तु का यह ये दोनों यहां पर सम्भव नहीं हो सकते ।

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥

भाग १ | अधिक चैत्र संवत् १९४४ | अङ्क १०

यत्र॑ ब्रह्म॒विदो॒ यान्ति॑ दी॒क्षया॒ तप॑सा स॒ह ।
ब्रह्मा॑ मा॒ तत्र॑ नयतु॒ ब्रह्मा॒ ब्रह्म॑ दधातु मे ॥

(गत अंक से आगे महामोहविद्रावण का उत्तर)

इदानीम्प्रकारान्तरेण वेदवाक्यानां बुद्धिपूर्वकत्वमाचष्टे। "ब्राह्मणे संज्ञाकर्मसिद्धिलिङ्गम्" ब्राह्मणे वेदभागे संज्ञाकर्म नामकरणं तदुत्पादकस्य बुद्धिमाक्षिपति यथा लोके चैत्रमैत्रादिनामकरणम् अस्ति च नामकरणं ब्राह्मणे "उद्भिदा यजेत" "बलभिदा यजेत" "अभिजिता यजेत" "विश्वजिता यजेत" इति, अत्र हि उद्भिदादिनामानि स्वतन्त्रस्य कस्यचित् व्यवहर्तुर्बुद्धिमाक्षिपन्ति अलौकिकानामर्थानामस्मदादिबुद्ध्यगोचरतयाऽस्मदादिबाधादपरमनुमापयन्ति सचागमपरोऽनुमित्सितो वेदपुरुषो भगवानीश्वर इति "बुद्धिपूर्वो ददातिः" इति तृतीयं काणादं सूत्रम् । अस्यार्थः । "स्वर्गकामो गां दद्या" दित्यादौ यद्दानप्रतिपादनं तदिदं बोधयितुर्दानधर्मिकेष्टसाधनताज्ञानजन्यम् । तच्चेदमिष्टसाधनताज्ञानं निष्कम्पप्रवृत्तिजनकं नाऽर्वाग्दृशामस्मदादीनामपरोक्षात्मकमिति तादृशज्ञानाश्रयस्तत्रापि सिद्ध्यति "तथा प्रतिग्रहः" इति चतुर्थपारमर्षसूत्रस्याप्येवमेवार्थोऽवगन्तव्यः । न चेह बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे इति प्रथमे वेदपदेन, द्वितीयसूत्रे च ब्राह्मणपदेन, निर्देशात्कथनमनयोर्ब्राह्मणस्य वेदपदार्थसाधकत्वमिति शङ्क्यम् । अत्र हि षष्ठेऽध्याये संसारमूलकारणभूतौ

धर्म्माऽधर्मौ परीक्षिष्यमाणौ तौ च वेदैकवेद्यौ वेदवाक्यानां च कणादमते आप्तोक्तत्वेन प्रामाण्यम्, आप्तश्च यथार्थप्रकृतवाक्यार्थज्ञानाश्रयोऽतः प्रकृतवाक्यार्थविषयकयथार्थज्ञानात्मकं वेदप्रामाण्योपोद्बलकमेव प्रकृते सिषाधयिषितं, तच्च मन्त्रब्राह्मणात्मककृत्स्नवेदसाधारणमिति प्रथमसूत्रेण तत्साधयित्वा द्वितीयेन सूत्रेण सञ्ज्ञाबहुले ब्राह्मणभागे सञ्ज्ञाकर्म्मणाऽपि तत्साधितमिति वेदैकदेशे ब्राह्मणे सञ्ज्ञाकरणात्मकवेदप्रामाण्यप्रयोजकवक्तृयथार्थवाक्यार्थज्ञानात्मकगुणपूर्वकत्वप्रदिदर्शयिषया प्रवर्त्तमानेन सूत्रकृता स्फुटं ब्राह्मणे वेदत्वबोधनात्। नहि भारते पुरुषार्थचतुष्टयं न्यरूपीत्यभिधायमोक्षधर्म्मे मोक्षो निरूपित इत्यभिधाने मोक्षधर्मो महाभारतप्रकरणतां जहातीति, वक्ता वा तस्य तदङ्गतां नाभिप्रैतीति कश्चिद्वक्तुमुत्सहेदपि प्रेक्षावान्, नह्यास्तिकैर्वेदमपहायाऽपरस्य दृष्टानुमितश्रुत्यमूलकशब्दस्य धर्माधर्मयोः प्रामाण्यमङ्गीक्रियते यस्य प्रामाण्यसाधनप्रत्याशया ब्राह्मणानां सञ्ज्ञाकरणात्मकलिङ्गेन वक्तृयथार्थवाक्यार्थज्ञानात्मकगुणसाधनायाऽयमुद्यमो महर्षेर्वक्तव्यः स्यात्। तस्मात् कात्यायनभिन्नैर्ऋषिभिर्वेदसञ्ज्ञायामस्वीकृतत्वादिति प्रलपन्नसौ शोचनीयो राज्ञां दण्डनीयो लोकानां चोपहसनीय एव। किञ्च। "कात्यायनभिन्नैर्ऋषिभिर्वेदसञ्ज्ञायामनुक्तत्वा" दिति वदताऽऽत्मौपम्येनाऽनभिज्ञत्वं प्रतारकत्वं चोत्प्रेक्ष्यते, तदिदमनृषेरवरस्य रौरवसाधनमृषौ। नह्यनृषिः कश्चित्पामरोऽप्रदर्श्य दृढविपक्षसाधकं प्रमाणं यङ्कमप्येकमृषिं किम्पुनरेतावतो जैमिन्यादीन्महर्षीन्दूषयेत्। किञ्चाऽयं ग्रहिलो "ब्राह्मणं न वेद" इत्येतादृशं प्रामाणिकस्य कस्यापि किं पुनर्ऋषेर्वाक्यं दर्शयेत्तदाऽसौ क्षमेतापि "कात्यायनभिन्नैर्ऋषिभिर्वेदसञ्ज्ञायामनुक्तत्वा" दिति वक्तुम्। इत्यलमज्ञानपिशाचाविष्टस्य वाचान्निग्रहेण॥

महामोहविद्रावण की भाषा—अब पूर्वोक्त वैशेषिक शास्त्रकार कणाद महर्षि वेद वाक्यों के बुद्धिपूर्वक माननीय होने को कहते हैं:—(ब्राह्मणे संज्ञाकर्म सिद्धिलिङ्गम्) जैसे लोक में देवदत्तादि नाम विद्यमान वस्तुओं के सत्य समझे जाते हैं वैसे वेदभागरूप ब्राह्मण पुस्तकों में (बुद्धिदा यजेत) इत्यादि ब्राह्मण वाक्यों में बुद्धित् आदि शब्द पृथक् २ विधि विशिष्टयज्ञादि के नाम सत्य ही समझे जाते हैं। वेद के अलौकिक होने से हम लोगों की बुद्धि में यथावत् उस के वाक्यार्थ नहीं बैठते अर्थात् सांसारिक पदार्थों से वेद वाक्यार्थ अन्य है ऐसा मानकर संसार से भिन्न का अनुमान होता है वही वेद का वाक्यार्थ ईश्वर है। "बुद्धिपूर्वो ददातिः" इस कणाद सूत्र का अभिप्राय यह है कि जो ब्राह्मणभागरूप वेद में दान धर्म का प्रतिपादन किया है वह भी बुद्धिपूर्वक है वह गोदानादि का कथन दान धर्म से इष्ट सिद्धि के ज्ञान को दृढ़ करता है कि इस दान धर्म से मेरी अभीष्ट सिद्धि अवश्य होगी। अभीष्ट सिद्धि पर विश्वासरूप बुद्धि को आरूढ करके ही दानधर्म सम्बन्धी कर्म का अनुष्ठान करना बन सकता है इस लिये ब्राह्मणभागरूप वेद में दानक्रिया बुद्धिपूर्वक समझी जाती है इन सूत्रों से यह निश्चय होता है कि ब्राह्मणभाग भी वेद ही है क्योंकि "बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे" इस प्रथम सूत्र में जो वेद शब्द पढ़ा है उसी के प्रसंग में अगले ब्राह्मणभाग सम्बन्धी सूत्र पढ़े हैं। यदि कोई कहे कि पहिले सूत्र में वेद कहा और अगले में ब्राह्मण शब्द पढ़ा है इस लिये वेद से ब्राह्मण पृथक् है सो ठीक नहीं क्योंकि इस षष्ठाध्याय में संसार के मूल कारणभूत धर्म अधर्म की परीक्षा है और धर्म अधर्म का स्वरूप केवल एक वेद से ही जानने योग्य है और वेद वाक्य कणाद ऋषि के मत में आप्त के वचन होने से ही प्रमाण समझे जाते हैं और वह आप्त वाक्य मन्त्रब्राह्मणरूप समस्त भाग समझा जाता है। इसी लिये कणाद ऋषि ने पहिले वेद को बुद्धिपूर्वकत्व सिद्ध किया पीछे ब्राह्मणभाग में संज्ञाकर्म से बुद्धिपूर्वकत्व माना है ऐसा नहीं हो सकता कि महाभारत में धर्मार्थ काम मोक्ष चार पदार्थ कहे और मोक्ष धर्म में मोक्ष का निरूपण किया इस से मोक्ष धर्म महाभारत से पृथक् समझा जावे अथवा कहने वाला उस ग्रन्थ का यह अवयव है ऐसा निश्चय न कर सके इस लिये कोई कह देवें सो ठीक नहीं। आस्तिक सज्जनों का यही कर्त्तव्य है कि वेद को छोड़ के अन्य ग्रन्थ जो वेदमूलक नहीं है उस का धर्म अधर्म के विषय में प्रामाण्य न मानें क्योंकि जिस वेद भाग की आज्ञा से ब्राह्मण भागों के संज्ञा करनारूप सिद्ध से आप्तोक्त वाक्य ज्ञान का यथार्थ गुण साधन के लिये महर्षि कणाद जी का प्रयत्न है। इस लिये "कात्यायनभिन्नैर्ऋषिभिर्वेदसंज्ञायामस्वीकृतत्वात्" ऐसा कहने वाला (दयानन्द) सज्जनों को शोचनीय राजाओं का दण्डनीय और लोगों को उपहास करने योग्य है। इस लिये वेद विषय में ऐसा कथन उस के लिये रौरव नरक का साधन है॥ कोई साधारण पुरुष किसी ऋषि का प्रमाण बिना

लिये कुछ नहीं कह सक्ता तो ऐसे महान् जैमिनि आदि महर्षियों को अपने साथ दूषित ठहरावे यह कितने आश्चर्य की बात है । यह धूर्त “ब्राह्मण वेद नहीं” ऐसा वचन किसी साधारण विद्वान् वा ऋषि का भी दिखा देता तो यह कह भी सकता कि “कात्यायनभिन्नैर्ऋषिभिर्वेदसंज्ञायामस्वीकृतत्वात्” अब अज्ञानरूप पिशाच से घेरे हुए (दयानन्द) के खण्डन को समाप्त करते हैं ॥ इस महामोहविद्रावण के संस्कृत का उत्तर पहिले कुछ संस्कृत में लिखता हूं:—

उत्तर—वेदवाक्यानां बुद्धिपूर्वकत्वं यन्महर्षिकणादेन प्रतिपादितं तत्त्वार्य्यपुत्रमात्रैरङ्गीक्रियत एव । बुद्धिपूर्वावाक्यकृतिर्वेद इति सूत्रात्परस्मिन्सूत्रे योऽसौ ब्राह्मणशब्देन निर्देशस्तत्र कथमेतज्ज्ञायतेऽत्र वेदशब्दस्तदेकदेशग्राहकोऽस्तीति । यत्रयत्र महर्षिभिर्वेदविषयो निरूपितस्तत्रतत्र पूर्वं वेदविषयं निरूप्यानन्तरं तत्सहकारिस्मृतीनामपि प्रतिपादनं कृतम् । श्रौतस्मार्त्तकर्म्मणोरनेकत्र सहचरितत्वादिति । यदि वेदशब्देन प्रतिपादनानन्तरं ब्राह्मणशब्देन प्रतिपादनाद्ब्राह्मणानां वेदत्वं स्यात्तर्हि तत्तत्स्थलेषु स्मृत्यादीनामपि वेदत्वं प्राप्नोति । यच्च ब्राह्मणभागे लोके चैत्रादिवद्बुद्धिदादिनामकरणं तदपि वेदसम्प्रदायाद् ब्राह्मणानि भिनत्ति नहि तादृशं नामकरणं मूलवेदमन्त्रेषु क्वापि पश्यामोऽतो मन्यामहे न ब्राह्मणानां मूलमंत्रवद्वेदत्वमिति यच्चोक्तं संसारमूलकारणभूतौ परीक्षिष्यमाणौ वेदैकवेद्यौ धर्माधर्मौ षष्ठेऽध्याये कणादर्षिणोपपादिताविति तत्रेदं विचार्य्यते किं वेदैकवेद्यौ धर्म्माधर्म्मावित्यस्यायमाशयोऽस्ति नान्यमहर्ष्यादिनिबन्धवेद्याविति एवं चेन्मन्वादिधर्मशास्त्राणां वैयर्थ्यं प्रसज्येत ततश्च धर्मशास्त्राणां धर्मशास्त्रत्वमपि नश्येत् । अतो वेदैकमूलकौ धर्माधर्माविति वक्तुं शक्यम् वेदैकवेद्यौ धर्माधर्मौ चेत्स्यातां तर्हि वेदविषयनिरूपणावसरे वात्स्यायनर्षिणा कथमिदमनर्गलमभ्यधायि यद्—यज्ञो मन्त्रब्राह्मणस्य विषय इति किमर्थं नाभिहितं धर्म एव मन्त्रब्राह्मणविषय इति अतो ज्ञायते न वेदैकवेद्यत्वं धर्माधर्म-

योरिति किन्तु श्रौतस्मार्त्तधर्मयोः श्रौतस्य प्राधान्यमिति त्वखिलार्य्यधर्म्मावलम्बिभिर्मन्यत एव। यश्चावयवसमुदाययोर्दृष्टान्तो वेदब्राह्मणयोर्दीयते स नैव संजाघटीति महाभारतमिति पदं तदवयवीभूतेषु स्थलेष्वव्याहतं दरीदृश्यते निबन्धान्तराभावादिति वेदशब्दस्तु ब्राह्मणेषु व्याहन्यते निबन्धान्तरभूतब्राह्मणेषु वेदविशेषशब्दशीर्षकात्वभावेन प्रचारदर्शनाभावात् यदि वाराणसीस्थविज्ञवरैर्ब्राह्मणे वेदइति महर्षिस्वीकृतमित्यङ्गीक्रियते तर्हि पृच्छ्यन्ते तेऽस्माभिरिदं किमवेदानां ब्राह्मणानां वेदत्वं महर्षिभिः स्वीकृतमाहोस्विद्वेदरूपाणामेव वेदत्वं मतमिति। यद्यवेदानां वेदत्वं स्वीकृतं तदा तु ब्राह्मणानि न वेदा इति सिद्धं पुनश्चावेदस्य वेदत्वप्रतिपादनं स्थाणौ पुरुषबुद्धिवदतस्मिंस्तद्बुद्धिर्मिथ्याज्ञानं महर्षिषु तत्र भवद्भिरङ्गीक्रियताम्। यदि च सतां वेदानामेव वेदत्वमुपपादितं तर्हि किमस्य साधनं मृषेति महर्षिवचनानां नैष्फल्यापत्तिरिति। अतो दयानन्दस्वामिभिर्यदुक्तं कात्यायनभिन्नैर्ऋषिभिर्वेदसंज्ञायामस्वीकृतत्वाद् ब्राह्मणानि न वेदाइति तदेव सुस्थिरम्। कात्यायनेन च मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयमिति यत्स्वीकृतं तत्तु व्याख्याव्याख्येययोर्मुख्यसम्बन्धमभिप्रेत्येतिहासपुराणं पञ्चमो वेदानां वेद इतिवद्वेदेतरान्यनिबन्धापेक्षया ब्राह्मणानां प्राशस्त्यमन्तःकृत्योक्तमित्यस्माभिः पूर्वाङ्केषु प्रत्यपादि। अन्यैश्चर्षिभिः कात्यायनवन्न स्वीकृतम्। न स्वीकृतमिति पदेन विधिप्रतिषेधौ द्वावपि न सम्भवतः। यदि स्वीकुर्युस्तर्हि वेदानामवेदानां वा वेदत्वे स्वीकृते स एव दोषो यः पूर्वमुक्तइति। प्रतिषेधे तु किं विद्यमानं ब्राह्मणानां वेदत्वं प्रतिषिध्यते आहोस्विदविद्यमानं यदि विद्यमानं प्रतिषिध्यते तर्हि पूर्वं कथं वेदत्वं तेषाम्। कथमप्यस्तिचेत्प्रतिषेधोनोपपद्यते। अथ नास्ति तर्हि प्रतिषेधानार्थक्यमिति॥

भावार्थ—वेदवाक्य बुद्धि पूर्वक हैं अर्थात् जो कुछ वेद में कहा है वह हम अपनी बुद्धि से विपरीत नहीं देखते यह जो महर्षि भगवान्कणाद का वाक्य है उसे समस्त आर्यों के सन्तान मात्र मानते ही हैं (बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे) इस सूत्र से अगले (ब्राह्मणे संज्ञाकर्मसिद्धिलिङ्गम्) सूत्र में जो ब्राह्मणशब्द का पाठ है उस में यह बात आप ने कैसे जान ली कि ब्राह्मण शब्द वेद के एक देश का ग्राहक है मुख्य तो यह है कि जहां २ महर्षियों ने वेद विषय का निर्णय किया है वहां ही वेदविषयक कथन के अनन्तर वेदों के साथ सम्बन्ध रखने वाले स्मृतिशास्त्रों का भी प्रतिपादन किया है यदि आप के कथनानुकूल वेदशब्द से वेद के अनन्तर (उपरान्त) कहे ब्राह्मणग्रन्थों का नाम वेद ही होगा तो हम पूछते हैं कि वेद के अनन्तर स्मृति आदि का विषय भी तो अनेकत्र कहा है उन की भी वेदसंज्ञा आप क्यों नहीं मानते! यदि आप यह कहेंगे कि ब्राह्मणों में जैसे लोक में चैत्र, मैत्रादि नाम रक्खे जाते हैं वैसे ही पाये जाते हैं इस से लोकवत् बुद्धिपूर्वक होने से कणाद जी ब्राह्मणों को वेद मानते हैं तो हम कह सकते हैं कि वे तादृश नाम लोक ही के सम्प्रदाय से प्राप्त हैं परन्तु वेद से भिन्न हैं यतः साक्षात् वेद में (वलभिदा यजेत) ऐसे शब्द वा पद कहीं देखने में नहीं आये और जो आप ने कहा कि (संसारमूलकारणभूतौ परीक्षिष्यमाणौ वैदिकवेद्यौ धर्माऽधर्मौ।) इस वाक्य में आप का यह आशय है कि वे धर्म अधर्म वेद के बिना अन्य किसी महर्षि के ग्रन्थ से जानने योग्य नहीं यदि यही अभिप्राय है तो मन्वादि धर्मशास्त्र सब व्यर्थ हो जावेंगे व्यर्थ होने से आज पर्यन्त जो धर्मशास्त्र शब्द से ग्रहण किये जाते हैं वह उन का धर्मशास्त्रपन ही नष्ट हो जावेगा इस से यह कहना तो आप लोगों का बन सकता है कि धर्म अधर्म के प्रतिपादन विषय में मूल वेद ही है इस से आप के सिद्धांत में उक्त दोष की प्रवृत्ति दुर्निवार ही है! यदि कथंचित् हम आप के कथनानुसार केवल वेद विषय ही धर्म्माधर्म्म मान लें तो (यज्ञो मन्त्रब्राह्मणस्य विषयः) इस की व्याख्या करते समय जो भगवान्वात्स्यायन ऋषि ने मन्त्र-ब्राह्मण का विषय यज्ञ कहा वहां पर ऐसा ही क्यों नहीं कहा कि मन्त्रब्राह्मण का विषय धर्म है? क्या इस एतादृशशिष्ट महर्षिवाक्य को मैं वा अन्य कोई अन-र्गल कह सक्ता है? इस से यह सिद्ध है कि केवल वेद ही से धर्म्माधर्म्म नहीं जाने जाते किन्तु अन्य शास्त्रों से भी। हां स्मृतिकारों की उक्ति की अपेक्षा वैदिक वचन प्रधान है इस बात को तो आर्य्यमात्र मानते ही हैं। और जो अवयव समुदाय का दृष्टान्त (जैसे महाभारत में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, चारों पुरुषार्थ वर्णन किये हैं इस के अनन्तर उसी के एक खण्ड का नाम मोक्षधर्म है तो क्या वह महा-भारत शब्द से नहीं ग्रहण किया जाय गा?—इस प्रकार का) वेद और ब्राह्मण में आपने दिया वह यहां नहीं घटित हो सक्ता क्योंकि वहां महाभारत ऐसा पद जब से यह पुस्तक बना है तब से लेके आज तक पुस्तकों के शिर के ऊपर लिखा

चला आता है अव्याहत (बीच में किसी और ग्रन्थ के नाम से नहीं बाधित) प्रचरित देखा जाता है और यहां वेद ब्राह्मण विषय में, वेद शब्द ब्राह्मण पुस्तकों में नहीं देख पड़ता क्योंकि (वेद से) पृथगन्तरभूत ब्राह्मण पुस्तकों के शिर पर लिखा वेद ऐसे शब्द का प्रचार नहीं मिलता यदि श्रीमती काशी जी के विशेष विद्वान् ब्राह्मणग्रन्थों को वेद उक्त महर्षियों के वचन से मानते हैं तो मारा यह प्रश्न है कि "ब्राह्मणग्रन्थ प्रथम ही से वेद हैं कि (जैसे ऋगादि) उन को ही आप लोगों ने भी वेदत्व से स्वीकृत किया अथवा वेद तो प्रथम न थे किन्तु वेद माने गये" ऐसा आप लोग मानते हैं ? यदि वेद न थे ऐसा पक्ष है तो सिद्ध हुआ (आप के ही पक्ष से) कि ब्राह्मण वेद नहीं प्रत्युत केवल सिद्ध ही नहीं हुआ उस के साथ यह भी जाना गया कि जैसे स्थाणु (वृक्ष के ठूंठा) में पुरुष की भ्रान्ति अन्य में अन्य का निश्चय होने से मिथ्याभूत सब शिष्ट जनो के समक्ष प्रतीत होती है वैसे ही आप लोगों की भी यह (ब्राह्मण वेद हैं) भ्रान्ति शिष्ट जनों के समक्ष स्पष्टता से सिद्ध होगी ? यदि प्रथम से ही "ब्राह्मण वेद हैं" ऐसा आप का पक्ष है तो सिद्ध का साधन ढूंढना वृथा है क्योंकि साधन तब ढूंढा जाता है जब हम को संशय होता है संशय की निवृत्ति होने पर कोई महाशय न्याय की अपेक्षा नहीं करते (यतः भगवान्वात्स्यायनः "नासन्दिग्धेर्थे न्यायः प्रवर्तते" - ऐसा कहते हैं जब ऐसा है तो वेद के ब्राह्मण होने विषय में जो महर्षियों के वचन प्रमाणभूत आप दें वे सब निष्फल होंगे क्योंकि महर्षि क्या नहीं जानते थे कि वेद और ब्राह्मण एक ही हैं इस से श्रीमान् १०८ दयानन्द सरस्वती स्वामी जी ने कहा है कि कात्यायन भिन्न ऋषियों के न स्वीकार करने से ब्राह्मण वेद नहीं यही ठीक है । और जो कात्यायन ऋषि ने स्वीकार किया है वह व्याख्यान व्याख्येय का मुख्य सम्बन्ध मान के जैसे इतिहासपुराण पांचवां वेद है यह वाक्य वेद से भिन्न इतर ग्रन्थों की अपेक्षा में वेद के तुल्य मन्तव्य है न तु संख्या में भी ५ वां गणना करने योग्य है । इस अभिप्राय को निज मन में स्थिर कर के कहा है यह बात हम पूर्व अङ्कों में सिद्ध कर आये हैं अब रहे और ऋषि जन उन्हों ने मन्त्र ब्राह्मण दोनों वेद हैं ऐसा स्वीकार नहीं किया इस से कहीं उन का वचन वेद ब्राह्मण की एकतापरक नहीं मिलता कात्यायन भिन्न ऋषियों ने वेदसंज्ञा में ब्राह्मण शब्द का स्वीकार नहीं किया इस कथन से उक्त स्वामियों का यह अभिप्रेत है कि विधि और निषेध (वेद को ब्राह्मण कहना तथा न कहना भी नहीं बन सकता) दोनों नहीं बन सकते यदि स्वीकार किया जाय तो प्रथम वेदसंज्ञा थी उसी को मानना वा अवेद को वेद मानना इस में जो पूर्व दोष है वही फिर आ जाय गा यदि कहिये कि " अस्वीकृतत्वात् " इस से ब्राह्मणवेद नहीं ऐसा अभिप्राय ऋषियों का स्वामी जी ने माना हो तो उत्तर यह है कि यदि निषेधार्थ माना जावे तो यह कहना सम्भव होगा कि क्या ब्राह्मणों की विद्यमान

वेदसंज्ञा का निषेध है ? तो पूर्व वेदसंज्ञा सिद्ध हो गई । और ईश्वर का ज्ञान भ्रम युक्त भी होगा क्योंकि ईश्वर ने यह बात प्रथम से नहीं जानी कि अमुक पुस्तक को जो मैं ने वेदसंज्ञा की है इस का अमुक महाशय निषेध कर देगा कथंचित् मान भी लें तो विद्यमान का निषेध कार्य किये पीछे फलदायक होता ही नहीं क्योंकि जब तक ईश्वरकृत वेदसंज्ञा न होने पाती तब तक तो निषेध ठीक था इस समय व्यर्थ है (जब वेदसंज्ञा हो गई) जैसे किसी ने देवदत्त को मार डाला उस के अनन्तर देवदत्त के मार डालने वाले को भी चाहे मार भले ही डालो परन्तु देवदत्त का जीना तो कठिन ही है ऐसा ही यहां समझो ! क्योंकि जिसने भोजन कर लिया हो उस के प्रति कोई कहे कि इसे भोजन मत कराना तो वह कह देगा कि बहुत अच्छा और यदि अविद्यमान का निषेध किया तो निषेध अनर्थक हुआ क्योंकि निषेध करने योग्य पदार्थ है ही नहीं निषेध किया किस का । इति-क्रमशः

१३२ पृष्ठ से आगे नरसिंह शर्मा मङ्गलपुर वालों का उत्तर ॥

प्र०—जब एक मन्त्र के अनेक अर्थ हैं तो ईश्वर का अर्थ हम कैसा जानना? वेदों का अर्थ परमेश्वर ने सब लोगों के हितार्थ सुगम क्यों न किया ? कोई अज्ञात विषय अर्थात् जो विषय आज तक मनुष्यों ने नहीं जाने हैं ऐसा कोई विषय वेद में है वा नहीं ? अब जो विद्या संसार में प्रचलित हैं वे अधिक होंगी वा जो वेदों में रहने की ? दो पुरुषों में से एक को वेद के बिना अन्य सब सिखावे और दूसरे को अर्थ सहित वेदों को पढ़ावे तो इन दोनों में से अधिक विद्वान् कौन होगा ?

उ०—जब एक मन्त्र के अनेक अर्थ हैं तो वे अर्थ जिस२ भाष्यकार ने किये हों उस २ के जानने चाहिये क्योंकि वेद के अनेक वा एक अर्थ का कर्त्ता ईश्वर नहीं है । अब तक ईश्वर कृत वेद का भाष्य कोई नहीं है । किन्तु सब भाष्य मनुष्यों के ही बनाये हैं । वेद का अर्थ करने में ईश्वर की कुछ प्रतिष्ठा वा उस का कुछ प्रयोजन भी नहीं है । यदि यह अभिप्राय हो कि बहुत से भाष्यकार अपनी २ बुद्धि के अनुसार परस्पर विरुद्ध अनेक अर्थ करते हैं उन में ईश्वर के अभिप्रायानुसार किस को जानें तो इस पर मुख्य उत्तर यही है कि यदि एक मन्त्र के अनेक अर्थ ऐसे हों कि एक में ईश्वर स्तुति प्रार्थना, द्वितीय में किसी धर्म वा कर्तव्य का वर्णन, तृतीय में किसी पदार्थ के गुण कर्मादि का कथन इत्यादि भिन्न २ विषयक अनेक अर्थ उस २ मन्त्र से साक्षी और युक्ति पूर्वक निकलते हों और जिन में किसी प्रकार की तुच्छता आदि दोष न मिल सकें ऐसे अनेकार्थ भी ईश्वराभिप्रायानुकूल समझे जावेंगे । जिन अर्थों में परस्पर विरोध वा अन्याय पक्षपातादि होंगे वे ईश्वराभिप्राय से विरुद्ध मानने चाहिये । जब वेद अनेक प्रमाण और युक्तियों से अनादि अपौरुषेय और ईश्वरीय विद्या ठहरते हैं तो कोई मनुष्य भाष्यकर्त्ता

वेदार्थ में किन्हीं ऐसे मनुष्यों का प्रतिपादन करे कि जो किसी समय विशेष में उत्पन्न हुए हों तो वह वेदार्थ ईश्वराभिप्राय से विरुद्ध होगा । तथा ईश्वर की दृष्टि सब प्राणिमात्र पर उन २ के पाप पुण्यानुसार है और वह दयालु है तो वेद में हिंसादि अधर्म कदापि नहीं उपदेश करेगा यदि कोई भाष्यकर्त्ता हिंसा आदि विषयक अर्थ करे तो वह ईश्वर के गुणकर्मस्वभाव और विद्या तथा धर्म से विरुद्ध समझा जायगा इस लिये धर्म के अनुकूल और अधर्म का निषेधक जो वेद का अर्थ होगा वही ईश्वरता के अनुकूल माना जावेगा ।

वेदों का अर्थ परमेश्वरने सब लोगों के हितार्थ सुगम क्यों न किया ? इस का उत्तर यह है कि वेद का अर्थ जब ईश्वर ने किया ही नहीं तो सुगम और कठिनकैसे करता ? क्योंकि ईश्वर भाष्यकर्त्ता नहीं है यदि यह अभिप्राय हो कि ऐसे वेदमन्त्र क्यों नहीं बनाये कि जिन के अर्थ में किसी प्रकार का विवाद न पड़ता सब लोग उसी एक अर्थ को समझ लेते तो विचार यह है कि किसी समय विशेष में वेद ईश्वर ने नवीन नहीं बनाये किन्तु ईश्वर की अनादि विद्या है जैसे प्रकृति आदि नाम वाला जगत् का कारण अनादि है उस को प्रतिकल्प में कार्य्यरूप रचता और प्रलय के समय कारणरूप कर देता है वैसे ही सृष्टि के साथ ऋषियों के द्वारा संसार में प्रकट कर देता है । जब ईश्वर ने किसी समय विशेष में वेदों को नवीन नहीं बनाया तो कठिन बनाने का दोष ईश्वर में नहीं आसकता वेदों में ईश्वर कभी न्यूनाधिक भी नहीं कर सकता जो कठिन को सुगम कर देवे । ऐसा हो तो वेद अनादि अपौरुषेय नहीं हो सकते। वेद अपौरुषेय इसी लिये हैं कि किसी समय विशेष में पुरुष नाम ईश्वर ने भी नवीन नहीं रचे हैं । इसलिये जैसे वेद कठिन वा सुगम हैं वे अनादि हैं किसी समय विशेष में बनाये नहीं गये जो दोष आवे । और कठिन सुगम के विषय में एक मुख्य विचार यह है कि जो कठिन है वही किसी के लिये सुगम और सुगम ही कठिन हो जाता है जिस विषय में जिस की बुद्धि किसी संस्कार विशेष के कारण चल गई वही उस के लिये सुगम हो जाता है अर्थात् जिस को अभ्यास करके जान लिया वह सुगम और जिस विषय को नहीं जान पाया वही कठिन हो जाता है । इस लिये यह प्रश्न नहीं बन सकता कि सुगम क्यों न किया ? क्योंकि पहिले कठिन करना जब सिद्ध हो चुके तब यह प्रश्न बने कि सुगम क्यों न किया ? । हम कह सकते हैं सुगम ही किया है कठिन नहीं किया । यदि कहो कि जब सुगम किया है तो देश भाषा में उस का भाष्य सुगम होने के लिये क्यों किया जाता है ? तो कहना बन सकता है कि जैसे आज कल सब देशों की भाषा पृथक् २ देशों में प्रचरित हैं वैसे सब देशों में वा किसी द्वीप में सर्वसाधारण

मनुष्यों की बोल चाल आदि में भी नागरी आदि के समान संस्कृत का प्रचार होता और नागरी आदि का प्रचार आज कल जैसा संस्कृत का है वैसा जहां तहां होता तो निस्सन्देह सब लोग संस्कृत को सुगम और नागरी को कठिन समझते और नागरी का भाष्य संस्कृत में करने की आवश्यकता उस को पड़ती जो नागरी संस्कृत दोनों जानता होता और भाष्य टीका तथा अनुवादों का मुख्य यही प्रयोजन है कि जिस पुस्तक का भाष्य वा अनुवाद किया जाय उस को जो लोग नहीं समझते हैं वे भी उस के तात्पर्य्य को जान लेवें इस से यह सिद्ध हुआ कि सब विषय कठिन और सुगम समझे जाते हैं जो एक को सुगम है वह अन्य को कठिन होता जो अन्य को कठिन है वही किसी को सुगम है इस प्रकार कठिन सुगम शब्द सापेक्ष हैं । दूर जाने की आवश्यकता भी नहीं यही मेरा लेख केवल फ़ारसीनवीस के पास ले जाइये उन को कठिन जान पड़ेगा तथा केवल नागरी वालों को कुछ २ कठिन सुगम दोनों ज्ञात होंगे और संस्कृत नागरी दोनों के ज्ञाता को सुगम होगा इसी प्रकार सर्वत्र जानो । अब रहा वादविवाद कि कोई किसी भाष्य को अच्छा कहता है कोई किसी को, ईश्वर ऐसे सुगम अर्थ वाले मन्त्र रचता जिन में भिन्न २ अर्थ हो ही नहीं सकता तो इस का उत्तर यह है कि मान लिया कि वैसे ही अर्थ वाले मन्त्र बनाता फिर भी यदि उस के अर्थ में वादविवाद होता तो क्या उत्तर देते इस लिये यहां यह विचारणीय है कि मनुष्यों की बुद्धि ही वादविवाद का कारण है किन्तु ईश्वर ने वेद कठिन किये इस लिये अर्थों पर झगड़ा नहीं है ऐसा हो तब तो बालमीकीय रामायणादि ऋषि वा मनुष्यकृत पुस्तकों के अर्थों पर विवाद न होना चाहिये और यह प्रसिद्ध है कि मनुष्यकृत भी ऐसा कोई पुस्तक नहीं कि जिस के अभिप्राय निकालने में सभी की एक बुद्धि हो पुस्तक ही क्या किन्तु जो वचन मुख से निकलता वा लेखनी द्वारा लिखने में आता है वह सब तर्क का विषय कहीं न कहीं देश काल वस्तु भेद से होता ही है । यदि सब का विचार एकसा ही हो तो किसी प्रकार का वादविवाद न होवे सो यह होना भी सम्भव नहीं न कभी ऐसा हुआ न होगा कि सब का एक सिद्धान्त हो जावे यदि सब की बुद्धि एकसी हो तो संदेह, उस की निवृत्ति इन शब्दों को अवकाश ही न मिले और न आप यह शङ्का भी कर सकते इस लिये वात्स्यायन महर्षि का प्रमाण "सत्सु सिद्धान्तभेदेषु वादजल्पवितण्डाः प्रवर्त्तन्ते । नातोन्यथेति" और यह कभी हो भी नहीं सकता कि सब के सिद्धान्त एक हो जावें यदि ऐसा हो तो वैधर्म्यमात्र की निवृत्ति प्राप्त होगी यदि कोई उस की निवृत्ति होना सम्भव समझे तो साधर्म्य जो वैधर्म्य की अपेक्षा रखता है वह भी सिद्ध न हो सकेगा

तो व्यवहार बिगड़ने से प्रलय प्राप्त होगा इस लिये यह विचार कदापि न करना चाहिये कि सब का सिद्धान्त एक हो जावे। और एक मत होने के लिये जो सज्जनों का प्रयत्न है वह मुख्यांश में विशेष कर विद्वानों को निराग्रही होने पर क है सर्वांश में सब का एक मत न कभी हुआ न होगा। मत भेद का मुख्याभिप्राय यही है कि बुद्धिभेद सनातन है किन्तु यह नहीं है कि जैसे किरानी कुरानी पुरानी जैनी आदि मत आज कल समझे जाते हैं वैसे मत सदा से हों। इस से यह आया कि मनुष्यों की बुद्धि भिन्न २ होने से वेदादि के अर्थ में भी वाद विवाद रहता है। निराग्रह हो कर कोई चाहे तो निश्चय भी हो सकता है॥

ऐसी विद्या वेद में कोई नहीं जो अब तक जगत् के उपयोग में न आई हो क्योंकि जब कल्प कल्पान्त सृष्टि प्रलय अनादि काल से हैं तो सभी वेद के विषय देश काल वस्तुभेद से उपयोग में आ जाना सम्भव हैं। कोई विषय किसी देश किसी काल में किसी पदार्थ में उपयुक्त होता—कोई वा वही विषय किसी काल में वा बहुत काल तक किसी देश में वा अनेक देशों में किसी वस्तु वा अनेक वस्तुओं में उपयुक्त हुआ करता है। जैसे देश भेद से द्राक्षा वा नारियल किसी देश में और काल भेद अपने नियत ऋतु समय में उत्पन्न होते हैं। वस्तु भेद जैसे विद्वान् में विद्या सार्थक होती है ऐसे ही वेद के सब विषय देश काल वस्तु भेद से उपयोग में आते हैं वेद उस वस्तु का नाम है जो ऐहिक और पारमार्थिक कर्त्तव्याकर्त्तव्य व्यवहार ज्ञानों का मूल कारण हो इस विचार से जो कुछ विद्या और धर्म सम्बन्धी विचार लौकिक धर्मशास्त्रादि के द्वारा प्रचरित हैं उन सब का मूल वेद है यदि कोई कहे कि जो ऐसा है तो सब लौकिक विचार वेद हो जावेंगे सो नहीं क्योंकि मट्टी से घड़ा बन जाता है तो घड़ा को मट्टी नहीं कह सकते इसी प्रकार सब विद्या और धर्म सम्बन्धी विचार वेद से प्रचरित हुए हैं पर वे स्वयं साक्षात् वेद नहीं किन्तु वेद मूलक तो अवश्य हैं।

और यह भी है कि जो धर्मादि सम्बन्धी ज्ञान वेद से लौकिक ग्रन्थों में आया है उस में मनुष्यों की बुद्धि के साथ देश कालानुसार अनेक प्रकार का ज्ञान संयुक्त हुआ है। यद्यपि वेद सब विद्याओं का मूल कारण है तथापि मनुष्य के कर्त्तव्य की सफलता परमार्थसिद्धि में मुख्य होने से वेद का मुख्य विषय परमार्थसिद्धि है इस कारण जो अङ्ग और उपाङ्गोंसहित वेद को पढ़ेगा उस को अपने पूर्व जन्मस्थ संस्कारों के अनुसार परमार्थ ज्ञान विशेष होगा। पर संस्कारों के भ्रष्ट होने से अत्यन्त न्यून ज्ञान होगा। क्योंकि यह प्रत्यक्ष में दीख पड़ता है कि जितने विद्यार्थी लौकिक वा पारमार्थिक विद्या को पढ़ते हैं उन में से सब एक से विद्वान् नहीं हो जाते किन्तु बहुत कम पूरे विद्वान् होते हैं एक मनुष्य वेद वेदाङ्गों

को पढ़े और द्वितीय अन्य शास्त्रों को पढ़े तो वेदपाठी ही कम विद्वान् होगा और अन्य शास्त्रपाठी बड़ा विद्वान् होगा यह प्रश्नकर्त्ता का अभिप्राय ज्ञात होता है ऐसा होने से वेदज्ञान न्यून समझा जावे सो विचार ठीक नहीं क्योंकि यह कहना तब बन सके कि जब विद्या धर्मसम्बन्धी अन्य शास्त्रों का वेद से कुछ सम्बन्ध न हो। हम पहिले ही कह चुके कि विद्याधर्मसम्बन्धी सब शास्त्र वेदमूलक हैं और उक्त दो विद्यार्थियों को विद्या अपने २ संस्कारों के अनुकूल न्यूनाधिक वा बराबर आना सम्भव है। जैसे कहीं अन्य शास्त्रपाठी अपने पूर्व संस्कारों के अनुसार अधिक विद्वान् हो जावे तो वैसे कहीं वेदपाठी का भी उस से अधिक हो जाना सम्भव है और विद्यार्थियों में विद्या के गुणानुसार बर्त्ताव होना वा न्यूनाधिक विद्या आना शिक्षाप्रणाली के भी आधीन है अर्थात् जैसी शिक्षाप्रणाली में रहे वा जैसे शिक्षक मिलें वैसी विद्या आवे और वैसे विद्वान् हों यह भी सम्भव है परन्तु पूर्वजन्म के संस्कार भी शिक्षाप्रणाली के साथ हों रहेंगे कदाचित् यह अभिप्राय हो कि न्यायादि षट्शास्त्र वा धर्मशास्त्रादि के पढ़ने से जैसी प्रवीणता होती है वैसी वेदपाठियों में नहीं होती तो उत्तर यह है कि न्यायादि शास्त्र भी तो वेदमूलक ही हैं वेद से जिन लोगों ने न्यायादि शास्त्र निकाले हैं उन को जब वेद से न्यायादि के बनाने का ज्ञान हुआ तो वेद का ज्ञान ही मुख्य रहा कि जिस को पढ़कर न्यायादिकों को ऋषि लोगों ने बनाया किन्तु न्यायादि को पढ़ के वेद कोई नहीं बना सकता। और ऋषि लोगो ने तपोबल से जैसे शुद्धान्तःकरण द्वारा न्यायादि को बनाया वैसे आज कल के अन्य विद्यार्थी वेद पढ़ कर न्यायादि को नहीं बना सकते क्योंकि उन के अन्तःकरण ऋषियों के तुल्य शुद्ध नहीं हैं यदि कदाचित् यह अभिप्राय हो कि आज कल अन्य विषयक पुस्तकपाठी (अंगरेजी फारसी वाले) संस्कृत वालों से अधिक चतुर माने जाते हैं तो प्रथम उत्तर यह है कि वे लोग लौकिक विषय में चाहो अधिक चतुर हों क्योंकि उस अंश की शिक्षाप्रणाली के शिक्षक व्यवहार दशा में अच्छे हैं परन्तु अध्यात्म विद्या कि जो वेद शास्त्रों का मूल विषय है उस में संस्कृतज्ञ लोग ही प्रवीण होते हैं हम निस्सन्देह कह सकते हैं कि यदि दोनों विद्यार्थियों के संस्कार शुद्ध और प्रबल हों तथा शिक्षाप्रणाली भी दोनों के पठनीय पुस्तकों की सुधरी हो और शिक्षक लोग भी अपने २ कर्त्तव्य में पूर्ण हों तो वेदपाठी केवल अन्य शास्त्रपाठी की अपेक्षा प्रबल विद्वान् होगा। पर वेदपाठी को वेद के सहकारी अङ्ग और मीमांसा भी पढ़ाई जावे। उपसंहार में समझिये कि वेदज्ञान सर्वोपरि प्रबल ऐहिक पारमार्थिक दोनों का साधक है। किम्बहुनाबुद्धिमत्सु।

भवदनुग्रहापेक्षी—भीमसेन शर्म्मा—सम्पादक आ० सि०

१४४ पृष्ठ के आगे आर्य्यसमाजीयरहस्य के उत्तर विषय में।

हमारे गोस्वामी जी अपने ग्रन्थ में लिखते हैं कि "उसी पञ्चम० वि० पृ० १०५ पंक्ति ११ में और भी रहस्य है इस के अनन्तर शिखा बांध के रक्षा करे शिखा तो गायत्री मन्त्र से बांधी रक्षा क्या करे और किस से करे ?।

विचारशीलो !

इस के उत्तर विषय में मैं यही "कह सकता हूं कि इस के अनन्तर गायत्री मन्त्र से शिखा बांध के रक्षा करे" इस श्रीमत्स्वामिदयानन्दसरस्वती जी महाराज के लेखानुसार भावार्थ पर यदि विचार किया जाय तो यह सिद्ध होता है कि गायत्री मन्त्र से अर्थात् गायत्री मन्त्र का आश्रय करके (जैसा कि गायत्री मन्त्र में परमेश्वर पिता ने हम बालकों के प्रति उपदेश देकर कहा है कि तुम लोग अमुक २ समय मेरी उपासना आदि करो जिस से तुम्हारी बुद्धि उत्तम कर्मों में प्रेरित हो) पूर्व शिखा बांध पश्चात् रक्षा करे॥ यहां (गायत्री मन्त्र का आश्रय? करके ऐसा जो मेरा लेख उस में) पर* आश्रय शब्द से यही प्रयोजन निकलता है कि उस परमेश्वर के ज्ञान (वेद) से विपरीत कर्म्म न करे। अब विचारिये - कि प्रथम शिखा रखने ही का क्या प्रयोजन ? तदनन्तर उस के बांधने का अभिप्राय क्या ? यावत्संशय न होगा तावत् पदार्थ का निश्चय होना ही कठि- है इस अवस्था में बुद्धि पर बल देके जब विचारा जाता है तब वैद्यकमतानुसार वा प्रत्यक्ष प्रमाण के अनुसार यही निश्चित होता है कि इस शरीर में शिर के मध्यभाग को बालकों की जन्मदशा में दशदिन के अनन्तर जिन महाशयों देखा वा सुना होगा वे अवश्य इस मेरे दिये हुए दृष्टान्त को बहुत स्पष्ट समझ सकेंगे कि यहां पर एक नाड़ी अतीव कोमल जो छूते ही लप २ होती हुई जान पड़ती है सुज्ञ जनो ! यह वही नाड़ी है कि हम लोग जिसे शिखा शब्द के संकेत (इशारे) से पुकारते हैं और जिस नाड़ी की एक प्रकार की शक्ति (जो परमेश्वर की दी हुई है) बुद्धि है जिसे पाकर हम लोग बुद्धिमान् कहे जा सकते हैं। और इसी के विकृत होने (बिगड़ने) से बहुत हमारे भाई विक्षिप्त वा मगज़ फिरगया वा मगज़ पर गरमी चढ़गई इत्यादि देशदेशान्तर प्रचलित भाषाओं से कहे जाते हैं इस पर भी यदि किसी महाशय को सन्देह हो वह वैद्यविद्यायुक्त पुस्तक (लिङ्ग) देखें कि उक्त विषयक रोग वालों के शिर पर जल आदि गेरना वा शीतदेश के सेवनादि से वह रोग शांत होता है कि नहीं ?

---

* करण में तृतीया का अर्थ आश्रय होता है यथा पादों से चलता है अर्थात् पादों का आश्रय करके चलता है ॥

अतः इस स्थान का अतिशीत अतिउष्णता (गरमी) तथा अतिवात वर्षा बिन्दुओं के अतीववेग से गिरने आदि उपद्रवों से रक्षा करना बहुतर अपेक्षित है उपसंहार में मैं अपनी तुच्छ बुद्धि से निश्चय इतना ही करा सकता हूं पर यह निश्चय सब सज्जन कर सकें गे कि रक्षा तो अवश्य उक्त स्थान की करना योग्य ही है अब रक्षा का उपाय भी यथामति आपसरीखे महात्माओं की सेवा में निवेदन करता हूं । प्रियबन्धुजनो ! यद्यपि उक्त स्थान की रक्षा के लिये छत्रधारण (छतरी लगाना आदि बाह्य उपाय धनसाध्य तो बहुत हैं पर उन में (बाह्य उपायों ही में) सर्वसाधारण और विशेष जनों के करने योग्य एक उपाय तो मैं जानता हूं कि सत्वादि गुण प्रवर्त्तक जो आहार उस से उत्पन्न जो रस उस के परिणाम से माता का रज पिता का वीर्य्य बनता है उस में से काठिन्य गुणयुक्त जितने अस्थि (हड्डी) आदि वस्तु वे वीर्य्य से तथा मार्द्दवगुण (मुलायमी) युत रक्तादि रज से उत्पन्न होते हैं उन में से केश श्मश्रु (डाढ़ी मूंछ आदि बाल) आदि भी पिता के वीर्य से सर्वत्र उत्पत्ति पाते हुए शिर पर भी जमें हों गे बस ! यहां ही के केश चिरनाशी (मरणपर्य्यन्तस्थायी) किये जावें । और उसी केश समुदाय का नाम शिखा रक्खा जावे जिस की भाषा चोटी है यह चोटी शब्द अति ऊंचे स्थान के भाग में प्रसिद्ध है जैसे हिमालय की चोटी अर्थात् हिमालय का ऊंचा भाग जो उस से ऊंचा उस प्रदेश में न हो उसी प्रकार वह ऊंचा शिर का भाग जिस से ऊंचा शिर प्रदेश में न हो यद्यपि आज कल अविद्या की प्रवृत्ति से सीक पीटने वाले उसे (चोटी को) वहां (ऊंचे भाग) से खिसका कर नीचे भाग में भी ले गये तथापि वह चोटी शब्द अपने नाम के अर्थ को कब छोड़े गा ? यह तो सभी जानते होंगे कि यहां पर केश जब मुण्डित न होंगे तो घाम आदि उक्त दुःख से बाधा कम पहुंच कर बुद्धि सावधान रहे गी और बुद्धि की सावधानता से शास्त्रों का विचार भी अच्छा होगा विचार अच्छे होने पर पण्डितशब्द से वह कहा भी जा सकता है इसी हेतु के विपरीत दर्शक हमारे सैकड़ों भाई केवल चोटीधारण करनामात्र ही अपना धर्म्म मानते हैं अतएव द्विजातिमात्र वेदपाठियों को ही श्रीमहर्षि मनु भगवान् चूड़ाकर्म का अधिकारी कहते हैं जैसे ॥

चूड़ाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्म्मतः ।
प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्त्तव्यं श्रुतिचोदनात्--इति

इस के अनन्तर जो कुछ प्रयोजन हों अन्य महाशयवर कह सकते हैं (सर्वस्सर्वं न जानाति) ॥

अब रहा यह दूसरा प्रश्न कि शिखा बांधने का प्रयोजन क्या है तो यही भान होता है प्रत्युत श्रीमत्स्वामिवर महाराज ने लिखा भी है कि केश इधर उधर न गिरें यदि केश गिरेंगे तो वे वायु आदि के द्वारा भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, चूष्य, पेय अन्नादि संस्कृत पदार्थों को विकारयुक्त करके भोक्ता (भोजन करने वाले) को भी नाना विधि दुःखार्दित करेंगे क्योंकि एक केश की सूक्ष्मता पर दृष्टि पड़ेगी नहीं एक २ उड़ के बहुत होना असम्भव कौन बतला सकता है?—पूर्व प्रकरण को मत भूल जाना! महाशयो! यह विचार बुद्धि ही की प्रबलता से हो सकता है और उस बुद्धि के बढ़ाने की प्रार्थना कोई आस्तिक द्विज गायत्री को छोड़ वेद के और मंत्र से नहीं कर सकता!!! क्योंकि इसी एक मन्त्र में स्तुति प्रार्थना उपासना तीनों गुण मिलते हैं यह हम मुक्तकण्ठ से कह सकते हैं! यदि हो तो उस मन्त्र को कोई दिखलावे (यदि होता तो यह द्विजातिमात्र का गुरुमन्त्र क्यों कहाया जाता—और स्मृतियों में अनेक ऋषि इस की महिमा क्यों गाते) तो सिद्ध हो गया कि गायत्री मन्त्र से शिखा बांधना अर्थात् गायत्री आश्रित अर्थ को समझ के शिखा बांधना।

यद्यपि मुख्य शब्दप्रमाणरूप वेदोक्त विषय अनुमानादि के आश्रित युक्ति के विना ही स्वतःप्रमाण से सिद्ध है तथापि उस के प्रयोजन का खोज अवश्य करना चाहिये क्योंकि प्रयोजन ही उस का फल है। "प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्त्तते" कदाचित् अपनी लघु बुद्धि से प्रयोजन न जान पड़े तो वैदिककर्म का त्याग न कर देवे। परन्तु प्रयोजन खोजने में आलस्य भी न करे। अपनी २ बुद्धि और अनुभव के अनुसार मनुष्यों को अनेक भिन्न २ प्रयोजन प्रतीत हो जाते हैं। श्रीस्वामी जी महाराज ने शिखा बांधने का जो प्रयोजन लिखा है वह तो उक्त प्रकार से ठीक ही है पर उन्हां ने यह नहीं लिख दिया है कि यही एक प्रयोजन है इस लिये एक प्रयोजन मेरी बुद्धि में अन्य भी आया है कि जब कोई किसी को उपदेश करता है तो मुख्यकर्त्तव्य विषय के लिये कहता है कि इस को तुम गांठ बांध लो अर्थात् कदापि भूलना नहीं तब वस्त्र में गांठ दे लेते हैं। ऐसे ही सन्ध्योपासनरूप वैदिककर्म मुख्य परमार्थसाधक है उन के लिये उपदेश है कि तुम शिखा में गांठ दे लो अर्थात् कदापि मत भूलो। और वस्त्र सब समय शरीर के साथ नहीं रहते किन्तु शिखा कभी शरीर से अलग न होगी इसलिये शिखा की ग्रन्थी सन्ध्योपासन के स्मरण का हेतु होगा।

हम इस का परिगणन नहीं कर चुके हैं कि यही प्रयोजन है। किन्तु विवेकी जनों की सेवा में यह निवेदन है कि यद्यपि शब्द प्रमाण में कुछ विशेष कर मुझ अल्प बुद्धि की युक्तियां उस सर्वज्ञ परमात्मा के अनेक प्रयोजन परक मुख्यतः शब्द

प्रमाण वेदानुयायि ऋषियों की अपेक्षा में ऐसी जान पड़ती हैं जैसे हमारे भाई पौराणिकों की एक कंस वा और कोई इस प्रकार के दुष्टों (जिस को यहां ही के बलवान्मनुष्य भी मार सक्ते थे) के मारने के लिये उस महाबलवान् परमैश्वर्य्य युक्त परमेश्वर के अवतार विषयक अतितुच्छ युक्तियां हैं वा एक चींटी के मारने के लिये एक सिंह का उद्योग करने के तुल्य हैं तथापि मेरे सदृश (हमारे आलसी भाई आलस में आके अपने नैत्यिककर्म से हाथ न धोबैठें एतदर्थ यथा श्रीस्वामी जी महाराज ने युक्ति विशेष कर रक्खीं हैं परन्तु वे भी शास्त्रप्रमाणपूर्वक जैसा कि गत अङ्क ९ में मेरा लेख है चाहिये) जनों के सूचनार्थ वे समझनी चाहिये ! अन्यथा शब्द प्रमाण चौथा मानना ही निरर्थक होने पर ।

प्रत्यक्षमनुमानं च शास्त्रं च विविधागमम् ।
त्रयं सुविदितं कार्य्यन्धर्मशुद्धिमभीप्सता ॥

इत्यादि मन्वादि महर्षियों के वचन सब निरर्थक हो जावेंगे तथा च मुख्यतः शब्दप्रमाण वेद जिस पर कि हम सब आर्यमात्र विश्वास कर रहे हैं वह हमारी निर्मित युक्तियों से प्रतिपादित होने विषयक प्रमाण माने जाने से क्या तुच्छ नहीं समझा जा सकता? शोक का स्थान है कि हम लोग ऐसे तुच्छ बुद्धि हो गये जो भारद्वाजादि गोत्र प्रसिद्ध अपने महर्षियों के सन्तान भी कहा कर फेर उन के आचरणों के ऊपर दत्तचित्त नहीं होते और अपने गुणकर्मस्वभावों के न सुधारने में केवल व्यर्थ प्रलाप ही कर २ अपना अमूल्य मनुष्य जन्म पाकर इस को व्यर्थ ही गमाते हैं कोई कह देता है कि कलिकाल का प्रबल राज्य है इस में धर्म कहां कोई कहता है कि विद्या क्या भीख मांगने को पढ़े इत्यादि २ कह कर इस देश को यह प्रत्यक्षवर्त्तनी दशातक पहुंचा दिया चेतो ! चेतो ! परमेश्वर के इशारों को जो जाना चाहो तो केवल विद्या सब से प्रधान जो वेद उस को व्याकरणादि शास्त्र पूर्वक पढ़ो असुर ही मत बने रहो केवल तुच्छ युक्तियों ही के भरोसे मत बैठे रहो बड़े बड़े गूढ़ आशय निकाल सको गे यदि पढ़ो गे तो अन्यथा सुनते ही सुनते (वा ताली बजाते ही बजाते) कृतार्थ न होगे देखो ! (आंख खोल) कपिल जी का वाक्य "नोपदेशश्रवणेनैव कृतकृत्यता परामर्शादृते" इस अभिप्राय को अन्यथा समझने वाले हमारे गोस्वामी जी यदि परे इस कथन में कोई अयुक्त बातें देखें तो अवश्यमेव मुझे सभ्य लेखानुसार सप्रमाण युक्ति सूचित करें यदि अयुक्त न हो तो मानें वा न मानें इस पर हम अधिक बल तो नहीं देते परन्तु इतना अवश्यमेव कह सकते हैं कि:—

यद्यदाचरतिश्रेष्ठस्तत्तदेवेतरोजनः। सयत्प्रमाणंकुरुतेलोकस्तदनुवर्तते

ह० पं० बलदेव शर्मा--निवासस्थान—कायमगंज—जि० फर्रुखाबाद

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥

भाग १ } चैत्र संवत् १९४५ { अङ्क ११

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ॥

गत अङ्क से आगे महामोहविद्रावण का उत्तर ॥

"मनुष्यबुद्धिरचितत्वात्" इति कपटकाषायस्य चरमचेष्टितम्, अत्र ब्राह्मणानि न वेदा मनुष्यबुद्धिरचितत्वादिति न्यायः प्रयोक्तव्यः। सचाऽयमनाकलितन्यायप्रयोगस्य प्रयोगः । यदा हि मनुष्यबुद्धिरचितत्वं ब्राह्मणेषु सिद्धमभविष्यत्तदेदमिदमसाधयिष्यन्मनुष्यबुद्धिरचितत्वमेव तु ग्लायदात्मनः प्रतिष्ठायै स्थानं लब्धुमपारयदशिश्रियद्भवन्मुखविवरमिति विदुषां विचारवर्त्मनि मस्थास्नोरमुष्य क्व नाम साधकत्वप्रत्याशा । किञ्च परमर्षिर्गोतमो वेदप्रामाण्यनिरूपणावसरे स्थूणानि खननन्यायेन वेदप्रामाण्यं द्रढयितुमेवाऽऽशशङ्के "तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः"। तस्य वेदस्याप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः तत्रानृतं यथा "पुत्रकामः पुत्रेष्ट्या यजेत" अनुष्ठितायामपि चेष्टौ न युज्यन्ते पुरुषाः पुत्रैरिति दृष्टार्थस्यास्य वाक्यस्याऽप्रामाण्ये "ऽग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम" इत्यदृष्टार्थकस्य वाक्यस्य प्रामाण्ये कथमाश्वासः । अत्र हि सूत्रस्थतत्पदेन परामृष्टुमिष्टस्य वेदस्याऽप्रामाण्यमाशङ्कमानः "अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम" इति ब्राह्मणस्याप्रामाण्यं दर्शयामास गोतमः । यदि नाम ब्राह्मणं न वेदस्तर्हि वेदाप्रामाण्यसाधनावसरे ब्राह्मणस्याप्रामाण्यप्रदर्शनं

कर्णस्पर्शे कटिचालनायितं स्यात् । नहि प्रेक्षावान् "मैत्रवाक्यं न विश्वसिही" ति कश्चन बोधयंश्चैत्रवाक्यस्य मिथ्यात्वं प्रसाधयेत् तदवश्यं ब्राह्मणं वेद इति परमर्षिरनुमन्यत इति । नच सूत्रस्थतत्पदेन परमर्षिर्नाभिप्रैति निर्देष्टुम् "अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम" इति ब्राह्मणवाक्यम् । अपि तु यत्किञ्चिदन्यदेव संहितावाक्यमिति सर्वं सिकताकूपायितमिति वाच्यम् ।

भाषार्थः—कपटरूप रङ्गे वस्त्र वाले (दयानन्द) संन्यासी का यह अन्तिम हेतु है कि "मनुष्यबुद्धिरचित होने से ब्राह्मण पुस्तक वेद नहीं हैं" यह न्याय इस लिये साध्य है कि न्यायशास्त्र की परिपाटी उसने जानी ही नहीं जो ब्राह्मणभागों में मनुष्यबुद्धिरचित होना सिद्ध होगा तो वह (मनुष्यबुद्धिरचित होना) इन २ बातों को सिद्ध करेगा कि ग्लानि को प्राप्त होता हुआ अपनी स्थिति के लिये स्थान को न पाकर आप (दयानन्द) के मुखरूप छिद्र का ही आश्रय करेगा क्योंकि विद्वानों के विचार मार्ग में उस की स्थिति न होसकेगी तो तुम जैसे अविद्वानों के विना अन्यत्र उस की स्थिति की आशा कहां होगी ? । अर्थात् ब्राह्मणभागों को मनुष्यबुद्धिरचित होना तुम्हारे विना अन्य कोई विद्वान् वा ऋषि नहीं कहता! और परमर्षि न्यायसूत्रकार गोतम जी वेद के प्रामाण्य को निरूपण करने के अवसर पर वेद के प्रमाणभूत होने को दृढ करते हुए यह कहते हैं कि "तदप्रामाण्यं०" अनृत—मिथ्या । व्याघात—परस्पर विरुद्ध और पुनरुक्त दोष होने से वेद का प्रमाण नहीं जैसे "पुत्रकामः पुत्रेष्ट्या यजेत" जिस को पुत्र की कामना हो वह पुत्रेष्टियज्ञ करे इस से पुत्रोत्पत्तिरूप जब प्रत्यक्षफल नहीं होता तो "स्वर्ग की कामना वाला अग्निहोत्र करे" यह स्वर्ग प्राप्तिरूप परोक्षार्थ विधायक वेदवाक्य कैसे सत्य होगा ? । यहां सूत्रस्थ तत् पद से वेद के प्रामाण्य की शङ्का करते हैं तो ब्राह्मण वाक्य का अप्रमाण ठहराना क्या ठीक हो सकता है ? जब ब्राह्मणभाग वेद नहीं है तो वेद का प्रामाण्य सिद्ध करते समय पूर्वपक्ष में ब्राह्मण के अप्रामाण्य का उदाहरण देना (किसी ने कान छूने को कहा उसने कटिभाग चला दिया) इस के समान नहीं होगा ? कोई बुद्धिमान् ऐसा नहीं करता कि "देवदत्त के वाक्य का विश्वास कर ऐसा कहने पर यज्ञदत्त के वाक्य का खण्डन करने लगे" । इस से गोतम ऋषि ने अवश्य ब्राह्मण को वेद माना यह सिद्ध है कोई कह सकता हो कि सूत्रस्थ तत् पद से गोतम जी को ब्राह्मण वाक्य लेना अभीष्ट नहीं किन्तु अन्य संहिता वाक्य लेना ऋषि को अभीष्ट है तो यह कहना वालू में कुआ खोदने के तुल्य होगा ।

इस का उत्तर प्रथम संस्कृत में संक्षेप से दिया जाता है:—

ब्राह्मणं न वेदो मनुष्यबुद्धिरचितत्वादित्यत्र यदुक्तमनाकलितन्यायप्रयोगस्य प्रयोग इति तदनवद्यं कथमपि भवितुं नार्हति किमनाकलितन्यायप्रयोगत्वं तत्र भवति दयादिस्वामिनि कैश्चित्पदैः साधितं भवता ? अयथाबलमारम्भो निदानं क्षयसम्पद इतिवदनाकलितन्यायप्रयोगत्वं तत्र साद्धुमशक्नुवतस्तव वचनमिति विज्ञायते। ब्राह्मणानां मनुष्यबुद्धिरचितत्वस्य नान्यविद्वत्सु स्थितेरवकाश इति यदुक्तं तत्तु ब्राह्मणानि मनुष्यबुद्धिरचितानि न सन्तीति नास्तित्वेन तत्रभवतां निषेद्धॄणामेव मुखाब्जेषु स्थितेरवकाशः स्फुट एव। यदि पण्डितायमाना वागणसीस्था ब्राह्मणानि मनुष्यबुद्धिरचितानीति वाक्यस्य स्वमुखे स्थितेरवकाशं दातुं ग्लायन्ति तर्हि किमर्थं प्रतिषेद्धुं प्रवर्त्तन्ते।

इदानीं नैयायिकशिरोमणिमहर्षिगोतमाचार्यप्रमाणेन ब्राह्मणानां वेदत्वं प्रतिपादयितुं प्रवृत्तास्तद्द्रष्टव्यमेषां पाण्डित्यं विद्वद्भिः "तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः" इत्यत्र प्रकरणे वेदस्य प्रामाण्यं साद्धुं प्रवृत्तेन गोतमर्षिणा ब्राह्मणभागस्योदाहरणानि तेषां वेदत्वमङ्गीकृत्यैव दत्तानीति यद्भवन्मतं तत्र मयोच्यतेः-- न्यायदर्शने किं नामकमिदं प्रकरणं ? किं वेदप्रामाण्यपरीक्षाप्रकरणं निर्णीयते युष्माभिराहोस्विदन्यत्किमपीति। यदि वेदप्रामाण्यपरीक्षाप्रकरणमूरीकृतं तर्ह्युच्यतां किमत्र नियामकं कारणमभिमन्यते ? नान्यदस्तीति तच्छब्दस्य पूर्वपरामर्शकत्वं तु सर्वैः शिष्टैः स्वीक्रियते तदुच्यतां "तदप्रामाण्य०" इत्यतः सूत्रात्पूर्वस्मिन्सूत्रे व्यवधाने वा वेदशब्दः क्वनिर्दिष्टोऽस्ति ? यस्तत्रभवद्भिः पण्डितायमानैः परामृश्यते ? महदाश्चर्यमेतद्यच्छुष्कस्थले निपतनं निरुदके गोष्पदे वा निमज्जनमिति किं भवन्मतानुयायिनो विश्वनाथभट्टाचार्यस्य न्यायसूत्रवृत्तिरपि न समीक्षिता युष्माभिः ?। कुतः समीक्षेरन्! समीक्षणन्तु हार्दनेत्रोन्मीलनमन्तरेण

नैव संजाघटीति । हार्दनेत्रे चावैदिकमार्गवायुनेरितयेतरेतरवि-
रुद्धशैवशाक्तादिमतोत्थपक्षपाताद्यात्मिकया धूल्या निमीलितेस्त
इति । विश्वनाथेन चास्य प्रकरणस्य "शब्दविशेषपरीक्षाप्रकरणम्"
इति नाम धृतम् तत्तु न्यायभाष्यानुकूलमस्ति भाष्यकर्त्रा वात्स्या-
यनर्षिणा च तदप्रामाण्यमित्यस्योपरि तस्य शब्दस्य प्रमाणत्वं न
सम्भवति" इत्युक्तम् । तदेतत्पूर्वमुपपादिताच्छब्दसामान्यपरी-
क्षाप्रकरणस्थात् " शब्दोऽनुमानमर्थस्यानुपलब्धेरनुमेयत्वात् "
इति सूत्रात्तदित्यनेन शब्दः परामष्टुमुचितएव । एतन्मत्वैव भा-
ष्यकारेण शब्दस्येत्युक्तम् । भाष्यकारेण चाप्रसक्तो वेदस्तच्छब्देन
कथमितरजनवदनर्गलं परामृश्येत । सत्यां च शब्दविशेषपरीक्षा-
यामाप्तोक्तशब्दसामान्यपरीक्षापेक्षया वेदब्राह्मणयोः शब्दविशेष-
त्वेन परीक्षा कर्त्तुं युक्तैव । नैव ब्रूमः शब्दविशेषपरीक्षणे वेदो
न ग्राहिष्यत इति किन्त्विदं ब्रूमो नियामकाभावाद्वेदस्यैव ग्रही-
तारः परास्ता भवन्तीति वेदब्राह्मणस्मृतीनां चातिसन्निकृष्टसम्ब-
न्धोऽस्त्यतो शब्दविशेषपरीक्षायां वेदब्राह्मणे एव विशेषतः संख्या-
येते । प्रत्युत ब्राह्मणस्यैव शब्दविशेषपरीक्षायां संख्यानं समुचि-
तम् । मूलवेदस्य च सूर्यप्रदीपवत्स्वसिध्यर्थं प्रमाणान्तरापेक्षा-
मन्तरेणैव स्वतः सिद्धत्वात्तस्य परीक्षा कर्त्तुमनुचितेत्यन्तःकृत्य
विशेषतो ब्राह्मणभागस्यैव परीक्षार्थमुदाहरणान्युपपादितानि म-
हर्षिणा। मूलवेदस्य च नास्तिकादिकृतोपालम्भनिरासार्थमेव स्व-
स्वान्ते याथार्थ्येन स्थितस्यापि परीक्षणमिव परीक्षणं गौणमिति
महर्षीणामाशयोऽवगन्तव्य इति । नैव कस्यचिद्वैदिकमतावल-
म्बिन आस्तिकस्य दृष्टौ मूलवेदस्य साध्यत्वं सम्भवति । अने-
नेदमायातं गोतमादिमहर्ष्यनुमतं ब्राह्मणपुस्तकानामनादिमूलवेद-
त्वं न सम्भवतीति । यत्र कुत्रचिद्येन केनचिद्यदा कदाचिद्वेदवि-
चारावसरे ब्राह्मणवाक्यान्यपि संगृहीतानि तत्र लक्ष्यलक्षणे व्या-

करणमितिवद्व्याख्यानव्याख्येययोस्तादात्म्यसम्बन्धेन व्याख्येयवेदत्वावच्छिन्नधर्मस्य व्याख्य.नेष्ववस्थितेर्गौणं वेदत्वं ब्राह्मणानां सम्भवतीति मत्वा संगृहीतानि । यदि व्याख्येयत्वावच्छिन्नो धर्मो व्याख्याने न संतिष्ठेत तर्हि व्याख्यानस्य व्याख्यानत्वमपि न प्रसज्येत । अथवा तद्वन्मत्वा तत्र तत्र ब्राह्मणवाक्यान्युदाह्रियन्ते यथा च छन्दोवत्सूत्राणि भवन्तीति छन्दसि विहितं कार्यं मनुष्यबुद्धिरचितेषु सूत्रेष्वपि दृश्यते तर्हि मनुष्यबुद्धिरचितेषु ब्राह्मणेषु दृश्येत तत्र किमाश्चर्यमिति । इदानीमुपसंह्रियते मनुष्यबुद्धिरचितानि ब्राह्मणानीति तद्वाक्यैरेव सिद्धमिति पूर्वाङ्केष्वप्यस्माभिरुपापादीति शमग्रे ॥

भावार्थः—ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में (श्रीस्वामी दया० जी महाराज ने) जो लिखा है कि ब्राह्मणपुस्तक मूल वेद नहीं किन्तु वेद के व्याख्यान हैं इस पर वहां पांचवां हेतु (कारण) दिया है कि "मनुष्यबुद्धिरचितत्वात् । मनुष्यबुद्धिरचित होने से" इस पर महामोहविद्रावणकर्त्ता वाराणसीस्थ पं० महाशय कहते हैं कि यह वचन न्यायशास्त्र की शैली का बोध न होने से कहा गया है पर न्यायशास्त्र की परिपाटी से विरुद्ध होना किसी प्रकार सिद्ध नहीं किया तो कैसे? विश्वास कर लिया जावे कि स्वामीदया० जी न्यायशास्त्र को नहीं जानते थे। कोई किसी से कह देवे कि तुम चोर हो और उस के चोर होने का प्रमाण (साबूती) कुछ न दे सके तो क्या किसी के कहनेमात्र से वह चोर हो जावे गा? कदापि नहीं और यह उचित भी नहीं जान पड़ता कि जब शास्त्र के नियमानुसार किसी विषय का खण्डन मण्डन करने लगे तो शास्त्ररीति से उत्तर देना चाहिये यह क्या बात है कि पहिले उस मनुष्य को ही बुरा कहने लगना? आगे लिखा है कि "ब्राह्मणपुस्तक मनुष्यों के बनाये हैं" इस वाक्य को अन्य किसी विद्वान् के मुख में अवकाश न मिला तो ग्लानि में आ कर नीचस्थान अर्थात् स्वामि दयानन्द जी के मुख में घुस गया" यद्यपि यह कोई वाक्य शास्त्रीय नहीं है कि जिस का कुछ उत्तर हम देवें (हमारी प्रतिज्ञा शास्त्रीय विषय पर उत्तर देने की है) तथापि इतना अवश्य कहते हैं कि जब काशी के विद्वानों ने ब्राह्मणपुस्तकों के मनुष्यबुद्धिरचित होने को अच्छा न समझा तभी तो उन के मनुष्यबुद्धिरचित होने का निषेध किया अर्थात् जब कहा कि "ब्राह्मणपुस्तक मनुष्यबुद्धिरचित नहीं तो "नहीं" शब्द से पहिले वही वाक्य काशीस्थ विद्वानों के मुख में पहुंच गया।

काशी के ही क्या किन्तु जिन २ विद्वानों ने महामोहविद्रावण पढ़ा होगा उन सब के मुख से उक्त वाक्य का उच्चारण हुआ ही होगा फिर यह कहना किस युक्ति से बन सकता है ? कि अन्य विद्वानों के मुख में उक्त वाक्य नहीं ठहरता।

अब नैयायिक शिरोमणि महर्षि गोतमाचार्य जी के प्रमाण से ब्राह्मणपुस्तकों को वेद ठहराने के लिये प्रवृत्त हुए महामोहविद्रावणकर्त्ता की पण्डिताई देखिये "तदप्रामाण्यम्०" इस न्याय सूत्र से वेद का प्रमाण सिद्ध करने के लिये पूर्व पक्ष किया है उस पर भाष्यकार महर्षि वात्स्यायन जी ने ब्राह्मणपुस्तकों के उदाहरण दिये हैं इस से न्यायकर्त्ता महर्षि का अभिप्राय प्रसिद्ध है कि ब्राह्मणपुस्तक भी वेद ही हैं क्योंकि वेद का प्रमाण सिद्ध करने में अन्य का उदाहरण देना नहीं बन सकता इस पर हम पूछते हैं कि महामोहविद्रावणकर्त्ता जी ! कहिये तो सही न्यायदर्शन में यह कौन प्रकरण है ? क्या आप ने इस को वेदप्रामाण्य परीक्षा प्रकरण समझा है ? वा अन्य कोई यदि वेद परीक्षाप्रकरण समझा है तो कहिये कि वेदपरीक्षा प्रकरण के होने में क्या नियम है ?। तत् शब्द से पूर्वप्रतिपादित विषय लेना यह तो सब आर्यों का सिद्धान्त ही है पर आप कहिये कि "तदप्रामाण्यम्०" इस सूत्र से पहिले वेदशब्द किस सूत्र में पढ़ा है ? जो तत् शब्द से लेना चाहिये । बड़े आश्चर्य्य की बात है कि जो सूखे स्थल में खिसक पड़ना वा निर्जलभूमि में अथवा गौ के पग भर जल में डूब जाना !!! अर्थात् इन लोगों ने विश्वनाथ भट्टाचार्य्यकृतन्यायसूत्र की वृत्ति भी नहीं देखी ? जो प्रकरण का नाम तो मालूम हो जाता कि यह कौन प्रकरण है ?। यहा ऐसा प्रतीत होता है कि हृदय के नेत्र खोले बिना देखना अर्थात् उस विषय को यथार्थ जानना नहीं बन सकता और इन लोगों की हृदय सम्बन्धी दृष्टि अवैदिकमार्गरूप वायु से प्रेरित परस्पर विरुद्ध शैवशाक्तादि मतों से उड़ी पक्षपातादिरूप धूलि से आच्छादित हो रही है इसी कारण विश्वनाथ की वृत्ति भी न दीख पड़ी विश्वनाथ ने इस प्रकरण का नाम "शब्दविशेषपरीक्षा" प्रकरण रक्खा है सो न्यायभाष्य के अनुकूल है और भाष्यकार वात्स्यायन ऋषि ने भी लिखा है कि "तस्य शब्दस्य प्रमाणत्वं न सम्भवति" उस पूर्वोक्त शब्द का प्रमाण मानना ठीक नहीं है अर्थात् उक्त सूत्र में तत् शब्द करके शब्दप्रमाण का आकर्षण करना चाहिये । और पूर्व से शब्दपरीक्षा का प्रसङ्ग भी चला ही आता है । यद्यपि शब्द प्रमाणान्तर्गत वेद भी आता है इसी लिये हम यह प्रतिज्ञा नहीं करते कि शब्द विशेष परीक्षा कहने में वेद की परीक्षा न आवे गी परन्तु यह प्रतिज्ञा अवश्य करते हैं कि शब्द विशेष परीक्षा में केवल मूलवेद ही लिये आवें और ब्राह्मणादि न लिये

जावें यह कोई सिद्ध नहीं कर सकता क्योंकि शब्द सामान्य में हम लोगों के विश्वास योग्य व्यवहार के शब्द भी आ सकते हैं और शब्द विशेष कहने से श्रुति स्मृति ही ली जावेंगी। इस में भी मूल वेद सूर्य के समान स्वतः प्रकाशस्वरूप है उस की परीक्षा करना सर्वांश में ठीक नहीं जैसे सूर्य को देखने के लिये द्वितीय सूर्य वा दीपकादि की अपेक्षा नहीं होती वैसे किसी अन्य प्रमाण से वेद की परीक्षा करना नहीं बनता इसी कारण शब्द विशेष परीक्षा में महर्षि वात्स्यायन जी ने विशेष कर ब्राह्मणभागों के उदाहरण दिये हैं। जो कुछ वेद परीक्षा हो सकती है तो वेद से ही हो सकती है। और बड़ाभारी आश्चर्य तो यह है कि महामोहविद्रावणकर्त्ता जिन न्यायकर्त्ता महर्षि के प्रमाण से अपने पक्ष को सिद्ध करना चाहते हैं उन्हीं ऋषि के उसी प्रमाण से इन का पक्ष खण्डित होता है किन्तु सिद्ध कुछ भी नहीं होता। सूत्रकार और भाष्यकार ऋषियों ने "तदप्रामाण्यम्०" इस सूत्र से पूर्व कहीं भी वेद शब्द का नाम नहीं लिया इसी से इस सूत्र में तत् शब्द से वेद का परामर्श नहीं किया किन्तु शब्द का परामर्श किया और ऋषि लोग ऐसा अप्रसङ्ग का वर्णन इन लोगों के तुल्य क्यों करते?। क्योंकि ऋषियों में पक्षपातादि दोष नहीं होते हैं। ऋषि लोगों ने कहीं २ वेद विचार प्रकरण में ब्राह्मणपुस्तकों के वाक्य भी रक्खे हैं सो व्याख्यान व्याख्येय का तादात्म्यसम्बन्ध मान के "तदेव सूत्रं विगृहीतं व्याख्यानं भवति" कहा है अर्थात् व्याख्येय मूल पुस्तक में जो पद हैं उन्हीं का लौट पौट कर वा उपयोगी अन्य पद लगा कर अन्वित कर देना व्याख्यान कहाता है इस कारण ब्राह्मणवाक्य वेद विचार प्रकरण में लेना अनुचित नहीं अथवा ब्राह्मणवाक्यों को वेद के तुल्य मान के उदाहरण देना बन सकता है "छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति" इस के अनुसार जब व्याकरणादि के सूत्रों में वेद के तुल्य कार्य होते हैं तो वेद के अतिनिकटवर्ती ब्राह्मणभागों में वेद तुल्य कार्य्य होवें तो कुछ आश्चर्य की बात नहीं है। यदि वेद में जैसे कार्य होते हैं वैसे ब्राह्मणों में होने से उन को मूलवेद मान लिया जावे और मनुष्यबुद्धिरचित न माना जावे तो सूत्रादि को भी ऋषिरचित न मानना चाहिये क्योंकि वहां भी छन्दोवत् कार्य होते हैं तो उन को भी वेद मान लिया जावे? जब ऐसा नहीं होता तो ब्राह्मणभाग भी मूलवेद नहीं हो सकते और ब्राह्मणभागों का मनुष्यबुद्धिरचित होना उन्हीं के पदवाक्यों की रचना से सिद्ध हो जाता है किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता भी नहीं है सो पूर्व अङ्कों में भी लिख चुके हैं॥ क्रमशः ह० भी० श०

अङ्क ९ के पृ० १३९ से आगे महाराज वेंकटगिरि जी के उत्तर

१०—उपासना तथा समाधी से अपने मैल को निवारण करके, आत्मा में स्थिर हो के, परमात्मा के ऊपर चित्त को धरते हैं, उन को परमात्मा के सम्बन्ध से होता सुख मुख से कहना नहीं हो सक्ता यह सुख अपने अन्तःकरण से जानना चाहिये ऐसा स्वामी ने लिखा है इस पर मेरी आकांक्षा है कि वह सुख परम-सुख हो तो दयानन्दस्वामी वह समाधी में बहुत काल रह के परमानन्दानुभव करते रहते परन्तु वे ऐसा नहीं करते थे और बहुत काल लौकिकानन्द में ही रहते थे आप ऐसा रह के समाधी में प्राप्त होने वाला सुख अनिर्वाच्य है ऐसा लिखा है सो शिष्य प्रतारण के वास्ते है ऐसा मेरे ख्याल में आता है।

१०—(उ०) इस में कुछ भी सन्देह नहीं कि समाधि और उपासना से जो सुख होता है उस को वही उपासक यथावत् जान सकता है और उस सुख के तुल्य संसार में कोई सुख नहीं जिस का दृष्टान्त (मिसाल) कोई दे सके। उस के समझने का एक दृष्टान्त है:—अर्थात् सब प्राणिमात्र को निद्रा (सुषुप्ति) का कुछ २ अनुभव रहता ही है। यद्यपि निद्रा का कारण तमोगुण है तद्यथा "निद्राहेतुस्तमः प्रोक्तं जागरणे सत्वमुच्यते इति सुश्रुते" निद्रा का हेतु तमोगुण और जागने का कारण सत्वगुण है जिस निद्रा में तमोगुणरूप राजा का मन्त्री सत्व-गुण रहता है तब वह मनुष्य निद्रा से उठ कर कहता है कि—

सुखमहमस्वाप्सं प्रसन्नं मे मनः प्रज्ञां मे विशारदी करोति।
इति योगशास्त्रे व्यासभाष्यम् ॥

मैं आज अत्यन्त सुखपूर्वक सोया मेरा मन अतीव प्रसन्न है मेरी बुद्धि को ऐसा सोना निर्मल करता है परन्तु वह सोने वाला यह नहीं जानता कि वह सुख निद्रा में किस कारण से किस प्रकार और किस पदार्थ के मिलने से हुआ था? किन्तु विचारशील पुरुष जानते हैं कि वही आत्मसम्बन्धी सुख है कि जो समाधि और उपासना द्वारा मनुष्य के अनुभव में आता है सो यह केवल तमोगुण राजा का मन्त्री सत्वगुण होने से होता है और जहां (समाधि में) सत्वगुण स्वयं स्वतन्त्र राजा रहता है वहां का सुख जितना होना चाहिये उस का अनुमान निद्रा सुख से ही कर लीजिये। समाधि सुख की उत्तमता युक्ति से ही सिद्ध हो सो नहीं किन्तु शास्त्रकारों ने भी इस की बहुत ही उत्तमता कही है तद्यथाः—

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं तदा गिरा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ॥

समाधिरूप नदी में गोता लगाने से जिस का मल धोया गया ऐसा चित्त जब आत्मा में लगाया जाता है तब जो सुख होता है उस का वर्णन वाणी से नहीं हो सकता किन्तु उस का स्वयमेव अन्तःकरण से ग्रहण होता है और भगवद्गीता में श्रीकृष्णचन्द्र जीने भी कहा है:-

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥

समाधि अवस्था का जो अत्यन्त सुख है उस का इन्द्रियों से ग्रहण नहीं होता किन्तु उसी उपासक की (इन्द्रिय द्वारा पहुंचने वाली विषयों की चञ्चलता से रहित अर्थात् वायुरूप विषयों से उठने वाली वृत्तिरूप जलतरङ्गों से रहित) अविकारिणी सूक्ष्म बुद्धि से ही ग्राह्य है । उस समाधि अवस्था में न तो कुछ बाह्यविषय जानता और न विषयादि के साथ अपने स्वरूप को कदापि छिपाता है इत्यादि प्रमाण और युक्तियों से ठीक २ सिद्ध है कि समाधि और उपासना से होने वाला सुख सर्वोपरि है वह केवल अन्तःकरण से जाना जाता है । और उस के स्वाद को वे ही योगी जन जानते हैं कि जिन ने संसारी सुख छोड़ के उसी सुख में अपने कर्त्तव्य को सफल समझ लिया हो किन्तु अन्य नहीं जान सकते अब इस में केवल इतना विचार शेष रहा कि श्रीस्वामिदयानन्दसरस्वती जी भी इस समाधि सुख को पूर्वोक्त प्रकार से ही समझते थे फिर स्वयं उसी सुख में क्यों न रहे? संसारी कामों में अधिक क्या रहते थे?। इस का उत्तर यह है कि यदि एक विषय को कोई मनुष्य यथार्थ स्वरूप से समझता हो और समयानुसार उस उपकार की अपेक्षा संसार का उद्धार करना सर्वोपरि समझता हो क्योंकि उस समाधि से केवल अपना ही उपकार देखे और अपने एक के उपकार से सब का उपकार करना अत्यन्त उत्तम है ऐसा मान कर करता हो तो क्या वह समाधि सुख का दोष कोई कह सकता है?। अथवा एक विषय को किसी ने यथावत् जान के भी किसी कारण न कर पाया वा न किया तो वह विषय ही झूठा समझ लिया जावे यह कोई बुद्धिमान् मान लेगा?। श्रीमान् स्वामिशङ्कराचार्य्य जी ने भी स्वयं एकान्त में सेवने योग्य सर्वोत्तम समाधि सुख को छोड़ के जैनादि नास्तिकरूप ग्राहगृहीत वैदिकधर्म को बचाया और वैदिक धर्म रूप सूर्य पर धूलि डालने वालों के दुष्ट कर्म को ध्वस्त कर कुम्हिलाये हुए वैदिकधर्मानुयायियों को प्रफुल्लित किया । ऐसे ही जो २ महात्मा ऋषि महर्षि होते आये उन्हों ने जब २ वैदिकधर्म की हानि देखी तब २ अपने सुख को छोड़ कर भी लोक का उद्धार किया जैसे श्रीकृष्णचन्द्र जी ने दुष्ट कंसादि अधर्मियों को मार कर धर्मात्मा

और धर्म की रक्षा की क्योंकि सत्पुरुषों का जन्म ही धर्म की रक्षा और अधर्म की हानि करने के लिये होता है । तथा चाह भर्तृहरिः—

एते सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये,
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये ।
तेऽमीमानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये,
ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे ॥

अर्थः—जो लोग अपने स्वार्थ को छोड़ के (स्वार्थ भले ही बिगड़े परन्तु परोपकार अवश्य करें ऐसी बुद्धि से) परोपकार करते हैं वे ही सत्पुरुष कहाते हैं और स्वार्थ को न छोड़ के जो परोपकार करते हैं वे सामान्य पुरुष हैं । और मनुष्यों में राक्षस वे हैं जो अपने प्रयोजन के लिये संसार की हानि करते हैं क्योंकि मनुष्यों में राक्षस सब से नीच हैं । और जो अपना कुछ प्रयोजन वा स्वार्थ सिद्धि न होने पर भी दूसरों की हानि करते है उन का राक्षसों से भी नीचे क्या नाम रक्खा जावे ? । यह हम नहीं जानते । इस से यह सिद्ध हुआ कि सत्पुरुषों का सत्पुरुषपन यही है कि वे अपने स्वार्थ को छोड़ कर भी परार्थ करते हैं स्वार्थ परार्थ दोनों काम यथावत् चल भी नहीं सकते किन्तु एक ही काम ठीक २ होता है इसी लिये दोनों करने वाले सामान्य कहाते हैं । इसी विचारानुसार सत्पुरुषों के कर्त्तव्य को श्रीस्वामी दयानन्दसरस्वती जी ने भी पालन किया । और यह कथन ठीक २ विचार पूर्वक ज्ञात नही होता कि "वे अधिक कर लौकिकानन्द में ही रहते थे" स्वा० द० जी लौकिकानन्द में कुछ भी नहीं रहते थे । यह किसी को छिपा नहीं है कि वे कैसे आबालवृद्ध पूर्णब्रह्मचर्य्य से युक्त रहे यदि लौकिकानन्द में लिप्त होते तो अखण्डब्रह्मचर्य्य का निर्वाह करना अत्यन्त दुर्लभ था । जिन मतवादी लोगों की ढोंगलीला स्वामी जी ने खोलदी उन्हों ने सब प्रकार की बुराइयां कीं पर यह अब तक किसी ने प्रसिद्ध नही किया कि उन का ब्रह्मचर्य्य अमुकस्थान में खण्डित हुआ और यह भी नहीं कोई कह सकता कि उन्हों ने देशोपकार करते समय ईश्वरोपासना सर्वथा छोड़ दी होवे किन्तु इस बात को सैकड़ों नहीं तो हजारों लोग जानते हैं कि वे यथावकाश नित्य नियम से ईश्वरोपासना भी करते थे । इस से उन को समाधि और उपासना से होने वाले सुख का अनुभव अवश्य था इसी लिये उन्हो ने सत्यार्थप्रकाश में समाधि सुख को अनिर्वाच्य लिखा है शिष्यों को ठगने के लिये नहीं लिखा है । शिष्यों को प्रतारणा के लिये जो लोग कुछ विषय प्रकट करते हैं उन का कुछ स्वार्थ भी उस कर्त्तव्य से झलकता है परन्तु स्वामि दया० जी का स्वार्थ किसी प्रकरण से सिद्ध नहीं हो सकता ।

११-(प्र०) उपासना शब्द का अर्थ लिखने में ईश्वर के सन्निधी में रहना, याने अष्टाङ्गयोग से परमात्मा को जीव समीपस्थ होता ऐसा स्वामी ने लिखा है इस पर मेरा प्रश्न है कि ऐसा लिखने से परमात्मा दूरस्थ हुवे सरिखा और उपासना से जीव समीपस्थ हुये सरिखा ज्ञात होता है इस पर से ईश्वर की अपूर्णता और परिच्छिन्नता दीख पड़ती है ॥

११-(उ०) सत्यार्थप्रकाश में जो लिखा है कि ईश्वर के समीप रहना अर्थात् अष्टाङ्गयोग से परमात्मा के समीपस्थ जीव का होना यह उपासना शब्द का अर्थ है इस में महाराजावेङ्कटगिरि जी का प्रश्न है कि जो ईश्वर को सर्वव्यापक मानो तो दूर और समीप कहना न बने गा ईश्वर सब पदार्थों के साथ सर्वदा रहेगा दूर समीप मानने से ईश्वर एकदेशी पाया जाता है । इस पर विचार यह है कि सत्यार्थप्रकाश में उक्त प्रकार का उपासनार्थ यथार्थ है उस में कुछ भी सन्देह नहीं किन्तु थोड़ा समझ का भेद है जैसे कोई मनुष्यों में किसी प्रकार का परस्पर वैर विरोध हो जाता है तब एक दूसरे से कहता है कि आज से हम तुम से दूर हुये अर्थात् अब से हमारा तुम्हारा कुछ सम्बन्ध नहीं है किन्तु उस का यह अभिप्राय नहीं होता कि वे दोनों मनुष्य अब किसी देश ग्राम वा सभा आदि में एकत्र न हों किन्तु यह तात्पर्य होता है कि वे दोनों परस्पर मिल के कुछ उपयोग नहीं ले सकते और जिन २ का परस्पर विशेष आत्मर्य मेल होता है तो वे परस्पर बिछुड़ते समय भी कहते हैं कि हम तुम सदा ही समीप हैं क्योंकि हम दोनों का अन्तःकरण मिला है । और ऐसे ही कृत्य भी देखने मे आते हैं कि जब किसी मित्र अतिनिकट सम्बन्धी भाई पर किसी प्रकार की आपत्ति आजाती है तब सुनते ही समय द्वितीय मित्र देशान्तर से आ जाता है और उसी ग्राम के रहने वाले वहां तक नहीं पहुंच सकते इस से भी यह सिद्ध हुआ कि वही समीप है जो शीघ्र सहायता करे यह वार्त्ता लौकिक व्यवहार से ही सिद्ध हो सो नहीं किन्तु न्यायभाष्य (वात्स्यायनऋषिकृत) में भी लिखा है तद्यथाः—

यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य सः ।
अर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्यमकारणम् ॥

जिस का जिस के साथ अर्थ सम्बन्ध (सुख हेतु) हो वह दूरस्थ भी उसी का है और जिन का कुछ सम्बन्ध नहीं उन के समीप होने से भी एक दूसरे का प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता । और वेद में भी यही लिखा है कि " तद्दूरे तद्वन्तिके" यह ईश्वर इन्द्रियारामों से अत्यन्त दूर है क्योंकि वे इन्द्रियों से भोग्य विषयों में ही सर्वदा लिप्त रहते हैं और इन्द्रिय तथा विषयों से ईश्वर बहुत दूर है तद्यथाः—

इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसश्च परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किञ्चित्साकाष्ठा सा परागतिः ॥ इति कठोपनि०

इन्द्रिय, विषय, मन, बुद्धि, महत्तत्व, अव्यक्त प्रकृति और पर पुरुष ये सब एक दूसरे से पर २ सूक्ष्म हैं परमेश्वर सब के अन्त में है उस से परे फिर कोई वस्तु नहीं अब देख लीजिये कि पूर्व पङ्क्ति में इन्द्रियों से ईश्वर कितनी दूर है अर्थात् इन्द्रिय ग्राह्य विषयों से भी मनुष्य की दृष्टि में ईश्वर अत्यन्त दूर है कि जैसा ऊपर लिखा है और जो ईश्वर की भक्ति करता है वह इन्द्रियादि से लिप्त न हो के केवल अपने आत्मा को ईश्वर में लगाता है वह ईश्वर के निकट और ईश्वर सदा उस के निकट है इस प्रकार समीप और दूर मानने से ईश्वर में परिच्छिन्नत्व दोष नही आता अर्थात् ईश्वर विद्वानों के समीप और अविद्वानों के दूर है । इस प्रकार उपासना के समीपार्थ में कोई दोष नहीं आ सकता ।

१२-(प्र०) सत्यार्थप्रकाश में स्वामी ऐसा प्रश्न करते हैं कि उपनिषदों में एक में आगे सत् रहता था एक में आगे असत् रहता था एक में आगे आत्मा रहता था एक में आगे ब्रह्म रहता था इसी लिये यह चारो भी अनादि हैं और तैत्तिरीय में परमात्मा अपने इच्छा से बहुरूप भया उस को जगत् कहते हैं वह सब ब्रह्म है वह दूसरा पदार्थ नहीं है ऐसा लिख के उस का उत्तर लिखते हैं कि चैतन्यमात्र अखण्डैकरस ब्रह्मस्वरूप में नानारूप संम्बन्ध नहीं हुये तो न्यारे २ स्वरूप से परमेश्वर के आधार से है यह भाषण का पूर्वोत्तर विरोध का आप ही लोग ख्याल करो ॥

१२-(उ०) इस बारहवें प्रश्न का उत्तर कुछ भी देने योग्य नहीं क्योंकि सत्यार्थप्रकाश के अष्टम समुल्लास को निकाल कर देखा तो वहां सृष्टि विषय में कुछ भी परस्पर विरोध नहीं कि सृष्टि ईश्वर से कई प्रकार उत्पन्न हुई हो केवल प्रश्नकर्त्ता को उचित था कि आलस्य को छोड़ परिश्रम सहित उस के देखते वा किसी आप्त पण्डित से उस का अभिप्राय सुन लेते तो ज्यों का त्यों वहां लिखा है । यह सब विद्वान् जानते ही हैं कि पूर्वपक्ष उत्तरपक्ष दोनों का परस्पर विरोध होता ही है यदि विरोध न हो तो पूर्वोत्तर दो पक्ष ही न बन सकें । इस लिये पूर्वपक्ष (प्रश्न) में कहे प्रलयावस्था के सत् असत् आदि का उत्तर पक्ष में व्यवस्था हो गई और "इस चेतनमात्र अखण्डैकरस ब्रह्मस्वरूप में नाना वस्तुओं का मेल नहीं अर्थात् परमेश्वर अनेक वस्तुओं से मिल कर नहीं बना है" यह अभिप्राय

उस सत् असत् से हुई सृष्टि के उत्तर में नहीं किन्तु वेदान्ति लोग जो इस वचन "सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन" को पढ़ते हैं कि यह जगत् सब ब्रह्मरूप ही है और ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं है इस के उत्तर में स्पष्ट कर लिखा है और सत् असत् विषयक उत्तर उस से पहिले ही उसी पृ० २१० में दिया है इस लिये इस लेख में परस्पर कुछ भी विरोध नहीं है अच्छे प्रकार निष्पक्ष हो कर विचारना चाहिये ॥

भवन्मित्रो—भीमसेन शर्म्मा—सम्पादक आर्य सि०

गत अङ्क १० के पृ० १६० से आगे आर्यसमाजीयरहस्य का उत्तर

इसी विषयक श्री गोस्वामी जी के वाक्य में तृतीय पद " रक्षा क्या करे और किस से करे" का उत्तर—:

अनेक देश भाषाओं के विज्ञजनो ! आप लोग विचारिये तो ! (शिखा तो गायत्री मन्त्र से बांधी रक्षा क्या करे और किस से करे) इस गोस्वामी जी महाराज के लेख में जो "क्या करे" ऐसा पद है इस का अभिप्राय कुछ आप लोगों को विदित हुआ ? हां इतना तो मैं भी प्रकरणानुसार जान सकता हूं कि अगले (किस से करे) पद से कदाचित् किस की करे ऐसा अर्थ हो । हम अपने गोस्वामी जी से सानुनय निवेदन करते हैं कि सरल पद जो कि सर्वसाधारणमात्र मनुष्यों की समझ में आ जाया करें वे ही पद अपनी देश भाषा में स्वग्रन्थ में लाया करें न कि देशान्तर भाषा के जैसा कि ऊपर लिख आया हूं और प्रायः मुख्य करके तो संस्कृत (जो सरल हों) के पद आने आवश्यक है क्योंकि हमारी प्रतिष्ठा देने वाली और गौरव बढ़ाने वाली मातृभाषा के सिवाय दूसरी कोई विद्या राजसम्बन्ध से हम लोगों ने कैसी ही क्यों न पढ़ी हो पर संस्कृत के सदृश नहीं हो सकती और हम उस के पदों को भी ठीक २ तौर पर न लिख सकते न शुद्ध कह सकते हैं इसी प्रकार संस्कृत विद्या को भी चाहो अत्यन्त विद्वान् सुबुद्धि ही से अन्य देशीय जन क्यों न पढ़लें तथापि जैसा हम शुद्ध बोल सकते वैसा वे नहीं बोल सकते सिद्धान्त यह है कि जिस देश की जो वाणी है जिसे अपने माता पिता आदि द्वारा सुनते सुनाते सीखते सिखाते-चले आते हैं उस वाणी का अवश्य कुछ असर पड़ता ही है देखिये ! हम उन्हीं महाशयों के सन्तति वर्ग में हैं जिन्हों ने देशोपकार वा शीघ्रबोध होने के लिये अष्टाध्यायी, महाभाष्य, षड्दर्शन आदि अनेक ग्रन्थ सरल संस्कृत में बना कर जिन में अपनी पूर्ण विद्या दर्शाई है किन्तु आधुनिक ग्रन्थों के तुल्य " घटत्वावच्छिन्ना घटनिष्ठा याधारता तादृशाधारता निरूपिता " जाल सस्कृताभास से बहका के स्वार्थसिन्धु बन कर किसी को भी भ्रमजाल में नहीं फसाया इस लिये हम

को अत्यन्त उचित है कि हम भी अपने पूर्वजों के तुल्य पुस्तकादि बनाया करें। प्रस्तुत यह है कि यदि उक्त कथनानुसार "रक्षा क्या करें" इस का अर्थ रक्षा किस की करें ऐसा ही हो तो हम यह उत्तर दे सकते हैं कि अपनी वा अन्य की, जिस को हम को सर्वोपयोगी मान कर अभीष्ट हो। क्योंकि सिंह भेड़िया आदि की रक्षा करना तो किसी को (जो मूर्ख से मूर्ख भी होगा उस को) भी अभीष्ट न होगा क्योंकि हमारे पूर्वज ऋषियों का वाक्य है कि (अहिंसन्सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः) अर्थात् तीर्थ जो शास्त्र तदाज्ञा विरुद्ध काम न करे प्रयोजन यह निकला कि शास्त्र में जिस को दण्ड देना कहा उन को दण्ड अवश्य दे। यथाह मनुः "अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दंड्यांश्चैवाप्यदण्डयन्। एनः सुमहदाप्नोतीत्यादि (एतदादि और भी है) परन्तु यह समस्त विज्ञान गायत्रीमन्त्र के अर्थ का आश्रय किये विना न होगा इसी से उक्त मन्त्र में "प्रचोदयात्" पद भी सार्थक हो सकता है यद्यपि गोस्वामी जी ने इस पर बहुत कुछ बल देके अपने लेख को बहुत कुछ पुष्ट किया है कि यदि शिखा बन्धन ही से रक्षा हो जाय तो बन्दूक तमञ्चा किसी का काम नहीं है इस का उत्तर यह है कि पाठकगण! अब मेरी अल्पबुद्धिता को जान अनुचित, अशुद्ध, वा असभ्य, लेख की ओर दृष्टि मत दीजिये किन्तु मेरे हार्द्द पर दत्तचित्त हो कर कुछ परामर्श कीजिये! यदि नैयायिक बनें तो सर्वसाधारण तक अपने २ मुख से यही कह देंगे बन्दूक आदि शस्त्रों को फुर्तीला ही पुरुष चला सकता और चलाने में भी प्रशंसा फुर्तीले ही की होती है न तु दीर्घसूत्री की (जो देर में चला सकता है) अब विचारो कि वह फुर्ती शिखा बांधने ही से प्राप्त होती है जो लङ्गोट चढ़ाने के बाद जब तक शिखा न बांधो तब तक नहीं हो सकती (यह दूसरी बात है कि विना शिखा ही का वह विना प्रयोजन वा कारणान्तर से दूर कर दे) देखो! भागवत में ही दूर क्यों जाओ गे!!! "मुक्तकच्छशिखाः केचिद्भीताः स्म इति वादिनः—इति" अर्थात् जो पुरुष अपने को वीर समझते थे वे लड़ते २ युद्ध में जब हार गए तो कच्छ जो धोती के दोनों प्रान्तों (छोर) में से एक प्रान्त को अगारी के भाग से खोल के और अपनी शिखा (जो रण में बांधली थी) को खोल के कहने लगे (विपक्षियों से) कि भाई! हम को क्यों मारते हो! हम तो लड़ते ही नहीं कोई चिन्ह लड़ाई का हमारे बीच में तुम को देख पड़ता है?। बस बुद्धिमान् पुरुष इतने ही कहने से मेरा और गोस्वामी जी के सिद्धान्त में सदसद्भाव (सच और झूंठ) स्वयमेव जान लें गे इस के अनन्तर

गोस्वा० लिखते हैं कि " आप वन में जाय गायत्री से शिखा बांधे जाय चोर नाहर सर्प किसी का भय न हो यदि किसी तरह रक्षा हो जाती तो शस्त्रों का कुछ काम न पड़ता " ।

इस के अनन्तर श्री गोस्वामि जी का लेख है कि "पुलिस के सब कानिष्टेबिलों को गायत्री सिखा दी जाती और वे चुटिया बांध २ कर समस्त देश की रक्षा कर लेते" इस का उत्तर पूर्व ही हम दे चुके हैं कि शिखा बांधने से भी सब पुरुषार्थ सम्बन्धी कार्य्य हो सकते हैं परन्तु मुख्य गौणपक्ष सर्वत्र लगे रहते हैं जैसे किसी ने कहा कि " पांव से चला जाता है " तो बुद्धिमान् लोग यह अर्थ इस का कदापि नहीं निकाल सकते कि केवल पांव से चलते समय अन्य इन्द्रियों से कुछ काम ही नहीं करता किन्तु पांव चलने में प्रधान हैं परन्तु अन्य इन्द्रियों के कामों के रोकने वाले नहीं हैं इसी प्रकार शिखा के होने में उस का बांधना प्रधान है किन्तु शिखा बन्धन शस्त्रादि धारण को रोकने वाला नहीं है ।

और कानिष्टेबिल आदि सब शिखा बांधने से भी रक्षा करते थे और करते हैं तथा करेंगे भी यदि पुलिस के कानिष्टेबिलों को पूर्व गायत्री न पढ़ाई जाती तो महाराज मनु जी किस प्रकार अपने ग्रन्थ में कहते हैं कि ।

सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।
सर्वलोकाधिपत्यञ्च वेदशास्त्रविदर्हति ॥ इति

और आप अपनी शिखा और लंगोट तो दोनों ढीले किये तो करो ! परन्तु अन्य दीनजनों की शिखा क्यों ढीली कराते हो ! अन्यथा आप का लेख इस दृष्टान्त के अनुसार ही समझा जायगा कि " एक सौभाग्यवती (सुहागिन) स्त्री किसी रांड के पांय छूने लगी तो उस ने अशीष दी कि "मेरी ! मुझीसी हूजियो।" बस हम अधिक लिखना इस विषय पर व्यर्थ समझते हैं ।

इस के बाद गोस्वा० लिखते हैं "कि दूसरा प्रश्न यहां यह भी है कि यदि दो आर्य्य पुरुष सन्ध्योपासन के अनन्तर कुश्ती लड़ें तो कोई भी न हारे क्योंकि दोनों गायत्री मन्त्र से रक्षा कर चुके हैं और कोई न जीते भी क्योंकि दोनों रक्षा कर चुके हैं" इस का उत्तर श्री गोस्वामी जी को क्या देवें ! देखिये ! यहां पर हमारे गोस्वामी जी अपने मुख से आप ही अनार्य्य बनते हैं ! ! ! अतएव यहां पर यही कहेंगे गोस्वामी जी को उचित है कि प्रथम सत्यशास्त्रों में अपना कुछ अभ्यास बढ़ावें जिस से आर्यों के लक्षण आप को ज्ञात हो जावें तो अपने लेख में ऐसा परस्पर विरुद्ध प्रलाप फिर न देवें । भला ! कहां आर्य्यता कहां कुश्ती लड़ाई

न मालूम हमारे गोस्वामी जी से और आर्यों से क्यों ईर्ष्या है जो आपस में उन्हें लड़ाते हैं गोस्वामिन्! लड़ाते लड़ाते अभी तक आप की तृप्ति नहीं हुई? सत्यानाश तो मिथ्या पुराणों को बना बना के और पिता को शैव, पुत्र को वैष्णव, भगिनी को वाममार्गी, माता को गाणपत, आदि मतों के फन्दे में फास के खूब लड़ाया और अपना स्वार्थ बनाया? अब तो इस दीन जगत् के ऊपर क्षमा कीजिये!!! अब जिन्हों के कर्ण विवरों में वेद रस का स्वाद भर गया वे मनुष्य तो आप के फन्दे को पहिचान गए आप के बाग्जाल को जान गये अब वह दिन नहीं है जहां लालबुझक्कड़ों के कहने में लोग आय जावें और अपना तन मन धन श्री महाराज गुरु जी के अर्पण करि अपने स्त्री पुत्र धनादि से भी हाथ धो बैठें।

पुनः गोस्वा० का लेख है कि "देखो मन्त्र की शक्ति को मिथ्या करने को सत्यार्थप्रकाश पृ० ३० प० में लिखा है कि जो मन्त्रबल से तुम परमेश्वर को बुला लेते हो तो उन्हीं मन्त्रों से अपने मरे हुए पुत्र के शरीर में जीव क्यों नहीं बुला लेते और शत्रु के शरीर में से जीवात्मा का विसर्जन कर के क्यों नहीं मार सकते" देखिये अब यह आर्य्य लोगो का तर्क उन्हीं को पराभव करता है "यदि गायत्री से शिखा बांध कर आप रक्षा कर लेते हैं तो बिना लाठी, जूता, छाता के धूप में वा वर्षा में क्यों नहीं चले जाते आप को वस्त्र, शस्त्र वाले सिपाही प्रभृति रक्षा करने वाली चीजों में से कुछ काम न पड़ता और अपव्यय भी न होता, परन्तु वहां गायत्री से शिखा बांधन मात्र से रक्षा हो कब सकती है" इस का उत्तर यह है कि प्रथम तो श्रीमत्स्वामीदयानन्दसरस्वती जी महाराज ने मन्त्र की शक्ति का मिथ्यात्व किसी स्थल में किसी अपने बने हुए ग्रन्थ में नहीं दर्शाया? बल्कि मन्त्रों की महिमा तो कई एक स्थानों में दिखलाई है—तथापि जो गोस्वामी जी—मन्त्र बल से—इत्यादि कह कर जो दर्शाते हैं वह अभिप्राय इस से सम्बद्ध मालूम पड़ता है कि जैसे केवल गायत्री मन्त्र पढ़ने से रक्षा नहीं हो सकती किन्तु शस्त्र आदि से रक्षा होती है अन्यथा लाठी आदि मत धारण करो! इस का उत्तर हम दशमांक में तथा एकादशांक में अभी लिखते आते हैं कि वह २ विषय स्वार्थ में मुख्य है किन्तु अन्य का निषेधक नहीं है—इत्यादि गोस्वामी जी! वाक्य में वक्ता के अभिप्राय पर कुछ दत्तचित्त रहा करिये गा?

बलदेव शर्मा
निवासस्थान कायमगञ्ज
ज़िला फर्रुखाबाद

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥

भाग १ } वैशाख संवत् १९४५ { अङ्क १२

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ॥

गत अङ्क से आगे महामोहविद्रावण का उत्तर ॥

व्याचक्षाणेन वात्स्यायनर्षिणा स्वभाष्येस्मदभिहितार्थस्य स्फुटमभिहितत्वात् । तथाहि "पुत्रकामेष्टिहवनाभ्यासेषु,, तस्येति-शब्दविशेषमेवाऽङ्गीकुरुते भगवानृषिः । शब्दस्य प्रमाणत्वं न सम्भवति कस्मादनृतदोषात् पुत्रकामेष्टौ पुत्रकामः पुत्रेष्ट्या यजेतेति नेष्टौ संस्थितायां पुत्रजन्म दृश्यते दृष्टार्थस्य वाक्यस्यानृतत्वाददृष्टार्थमपि वाक्यम् "अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम" इत्याद्यनृतमिति ज्ञायते विहितव्याघातपुनरुक्तदोषाच्च हवने "उदिते होतव्यमनुदिते होतव्यं समयाध्युषिते होतव्य" मिति विधाय, विहितं व्याहन्ति "श्यावोस्याहुतिमभ्यवहरति य उदिते जुहोति शवलोऽस्याहुतिमभ्यवहरति योनुदिते जुहोति श्यावशवलौ वास्याहुतिमभ्यवहरतो यः समयाध्युषिते जुहोति" व्याघाताच्चाऽन्यतरन्मिथ्येति पुनरुक्तदोषाच्च अभ्यासे देश्यमाने "त्रिःप्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम्" इति पुनरुक्तदोषो भवति, पुनरुक्तश्च प्रमत्तवाक्यमिति तस्मादप्रमाणं शब्दोऽनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्य" इति अत्रहि वात्स्यायनो दृष्टार्थवाक्यसाम्येनाऽदृष्टार्थे "अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम" इति वाक्येऽनृतत्वमतिदिशति । इदं च ब्राह्मणवाक्यमिति इदं च ब्राह्मणवाक्यमिति पुष्कलं ब्राह्मणं वेद

इति ॥ अथाद्यापि "अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम" इति वाक्यस्य ब्राह्मणभावेन दृढिमानमवेत्ते इत्याग्रहस्ते तदा परित्यज ब्राह्मणेषु द्वेषमपचारयाऽसदावेशम् अवधेहि च गोतमीये द्वितीयेऽध्याये षष्टितमेन "वाक्यविभागस्य चार्थग्रहणात्" इत्युपक्रम्य "विध्यर्थवादानुवादवचनविनियोगात्" इत्येकषष्टितमेन ब्राह्मणवाक्यानि विभेजे भगवान् गोतमः अत्राहस्म वात्स्यायनः "त्रिधा खलु ब्राह्मणवाक्यानि विनियुक्तानि विधिवचनानि अर्थवादवचनान्यनुवादवचनानीति तत्र विधिर्नियामकः यद्वाक्यं विधायकं चोदकं स विधिः विधिस्तु नियोगोऽनुज्ञा वा यथाऽग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामइति" इति, ततश्च वात्स्यायनेन ब्राह्मणवाक्यविभागावसरे अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम इत्येतस्य प्रदर्शनादिह वात्स्यायनव्याख्यानप्रणालिकया महर्षिर्गोतमोऽग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम इत्यादि ब्राह्मणं सूत्रस्थतत्पदेन सञ्जिघृक्षन् ब्राह्मणं वेदैकभागमभिमेने तदेवं सर्वर्षिसम्मते ब्राह्मणानां वेदभावे प्रवृत्ते चाऽऽजानिके तथैव व्यवहारे कृतमनल्पजल्पेन ॥

उक्त संस्कृत का संक्षेप से भाषा में अभिप्रायार्थ यह है कि न्यायसूत्र पर भाष्यकर्त्ता वात्स्यायन ऋषि ने ब्राह्मण पुस्तकों के अनेक उदाहरण दिये हैं जिन से ब्राह्मणपुस्तकों का वेद होना सिद्ध होता है और "वाक्यविभागस्य चार्थग्रहणात्" इत्यादि सूत्रों से न्यायकर्त्ता गोतम ऋषिने भी ब्राह्मणवाक्यों का ही विचार किया है जिस से सिद्ध है कि गोतमादि सब ऋषियों को ब्राह्मण पुस्तकों का वेद होना अभीष्ट है इत्यादि—

यह हम के संस्कृत का अक्षरार्थ अनुवाद नहीं है यदि अक्षरार्थ किया जाता तो भी बहुत गाकर इतना ही अभिप्राय निकलता और सब की समझ में न आता तो वह इबारत व्यर्थ होती इस लिये प्रत्यक्षर अनुवाद न करके अभिप्रायार्थमात्र लिखा है। उक्त संस्कृत में पहिले (११ अङ्क में जिस का उत्तर दिया है उस संस्कृत) से कुछ विशेषता नहीं है जो तात्पर्य्य पहिले से सिद्ध हो चुका उसी को पिष्टपेषणवत् गाया है। आज कल के बहुधा पं० जनों की शैली है कि यदि संस्कृत में कोई पुस्तक बनाने लगें वा कुछ लेख लिखें तो जहां एक पंक्ति संस्कृत से काम निकल सके वहा दश पंक्ति लिखते हैं अर्थात् संस्कृत के बादल बांधते हैं

और उस का अभिप्राय बहुत थोड़ा होता है इस लिये इस उक्त महामोहविद्रावण के संस्कृत का उत्तर इस वार मैंने संस्कृत में नहीं दिया क्योंकि पहिला दिया उत्तर ही इस का भी उत्तर है उन का सब संस्कृत विद्वान् लोगों के दृष्टिगोचर होने के लिये छपवा दिया है कि वे इस को पूर्वापर देख लेवें। हमारे पाठक महाशय कहते होंगे कि इस वेदब्राह्मणविषयक प्रश्नोत्तर को होते २ बहुत दिन हो गये वही बार २ गाया जाता है कदाचित् बहुत लोग इस को पुनरुक्त दोष में भी गिनते हों इस लिये सब महाशयों से निवेदन है कि एक विषय को बार२ अनेक प्रकार से पुष्ट करना अनुवादादि कहाता है पुनरुक्त नहीं है। और अब यह "वेद ब्राह्मण" विषयक विचार समाप्त होने पर भी आया है। यद्यपि इस वार महामोहवित्-रावण का कुछ विशेष उत्तर नहीं दिया जाता तथापि इतना अवश्य कहना है कि हम इस बात को प्रथम ही स्वीकार कर चुके हैं कि गोतम ऋषि और न्यायभाष्यकर्त्ता वात्स्यायन ऋषिने शब्दविशेष परीक्षा प्रकरण में ब्राह्मण वाक्यों के उदाहरण प्रायः दिये हैं और शब्दप्रमाणविशेष में ब्राह्मण पुस्तकों का लेना सर्वथा उचित है किन्तु यह किसी महर्षि ने इस प्रसंग में नहीं लिखा कि ब्राह्मणपुस्तक भी वेद ही हैं। और हम लोग भी ऋषियों ने ब्राह्मण पुस्तकों को यथावत् वेदत्व प्रतिपादन नहीं किया इसी से उन को वेद से पृथक् नहीं समझते किन्तु उन के ईश्वरीय अनादि मूलवेद न हो सकने में अनेक कारण हैं सो प्रायः पूर्व अङ्कों में लिखे गये हैं ॥ अग्रेशम्

महाराजा वेंकटगिरिकृत प्रश्नों के उत्तर गत ११ अंक से आगे

१३-सत्यार्थप्रकाश में स्वामी जी के प्रश्नः-सृष्टि विषय में वेदादि शास्त्रों में परस्पर विरोध दीख पड़ता है. वह कैसा है ?तैत्तिरीय में आगे आत्मा से सृष्टि हुई सरीखी. छान्दोग्य में अग्न्यादि से. ऐतरेय में जलादि से. वेद में एक जगह में पुरुषादि से. और एक जगे में हिरण्यगर्भादि से जगदुत्पत्ति हुई सरीखी मालुम पड़ती है. इस में कौन सा सच्चा. ? ऐसा प्रश्न करके उस का पण्डित जी उत्तर देते हैं कि. सभी सच्चे हैं. वह कैसे ? एक एक प्रलय समय में कौनसा कौनसा तत्वपर्यन्त प्रलय होता है, पुनः सृष्टि होने में वे तत्वों से शुरू हो के जगत् सृष्टि होती है. इस लिये एकैक सृष्टि में एक एक तत्व आदि होता है. इस पर मैं पूछता हूं कि. जो जो प्रलय में जो जो तत्व पर्यन्त प्रलय होता है सो पुनः सृष्टि में कौनसा कौनसा तत्व से शुरू होके सृष्टि होती है. सो दयानन्द स्वामी को कैसा मालुम पड़ा ? स्वामी का आयुर्बल क्या मार्कंडेय ऋषि का आयुर्बल प्रमाण था ?।

ऐसे यह सत्यप्रकाश ग्रन्थ में बहुत हि आक्षेप लेने लायक लेख हैं. परन्तु थोड़े से लेके उन को मैंने अल्पज्ञान से दिग्दर्शन किया है.

दिन लिखने से क्या प्रयोजन है ? । (सत्यार्थप्रकाश में इस पर कई लोगों ने मुझ से शङ्का भी की है उस का भी यहीं उत्तर आ जावें गा) इस का उत्तर यह है कि ये छः चतुर्युगी सन्ध्या सन्ध्यांश में चली जाती हैं अर्थात् चौदह मन्वन्तरों की आरम्भ समाप्ति में छः चतुर्युगी बीत जाती हैं (कृताब्द०) एक मन्वन्तर की समाप्ति और दूसरे के आरम्भ में एक सत्युग की वर्ष संख्या १७२८००० सत्रहलाख अट्ठाईश हजार वर्ष पर्य्यन्त सन्ध्या सन्ध्यांश होताहै इतने (१७२८०००) समय पर्यन्त जलप्लव अर्थात् पृथिवी सर्वथा जलमय हो जाती है यह प्रलय जल से होता है इस को अवान्तर प्रलय कहते हैं। मन्वन्तर की समाप्ति में जब जल से अवान्तर प्रलय होने पर आता है तब वर्षों तक बराबर मूसलाधार वृष्टि होती है जिस में पर्वतादि भी जलमय हो जाते हैं जब द्वितीय मन्वन्तर का फिर आरम्भ होता है तब फिर जल से पृथिवी, पृथिवी से ओषधियां उन से अन्न और अन्न से वीर्य्य और वीर्य्य से शरीरें की उत्पत्ति होती है अर्थात् यह प्रत्येक मन्वन्तर के आदि अन्त का प्रलय जल से होता है इस में पृथिवी और पार्थिव शरीरमात्र का प्रलय हो जाता है जल, अग्नि, वायु, और आकाश बने रहते हैं । इस १७२८००० सत्रह लाख अट्ठाईश हजार वर्ष में आधा समय पहिले मन्वन्तर की समाप्ति में सन्ध्या और आधा समय आगामी मन्वन्तर का सन्ध्यांश (प्रातःकाल) समझा जाता है । इस प्रकार चौदह मन्वन्तरों में चौदह वार एक २ सत्युग का समय अवान्तर प्रलय (पृथिवी का जल पूर्ण होना रूप) होता है । इस से भी छः चतुर्युगी की संख्या पूरी नहीं होती जिस से ब्राह्म कल्प की १००० चतुर्युगी पूर्ण हो जावें । इस लियेः—

ससन्धयस्ते मनवः कल्पे ज्ञेयाश्चतुर्दश ।
कृतप्रमाणः कल्पादौ सन्धिः पञ्चदशः स्मृतः ॥१९॥ सूर्यसिद्धान्ते

अपनी २ सन्धि के सहित चौदह मन्वन्तर एक कल्प में होते हैं और एक सत्युग प्रमाण १७२८००० वर्ष ब्राह्म कल्प के आदि में पन्द्रहवां सन्ध्यांशकाल होता है अर्थात् सत्युग की १७२८००० सत्रहलाख अट्ठाईश हजार वर्ष संख्या को पन्द्रह गुणा करें तो २५९२०००० दो क्रोड़ उनसठ लाख बीस हजार वर्ष संख्या होती है और एक चतुर्युगी की मानुष वर्ष संख्या ४३२०००० है इस को छः गुणा करें तो भी वही २५९२०००० संख्या पूरी हो जाती है इस प्रकार छः चतुर्युगी मन्वन्तरों के अवान्तर प्रलय (संध्या सन्ध्यांश) में बीत जाती हैं इन के मिलाने से ब्राह्म कल्प की पूर्ण १००० चतुर्युगी हो जाती हैं ।

इत्थंयुगसहस्रेण भूतसंहारकारकः ।
कल्पो ब्राह्ममहः प्रोक्तं शर्वरी तस्य तावती ॥२०॥ सूर्य सिद्धान्ते

इस उक्त प्रकार से पृथिव्यादि भूतों का संहार करने वाला ब्राह्म कल्प एक हजार चतुर्युगी के प्रमाण से कहा गया है। और इस ब्राह्म दिन की रात्रि भी १००० हजार चतुर्युगी की होती है ॥

परमायुः शतं तस्य तयाऽहोरात्रसंख्यया ।
आयुषोऽर्द्धमितं तस्य शेषकल्पोऽयमादिमः ॥२१॥ सूर्यसिद्धान्ते ।

इस पूर्वोक्त एक हजार चतुर्युगी वाले दिन और उतनी ही रात्री के हिसाब से सौ वर्ष की ब्रह्मा की पूर्ण उत्तम अवस्था होती है इसी को महाकल्प और इस की पूर्त्ति को महाप्रलय बोलते हैं। इस (ब्रह्मा की आयुर्दाय) में से आधा ५० वर्ष भाग तो व्यतीत हो गया अब उत्तरार्द्ध ५० वर्ष का प्रारम्भ है अर्थात् उत्तरार्द्ध के ५० वर्ष में यह पहिला दिन है ॥

कल्पादस्माच्च मनवः षड् व्यतीताः ससन्धयः ।
वैवस्वतस्य च मनोर्युगानां त्रिघनो गतः ॥२२॥ सूर्यसिद्धान्ते।

इस उत्तरार्द्ध के प्रथम ब्राह्म दिन में से अपनी २ सन्धियों (सन्ध्या सन्ध्यांशरूप अवान्तर प्रलय) के सहित छः मन्वन्तर व्यतीत हो गये अब इस सातवें वैवस्वत मन्वन्तर का तृतीय भाग अर्थात् २७ सत्ताईश चतुर्युगी बीत गई हैं ॥

अष्टाविंशाद् युगादस्माद्यातमेतत्कृतं युगम् ।
अतः कालं प्रसंख्याय संख्यामेकत्र पिण्डयेत् ॥२३॥ सूर्यसिद्धान्ते

अब इस अट्ठाईशवीं चतुर्युगी में से यह पूर्वोक्त सत् युग व्यतीत हो गया अर्थात् अब त्रेतायुग वर्त्तमान है (इस से यह सिद्ध है कि यह सूर्यसिद्धान्त पुस्तक इसी चतुर्युगी के त्रेतायुग में बना है) इस लिये पूर्वोक्त प्रकार से काल की संख्या करके काल ज्ञान करे ॥

इस पूर्वोक्त सब लेख का इस प्रसङ्ग में तात्पर्य यह निकला कि मन्वन्तरों की आरम्भ समाप्ति में अवान्तर प्रलय जल से और मन्वन्तर के आरम्भ में जलसे ही सृष्टि का आरम्भ होता है और ब्राह्मकल्प में अग्नि से प्रलय होता है और अग्नि से

ही सृष्टि का फिर आरम्भ होता है और महाप्रलय में वायु तथा आकाश से प्रलय होता है और महाकल्प के पश्चात् फिर वायु तथा आकाश से सृष्टि का आरम्भ होता है। आत्मा से आकाश और आकाश से वायु की उत्पत्ति जो शास्त्रों में दिखाई है उस का अभिप्राय परमेश्वर से सृष्टिक्रम दिखाने का है वस्तुतः आकाश भी एक तत्त्व अग्नि, वायु, आदि के समान ही उत्पन्न वा नष्ट होने वाला है। केवल भेद इतना ही है कि जैसे अग्नि की अपेक्षा वायु सूक्ष्म होने से देखने में नहीं आता वैसे वायु से भी अधिक सूक्ष्म आकाश तत्त्व है इस कारण वह स्पर्शन इन्द्रिय से भी ज्ञेय नहीं आकाश का गुण शब्द है वह शब्द जिस में रहता तथा जहां से प्रकट होता वही आकाश द्रव्य है। यद्यपि किन्हीं लोगों का यह भी पक्ष वा सिद्धान्त है कि आकाश कोई द्रव्य नहीं उस के उत्पत्ति नाश भी नहीं होते इस पक्ष में वायु तक का ही प्रलय माना जायगा तथापि वायु आदि के तुल्य आकाश को द्रव्य वा तत्त्व मानकर उस के उत्पत्ति नाश मानना पक्ष ठीक मालूम होता है। और वायु की गति का कारण प्रायः अग्नि है। वायु में हलकापन आजाता है इसी से ग्रीष्मकाल में वायु की गति अधिक और शीतकाल में भारीपन रहने से वायु की गति वैसी तेज नहीं होती है। हलका ही पदार्थ अधिक चलायमान होता और भारी पदार्थ अधिकांश में स्थिर होता है जैसे भारे गम्भीर मनुष्य की बुद्धि स्थिर और हलके की चपल बुद्धि होती है। तृण उड़ जाते और पत्थर नहीं उड़ता है। तात्पर्य यह है कि यदि अन्य तत्त्वों का संघर्ष न हो और अग्नि वायु को हलका न करे तो वायु का चलना ही न हो तथा वायु सर्वत्र व्यापक है तभी पंखा हिलाने से चलने लगता है जैसे जल सर्वत्र भरा हो और एकस्थल से जल लिया जाय तो उस स्थल में इधर उधर से जल गिरेगा ऐसे ही सर्वत्र भरे वायु को जहां २ अग्नि हलका करता है वहां २ अन्यत्र से वायु गिरता है इस लिये उस में गति होती है जब अग्नि तत्त्व का प्रलय हो जावे तब वायु की गति होना भी दुस्तर है अर्थात् अग्नि के प्रलय में वायु अपने कारण आकाश में स्वयमेव लीन हो जाता है इस लिये जल, अग्नि, वायु आकाश इन ही तत्त्वों से तीन ही प्रकार का प्रलय होता है। जब २ जिस २ तत्त्व से प्रलय होता है तब २ उसी तत्त्व से फिर सृष्टि का आरम्भ होता है। इस सृष्टि और प्रलय के विषय में बहुत कुछ लिखा जा सकता है पर यहां जितना प्रश्न उपस्थित हुआ था उस पर लिखा फिर कभी इस विषय में आवश्यकता पड़ेगी तब लिखा जायगा।

अब ये महाराजा वेङ्कटगिरि के प्रश्न पूर्ण हुए इन सब का उत्तर भी मैं ने अपनी विद्या बुद्धि के अनुसार दिया है। महाराजा जी से निवेदन है कि इस मेरे लेख को मध्यस्थ हो कर ध्यान दृष्टि से देखें यदि फिर भी कुछ शङ्का शेष रहे तो कृपा कर मुझ को अवश्य सूचना करें मैं पुनरपि यथाबुद्धि निर्धारण करूंगा। अथवा जो ग्रन्थ में लिखा है कि सत्यार्थप्रकाश में ऐसी अनेक शङ्का हैं उन में से ये उदाहरणमात्र लिखी हैं सो जितने प्रश्न किये थे उन का यथावत् समाधान हो गया हो तो निवेदन है कि शेष प्रश्न भी लिख भेजें मैं अपनी बुद्धि के अनुसार उन का भी समाधान करूंगा। कदाचित् आप यह कहें कि तुम ने बहुत सी युक्तियां वा वचन ऐसे लिखे हैं कि जो सत्यार्थप्रकाश में स्वामी जी महाराज ने नहीं लिखे यदि स्वामी जी ऐसे सब वचनों वा युक्तियों का सङ्ग्रह कर देते कि जिस से वह २ विषय यथावत् पुष्ट हो जाता तो किसी को प्रश्न करने का अवसर ही न मिलता तो इस का उत्तर यह है कि सत्यार्थप्रकाश किसी एक विषय का पुस्तक नहीं किन्तु अनेक विषयों का विचार मूलरूप से उस में किया गया है उन में से एक २ विषय पर एक २ सत्यार्थप्रकाश बन सकता है यदि स्वामी जी महाराज ऐसा लिखते तो अनेक सत्यार्थप्रकाश बन जाते सो इतना समय उन को कहां मिलता था? अनुमान केवल १२ वर्ष पुस्तक बनाने और विशेष कर उपदेश करने में रहे जिस में अनेक पुस्तक बनाये अनेक नगरादि में भ्रमण कर उपदेश किया। और लिखने वाला अपनी २ बुद्धि के अनुसार लिखता है किन्तु यह प्रतिज्ञा कोई नहीं कर सकता कि मेरे लेख वा पुस्तक में किसी देश वा काल में किसी मनुष्य को कभी सन्देह ही न हो अनेक ऋषि महर्षियों ने विद्या सम्बन्धी तथा धर्म सम्बन्धी अनेक पुस्तक बनाये हैं उन में भी शङ्का करने वाले शङ्का करने लगते हैं किन्तु जो ईश्वरीय अनादि विद्या वेद है उन में प्रायः लोग शङ्का करते हैं तो मनुष्यकृत पुस्तकों की क्या कथा है?। स्वामी जी महाराज के लेख में वा मेरे लेख में शङ्का हो इस में क्या आश्चर्य है?। अर्थात् मैं भी प्रतिज्ञा नहीं कर सकता कि मेरे इस लेख पर कोई कभी शङ्का न कर सकेगा। और एक बात यह भी है कि जो २ आचार्य (गुरु) लोगों ने पुस्तक बनाये हैं उन सब पर उन २ के शिष्य लोग भाष्य व्याख्यान करते आये हैं। वैसे ही स्वामी जी महाराज के बनाये हुए सत्यार्थप्रकाशादि मूलसूत्ररूप हैं उन पर मेरे वचनरूपव्याख्यान भाष्यरूप हो कर उन के वचनों के पीछे २ रहेंगे अर्थात् जैसे महर्षि पाणिनि ऋषि के मूल सूत्रों के साथ व्याकरण महाभाष्य की आवश्य-

कता पड़ती है वैसे मेरे व्याख्यान भी स्वामी जी के वचनों के भाव भाष्यरूप हो कर अपेक्षित हुआ करें यही ईश्वर से प्रार्थना है । यदि श्रीस्वामी जी महाराज अपने पुस्तकों में ऐसा लेख लिखते कि जिस में किसी को शङ्का न होती तो ऐसे प्रश्न क्यों उपस्थित होते ? आर्य्यसिद्धान्त भी क्यों निकलता ? । मेरा परिश्रम कहां सफल होता ? । अर्थात् जैसे महर्षियों के पुस्तकों पर विद्वान् जन भाष्य करते आये हैं वैसे महर्षि श्री स्वामिदयानन्द सरस्वती जी के अभिप्रायों पर मेरा (विद्वानों के सेवक का) भाष्य समझिये । अभिप्राय यह है कि स्वामी जी के गम्भीर अभिप्रायों को स्वविचारानुसार मैं ने कहा है ॥

शङ्का करने में प्रत्येक मनुष्य स्वतन्त्र हैं परन्तु अधिक शङ्का करने वालों का आत्मा संशयरूप हो जाता है उस का परिणाम यह होता है कि संशयात्मा होते २ अपने कर्त्तव्यों में (जो उस के कल्याण के द्वारे हैं) भी संशय होने से कल्याण के मार्ग से छूट जाता है ।

शङ्काभिः सर्वमाक्रान्तमन्नं पानं च भूतले ।
प्रवृत्तिः कुत्र कर्त्तव्या जीवितव्यं कथं नु वा ?॥१॥ हितोपदेशे॥

अन्न पान आदि भोजन के पदार्थ में भी शङ्का हो सकती है (कि इस में विष तो नहीं मिला ?) तो जीवन होना भी दुस्तर है इस लिये अपने कर्त्तव्य में निश्चयात्मा होना चाहिये । और जब तक उत्तम कक्षा प्राप्त न हो तब तक सर्वथा निश्चयात्मा भी न रहना चाहिये ऐसा करने से भी कहीं दुःख उठाना पड़ता है उत्तम कक्षा में सब सन्देह छूट जाते हैं इस लिये उत्तम कक्षा प्राप्ति का उपाय करना चाहिये । और हम मध्यम कक्षा में हैं तो इसी से शङ्का समाधान करना बन सकता है जो उत्तम वा निकृष्ट कक्षा में हैं वे शङ्का समाधान कुछ नहीं करते । क्योंकिः—

यश्च मूढतमो लोके यश्च बुद्धेः परंगतः ।
द्वाविमौ सुखमेधेते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः ॥

जो संसार में अत्यन्त मूर्ख वा जो बुद्धि के पार हो गये ये ही दो सुखी हैं और बीच के जन सब क्लेश में हैं । क्योंकि मूढलोग प्रमादालस्य निद्रा में निमग्न रहते हैं और उत्तम कक्षा के लोग प्रथम ही सब सन्देहों को निवृत्त कर चुकते हैं । इस से हम को उच्चश्रेणी (मुमुक्षु पदवी) की प्राप्ति का उपाय करना चाहिये । अब इस विषय को समाप्त करता हूं क्योंकि बढ़ाने में पार नहीं दीख पड़ता है ॥ शमग्रे

[श्रीयुत चौहान गोविन्दसिंह जी उदयपुर निवासीकृत प्रश्नों के उत्तर]

(प्रश्न) १--ईश्वर ने अपनी अखिल वेदविद्या को अग्नि, वायु, आदित्य तथा अङ्गिरा इन चारों ऋषियों को सृष्टि की आदि में पढ़ाया फिर ऋषियों ने औरों को सुनाया ऐसा सत्यार्थप्रकाश में लिखा है इस पर यह शङ्का होती है कि ईश्वर निरञ्जन, निराकार और सर्वव्यापक होने से उस के मुखादि अवयव तो हो ही नहीं सकते तो ईश्वर का उच्चारण करना वेदों का कैसे सत्य समझा जावे ? और बिना उच्चारण किये दूसरा समझ भी नहीं सकता चाहे कितना ही विद्वान् और पवित्र आत्मा क्यों न हो और केवल प्रकाश करने से भी कैसे शब्द का ज्ञान यथार्थ हो सकता है यदि आप ऐसा कहें कि वेदों में गायत्री छन्दादि विद्या ऐसी है कि बिना ईश्वर के मनुष्य को सामर्थ्य नहीं कि कथन कर सके इस का यह उत्तर है कि रेल, तार आदि अद्भुत चीजें जो कि आज कल दृष्टि में आती हैं बड़े परिश्रम से विद्वानों ने बनाई हैं और नये २ बनाते भी जाते हैं तो इस के सामने मन्त्रों को बनाना कुछ असम्भव नहीं है तथापि हमने माना कि इन से उन ऋषियों में विद्या बहुत थी कि जिस से ऐसे वेदों को बनाया अतएव चारों वेद चारों ऋषियों के ही बनाये मालूम होते हैं ईश्वरकृत नहीं यदि हो तो प्रत्यक्षादि प्रमाणों वा युक्तियों से साबित कीजिये तो अनुभव में आय जावे ॥

उ० (१)--ईश्वर ने वेदों को किस प्रकार और किस के द्वारा प्रकट किया इस पर कई बार विचार हो चुका है तथापि फिर लिखता हूं क्योंकि यह विषय सूक्ष्म है । सत्यार्थप्रकाश में श्रीस्वामी जी महाराज ने ऐसा कहीं नहीं लिखा है कि परमेश्वर ने अपनी वेदविद्या अग्नि आदि को पढ़ाई और उन्होंने अन्य ऋषियों को सुनायी किन्तु उन्होंने अपने सब पुस्तकों में यही किया है कि सृष्टि की आदि में उन अग्नि आदि नामक ऋषियों के आत्मा अन्तःकरण ऐसे शुद्ध थे कि जैसे अत्यन्त निर्मल काचादि वा दर्पण में मनुष्यादि की आकृति यथावत् शुद्ध २ दीख पड़ती है वा यथावत् शुद्ध जल में सूर्यादि का प्रतिबिम्ब यथावत् निर्मल दीखपड़ता है और गदले जल आदि में वह आकृति नहीं दीखती वा मलीन दीखती है इस में निर्मलता और मलीनता ही मुख्य कारण है इसी प्रकार उन ऋषियों के शुद्ध निर्मल अन्तःकरणों में ईश्वर की स्वाभाविक इच्छानुसार अनादि वेदविद्या भासित हुई किन्तु यह कोई नहीं कहता कि जैसे मनुष्य एक दूसरे को वाणी से उच्चारण करके पढ़ाते हैं वैसे उच्चारण कर ईश्वर ने ऋषियों को पढ़ाया हो । और ऋषियों के पवित्रात्मा होने का भी पूर्वसृष्टिस्थ पहिलेजन्म के संस्कार ही कारण हैं अर्थात् पूर्व कल्प के अन्त में प्रलय होते समय वे ऋषि लोग वेद के पूर्ण विद्वान् और ईश्वर के पूरे उपासक अवश्य थे

इस का दृष्टान्त यहीं है कि जैसे अपने इस वर्त्तमान दिन रात्रि को ही प्रलय और सृष्टि समझ लीजिये क्योंकि रात्रि प्रलय-भाग में और दिन सृष्टिभाग में समझा ही जाता है तो रात्रि को जो विद्वान् सो जाता है वह प्रातःकाल उठ के भी विद्वान् ही बना रहता है कुछ सुषुप्ति अवस्था में सो जाने से अविद्वान् नहीं हो जाता ऐसे ही प्रलय होते समय जो पूर्ण वेद के ज्ञाता लीन होते हैं उन्हीं का फिर वैसा विद्वान् होना युक्ति से सिद्ध है। बहुत से सज्जनों को अनुभव होगा कि बहुत से मनुष्य ऐसे उत्पन्न हो चुके हैं जिन्हों ने विद्याध्ययन में विशेष परिश्रम कुछ नहीं किया किन्तु साधारण प्रयत्न से थोड़े काल में सब वेद शास्त्र पढ़ के पूर्ण विद्वान् हो गये इस में पूर्व जन्म की पूर्ण विद्वत्ता ही कारण है। सुषुप्ति के पश्चात् वही शरीर बना रहता है इस लिये कोई प्रकार का परिश्रम नहीं करने पड़ता और प्रलय में वह शरीर नहीं रहता इस लिये वासनानुसार विद्याध्ययन करने पड़ता है। अब यह विचार होता है कि जब ऐसे ऋषियों को वेदज्ञान हो गया तो ईश्वर ने उपदेश किया यह कहना नहीं बनता। इस पर विचार यह है कि ईश्वर का उपदेश करना यही है कि वह सर्वत्र व्यापक है बस से उन के हृदय में प्रातिभज्ञान दिया। प्रातिभज्ञान उस को कहते हैं कि जिस विषयक ज्ञान की कुछ भी चिन्ता न हो और वह अकस्मात् स्फुरित हो जावे और यह कहना कि विना उच्चारण किये विद्वान् भी कुछ नहीं समझ सकता और ईश्वर के मुखादि अवयव हैं नहीं तो उस ने क्योंकर उच्चारण किया इस का उत्तर यह है कि विना उच्चारण किये भी अनेक बातें समझी जाती हैं जैसे मूक (गूङ्गे) की अनेक इङ्गित चेष्टित आदि क्रिया से उस के अभिप्राय को लोग समझा ही करते हैं और तार हिलाने वाला भी कुछ मुख से उच्चारण नहीं करता पर जिस के पास तार भेजता है वह सब अभिप्राय जान लेता है। चिट्ठी पत्रादि लिख कर देशान्तर में भेजे जाते हैं इस में भी लिखने वा पढ़ने वाले को उच्चारण करने की आवश्यकता नहीं पड़ती अब केवल यह विशेषता रही कि यहां विना उच्चारण के अन्य इङ्गित आदि क्रिया करनी पड़ती है तो ईश्वर ने क्या किया इस का उत्तर यह है कि इङ्गित,चेष्टितादि का दृष्टान्त इतने अंश में दिया गया है कि विना उच्चारण किये अन्य का अभिप्राय अन्य को ज्ञात हो जाता है। यह इङ्गितादि क्रिया इसी लिये करनी पड़ती है कि वे शरीरधारी पृथक् २ हैं एक दूसरे के मन का साक्षी नहीं है। योगी लोगों को जब समाधि सिद्ध हो जाती है तब वे अपने चित्त को अन्य के शरीर में प्रवेश करके दूसरे के अन्तःकरण का हाल जान लेते और अपना अभिप्राय दूसरों को प्रकट कर सकते हैं तद्यथा योग शास्त्रे:—

बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः ॥

विभूतिपादे ३७ सूत्रम्। अत्र व्यासभाष्यम्—लोलीभूतस्य मनसोऽप्रतिष्ठस्य शरीरे कर्म्माशयवशाद्बन्धः प्रतिष्ठेत्यर्थः। तस्य कर्म्मणो बन्धकारणस्य शैथिल्यं समाधिबलाद्भवति प्रचारसंवेदनं च चित्तस्य समाधिजमेव कर्म्मबन्धक्षयात् स्वचित्तस्य प्रचारसंवेदनाच्च योगी चित्तं स्वशरीरान्निष्कृष्य शरीरान्तरेषु निःक्षिपति। निःक्षिप्तं चित्तं चेन्द्रियाण्यनुपतन्ति। यथा मधुकरराजानं मक्षिका उत्पतन्तमनूत्पतन्ति निविशमानमनुनिविशन्ते। तथेन्द्रियाणि परशरीरावेशे चित्तमनुविधीयन्त इति॥

भाषार्थः—वस्तुतः मनुष्य का चित्त चञ्चल है परन्तु कर्म की वासनारूप रस्सियों से शरीर में बंधा है उस बन्धन के कारण कर्म की वासनाओं की शिथिलता समाधिबल से होती है और कर्म की वासना रूप रस्सियों के क्षीण होने तथा समाधि के प्रताप से बन्धनों से छूटा चित्त शरीर से बाहर निकलने में समर्थ होता है तब योगी उस चित्त को अपने शरीर से निकाल कर दूसरे के शरीरों में प्रवेश कर सकता है उस समय योगी के इन्द्रियों का सामर्थ्य भी चित्तरूप राजा के साथ पराये शरीर में प्रविष्ट हो जाता है। चित्त और इन्द्रियों का ऐसा सम्बन्ध है कि चित्त की स्थिति में इन्द्रियों की स्थिति और चित्त के अन्यत्र जाने में इन्द्रिय चित्त के साथ चले जाते हैं दृष्टान्त यह है कि जैसे मधूक (माहार) की मक्षियों में एक मक्षी राजा होती है उस का नाम मधुकरराज है वह जब उत्ते से उड़ती है तो उस के साथ सब मक्षिका उड़ जाती हैं और जब कहीं पहिले वह (मधुकरराजा) बैठती है तो उस के साथ ही सब बैठ जाती हैं यही समाचार चित्त रूप राजा के साथ इन्द्रियों का है अर्थात् कभी प्रेत शव (मुर्दा) शरीर में योगी का चित्त प्रवेश कर जावे तो वह सब देखने सुनने भी लग जा सकता है। यदि जीवित शरीर में प्रवेश करे तो अन्य के चित्त को दबा कर अपना अधिकार कर सकता है। इस कर्त्तव्य में उच्चारण की कुछ आवश्यकता नहीं पड़ती है किन्तु जब बिना ही उच्चारण किये योगी अन्य के मन का अभिप्राय जान लेता तथा अपना जता देता है तो जो परमात्मा प्राणीमात्र के घट २ में व्यापक है वह अपनी वेदविद्या को ऋषियों के अन्तःकरण में स्वाभाविक सामर्थ्य से बिना उच्चारण किये प्रकाशित करे इस में क्या आश्चर्य्य हो सकता है?। और एक बात यह भी है कि जैसे बिना ही उच्चारण क्रिया के अनेक सङ्कल्प विकल्प एकाग्रस्वस्थ मनुष्य के चित्त में होते हैं। और मुख्य विचार यह है कि हम लोग अल्पज्ञ हैं हमारे साङ्गोपाङ्ग दृष्टान्त उस सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् के कर्त्तव्य में नहीं घटते। जैसे

सृष्टि रचनादि परमेश्वर के काम हमारे अल्प सामर्थ्य से असम्भव हैं यदि उस ईश्वर को भी करने असम्भव हों तो वह सर्व शक्तिमान् क्यों कर कहावे। ऐसे ही वह अपनी सर्वशक्तिमत्ता से वेदों का उपदेश ऋषियों के हृदय में सहज से कर सकता है। और इस बात पर अवश्य ध्यान देना चाहिये कि सृष्टि के आरम्भ में सब विद्या और धर्मों का मूलरूप विद्या ईश्वर से अवश्य संसार में आनी चाहिये इस के विना गुरु द्वारा विद्याध्ययन की परम्परा संसार में क्यों कर चल सकती है ?। विना गुरु वा शिक्षक के इस समय कोई विद्वान् नहीं हो जाता वैसे सृष्टि के आरम्भ में विना गुरु के विद्वान् क्यों कर हो गये ?। थोड़े से बहुत हो जाना सम्भव है पर अभाव से भाव कदापि नहीं हो सकता। जब एक अन्धा पुरुष नहीं देख सकता तो अन्धों का समुदाय भी मिल कर नहीं देख सकता। यदि एक २ तिल में तेल न हो तो बहुत इकट्ठे तिल पेरने से भी तेल का निकलना असम्भव है किन्तु एक तिल के तेल से कार्य सिद्ध नहीं हो सकता और अनेकों के तेल से हो जाता है यदि सृष्टि के आरम्भ में किसी में विद्या का लेश न हो तो आगे २ विद्या का प्रचार चल जाना कोई सिद्ध नहीं कर सकता। जब सृष्टि के आरम्भ में कोई गुरु न था तो उस सर्वशक्तिमान् से ही विद्या का प्रवाह आना स्वयं सिद्ध है क्योंकि जल के आगमन को चाहे किसी ने न देखा हो पर जलाशय से ही आ सकता है इस को सब बुद्धिमान् स्वीकार कर लेवें गे। इसी प्रकार विद्या का आगमन सृष्टि के आरम्भ में जब ईश्वर से सिद्ध हो जाता है तो किस प्रकार आई इस पर विवाद करना कुछ विशेष फल दायक नहीं प्रतीत होता। रेल तार आदि अद्भुत कार्य्य विद्या शिक्षा के अभाव में नहीं बना लिये हैं यदि कोई एक मनुष्य जन्म से जङ्गल में कर दिया जावे और वह विना विद्या शिक्षा के कुछ अद्भुत कार्य्य बना लेवे तो मान लिया जावे कि रेल तार आदि भी विद्या के विना बना लिये हों। खोज करने से ज्ञात हो जायगा कि जिन्हों ने रेल तार आदि का प्रस्ताव चलाया वे क्या २ पढ़े थे। अंकुर से वृक्ष बढ़ सकता है उन को रेल तार आदि विद्या का अङ्कुर अवश्य मिला है और उस अंकुर का बीज अवश्य ईश्वरीय विद्या वेद है अङ्कुर के उत्पन्न होने की भूमि अन्तःकरण है जैसे अन्तःकरण में बीज पड़ेगा वैसा अङ्कुर होगा कहीं कचुआ भी हो जायगा कहीं २ वृक्ष रूप हो कर फले फूले गा कहीं बीज ही नहीं पहुंचे गा तथा उत्पन्न भी न होगा इत्यादि। जब विना अङ्कुर के रेलादि शाखा नहीं हो सकती तो ऋषि लोग विना मूलविद्या के मन्त्र क्यों कर बना सकते थे ?। और मन्त्र बना लेने के विषय में पहिले अङ्कों में बहुत कुछ लिखा भी गया है जब ऋषियों में बना मूल के विद्या होना ही सिद्ध नहीं होता तो मन्त्र कहां से बना लेते।

यह कहना बन सकता है कि ऋषि लोगों को तपोबल से विद्या शीघ्र और अधिक हो सकती है। पर जिस की कृपा से तपोबल करके विद्या होगी वह विद्या उसी की समझी जावेगी। इस से तात्पर्य यह है कि तपोबल और ईश्वर की उपासना विशेष से ऋषियों को वेद प्राप्त हुए पर वेद ऋषियों ने अपनी बुद्धि से नहीं बनाये इसी लिये ईश्वरीयविद्या कहे जाते हैं। अभिप्राय यह है कि विना मूल के शाखा नहीं होती यदि पहिले विद्या का मूल ईश्वर को न मानें तो ऋषि लोगों को मन्त्र बना ने और समझाने का बोध कदापि नहीं हो सकता इस लिये जो विद्या का मूल कारण ईश्वर है उसी से वेद प्रवृत्त हुए यह सिद्ध है। क्रमशः—

[आर्य्यप्रतिनिधि सभा मेरठद्वारा आये उपमन्त्री आर्य्य० आगरे ने भेजे मन्त्रका अर्थ]

यस्मिन्नश्वास ऋषभास उक्षणो वशा मेषा अवसृष्टास आहुताः। कीलालपे सोमपृष्ठाय वेधसे हृदा मतिं जनये चारुमग्नये॥ ऋ० मण्डले १० सू० ९१ मन्त्र १४॥

अन्वयः—यस्मिन् व्यापिनि परमात्मनि अवसृष्टास उत्पन्नाः सन्तोऽश्वास ऋषभास उक्षणो वशा मेषा आहुता आदत्ताः। येन स्वस्मिन्पश्वादिजगदाधाय स्वस्वकार्य्ये नियोजितम्। अथवा यस्मिन् पश्वादयो जीवा अजीवाश्च प्रलयकाले भक्षिताइव लीना भवन्ति। अथवा तृतीयार्थे सप्तमी येनाश्वादयोऽवसृष्टा मनुष्येभ्य उपकारार्थं दत्ताश्च तस्मै कीलालपे सोमपृष्ठाय वेधसेऽग्नये चारु मतिं हृदाऽहं जनये॥

ऋषभासइत्यनेन मनुष्येषूत्तमानां विद्यावतां ग्रहणमुक्ष्णां पृथगुपदिष्टत्वान्न तत्पर्य्यायवाचका बलीवर्दा गृह्यन्ते वशाइति स्त्रीमात्रस्य ग्रहणं (वशा स्त्री करिणी च स्यादित्यमरः) परमोपयोगित्वं च तस्याः प्रसवभूमित्वात्। "इयंभूमिर्हिभूतानां-शाश्वतीयोनिरुच्यत इति" मनुवचनात्। हुदानादनयोरादाने चेत्येके इत्यर्थत्रयमत्रसमुच्चीयते॥

यदि कश्चिदाशङ्केत यदत्राश्वादिपशूनां होमोत्र (वैदिकी हिंसा हिंसा न भवतीति मत्वा) प्रतिपादनीयः। प्रसिद्धतयाऽन्य-

धिकरणे आहुत शब्देन होमश्रवणादिति नन्न सम्भवति। वेध आदि सचित्तविशेषणविशिष्टत्वाद्भौतिकोऽग्निर्न ग्राह्यः। चेतनेश्वरस्य ग्रहणं च भौतिकाग्नावुत्पादकत्वासम्भवात् । इत्यतः पश्वादिहोमार्थो न सम्भवति। वैदिकी हिंसा च दस्य्वादि हिंसने चरितार्था। अर्थान्यस्मिन्नीश्वरे मनुष्याणां परमोपकारका अश्वदयः स्थिता येन चोत्पादिता मनुष्योपकारार्थं च तत्तत्कार्य्ये नियोजिताः सएवोपास्योऽस्ति ॥

भाषार्थः--(यस्मिन्) जिस व्यापक परमेश्वर में (अश्वासः) घोड़े (ऋषभासः) श्रेष्ठ पुरुष (उक्षणः) बैल (वशाः) सर्व साधारण स्त्री (मेषाः (मेढ़ा भेड़ी आदि (अवसृष्टासः) उत्पन्न हुए (आहुताः) ग्रहण किये अर्थात् जिस ने पशु आदि जगत् को अपने में धारण कर के उन २ के कार्य्यों में नियुक्त किये हैं। अथवा जिस में पशु आदि जीव वा जड़ पदार्थ प्रलय समय में लीन हो कर रहते हैं अथवा जिस ने पशु आदि रचे और मनुष्यों के लिये उपकारार्थ दिये हैं उस (कीलालपे) जीवन के हेतु अन्न के रक्षक (सोमपृष्ठाय) उत्तम शान्त्यादि गुणयुक्त विद्वानों से पूंछने योग्य (वेधसे) सर्वोत्तम बुद्धिमान् (अग्नये) ज्ञानस्वरूप ईश्वर की प्राप्ति के लिये (चारुम्) उत्तम (मतिम्) बुद्धि को मैं (हृदा) हृदय से (जनये) प्रकट करता हूं ॥

भावार्थः--जिस ईश्वर में मनुष्यों के परम उपकारक घोड़े आदि पशु स्थित हैं तथा जिस ने उत्पन्न किये और मनुष्यों के कार्यसिद्ध होने के अर्थ उन २ को अपने २ कार्य में नियुक्त किया है वही ईश्वर उपासना के योग्य है। इस मन्त्र में लोगों को (आहुताः) आदि पद से शङ्का हुई है कि अश्वादि का होम करना अभिप्राय हो सो ठीक नहीं क्योंकि अग्नि शब्द के विशेषण मेधावि आदि हैं और उत्पत्ति कर्त्ता होने से अग्नि शब्द से ईश्वर ही लिया जाता है क्योंकि उत्पत्ति कर्त्ता वही सब का है उसी में प्रलय समय सब अश्वादि का होम हो जाता है और इस मन्त्र में अग्नि शब्द का विशेषण वेधस शब्द पढ़ा है सो भौतिक अग्नि में नहीं घट सकता और "हु" धातु का अर्थ अग्नि में शाकल्य छोड़ना ही है इस में कोई नियामक नहीं है। और वैदिकी हिंसा का भी यह तात्पर्य नहीं है कि पशुओं को मार के अग्नि में होम किया जावे जिसे (वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति। के अनुसार) अहिंसा मान लेवें। किन्तु चोर डाकू अन्य आततायी को राजादि के नियमानुसार मारडालना वैदिकी हिंसा कहाती है। इस कारण इस मन्त्र में पश्वादि के होम की शङ्का नहीं हो सकती॥ भवन्मित्रो-भीमसेन शर्मा

सम्पादक आ० सि०